ओ३म्

स्कृत पठन-पाठन की अनुभूत सरलतम–विधि

द्वितीय भाग

लेखक :-

युधिष्ठिर मीमांसक

॥ ओ३म् ॥

संस्कृत पठन-पाठन की अनुभूत सरलतम-विधि

द्वितीय भाग

लेखक—
युधिष्ठिर मीमांसक

प्रकाशक—
रामलाल कपूर ट्रस्ट,
बहालगढ़, जिला सोनीपत
(हरियाणा) पिन १३१०२१

प्रथम संस्करण सं० २०२७, प्रति १०००
द्वितीय संस्करण सं० २०३३, प्रति १५००
तृतीय संस्करण सं० २०४३, प्रति १०००
चतुर्थ संस्करण सं० २०५२, प्रति ५००
पञ्चम संस्करण सं० २०५५, प्रति १०००

मूल्य : ५०.००

मुद्रक—
नरेन्द्र कुमार कपूर
रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रेस, बहालगढ़
(सोनीपत-हरियाणा)–१३१०२१

विशेष—पृष्ठ ३ से ३४० तक कमाल आफसेट प्रेस, नई सड़क, देहली में छपे, तथा शुरू के ४ पेज व अन्त के ४ पेज रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रेस, बहालगढ़ में छपें।

भूमिका

[प्रथम संस्करण सं० २०२७]

पूज्य आचार्यवर स्व० श्री ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु विरचित 'संस्कृत पठन-पाठन की अनुभूत सरलतम-विधि' पुस्तक संस्कृत भाषा के सुगमता से ज्ञान करने-कराने में बहुत सहायक सिद्ध हुई। इसके कुछ वर्षों में ही चार संस्करण (१२ सहस्र प्रतियां) प्रकाशित हो गये। इस पुस्तक के अन्त में आगे के पढ़ने योग्य विषयों का संक्षिप्त निदर्शन (पृष्ठ २१६—२२७ चतुर्थ सं०) कराया है। उन को भी पुस्तक रूप देने का आग्रह श्री आचार्यवर से पठनार्थी करते रहे, परन्तु वे कार्याधिक्य के कारण उनको पुस्तक रूप में संकलित न कर सके। उनके स्वर्गवास के पश्चात् पठनार्थी जन और संस्कृतप्रेमी राजा श्री गोविन्दलाल बंसीलाल जी (बम्बई) मुझे बराबर प्रेरित करते रहे कि सरलतम-विधि का दूसरा भाग लिख कर प्रकाशित करूं, परन्तु मैं भी ट्रस्ट तथा प्रेस के अत्यधिक कार्यभार के कारण चाहता हुआ भी गत दो वर्षों में इस कार्य को पूरा न कर सका।

सरलतम-विधि से पठन-पाठन—उक्त सरलतम-विधि के माध्यम से कई वर्षों से सिकन्दराबाद (हैदराबाद) में, और गत वर्ष से प्रयाग में तीन-चार मास की कई-कई श्रेणियां चल रही हैं।

प्रधान-शिक्षक—उक्त दोनों स्थानों पर सरलतम-विधि' के माध्यम से संस्कृत भाषा के प्रचार के पुनीत कार्य को **श्री धर्मानन्द जी शास्त्री** (श्री आचार्यवर के शिष्य) बड़ी लगन से कर रहे हैं।

जिज्ञासु सरल संस्कृत प्रचार समिति—उक्त दोनों स्थानों पर इस पुनीत कार्य का सुचारू रूप से संचालन करने के लिये स्थानीय संस्कृत-प्रेमी सज्जनों के सहयोग से श्री नरसिंह जी एम० ए० ने सिकन्दराबाद में और श्री राधेमोहन जी ने प्रयाग में 'जिज्ञासु सरल संस्कृत प्रचार समिति' का गठन किया है, और उसी के तत्त्वावधान में दोनों स्थानों पर संस्कृत प्रचार कार्य हो रहा है।

तेलगु भाषा में अनुवाद—श्री नरसिंह जी ने स्थानीय तेलगु-भाषी पठनार्थियों की सुगमता के लिये गत वर्ष 'सरलतम-विधि' का तेलगु भाषा में अनुवाद और मूल अष्टाध्यायी का तेलगु लिपि में प्रकाशन किया है।

द्वितीय भाग—सरलतम-विधि के द्वितीय भाग की मांग बराबर कई वर्षों से हो रही थी। गतवर्ष प्रयाग में संचालित संस्कृत श्रेणियों के समापन के अवसर पर मुझे

भी निमन्त्रित किया गया था। उस अवसर पर श्री राधेमोहन जी ने द्वितीय भाग शीघ्र प्रकाशित करने का आग्रह किया था। मैंने वहां के संस्कृत पठनार्थियों के उत्साह को देखकर इस कार्य को पूरा करने का वचन भी दे दिया था, परन्तु कार्य-भार के अत्यधिक होने से मैं उक्त कार्य न कर सका। इसी वर्ष अप्रेल ७० में श्री राधेमोहन जी ने मुझे लिखा कि इस वर्ष हम अगली श्रेणी भी चलाना चाहते हैं, उसके लिये दूसरे भाग की शीघ्र आवश्यकता है। मैंने उनके उत्साह और पठनार्थियों के संस्कृताध्ययन की पुनीत इच्छा को ध्यान में रखकर उन्हें वचन दिया कि आप मई में निःसकोच होकर द्वितीय श्रेणी का आरम्भ करें, मैं आप को द्वितीय-भाग छापते हुये बराबर भेजता रहूंगा। इस प्रकार यह वर्षों से रुका कार्य आरम्भ हुआ। मैंने इस की तत्काल व्यवस्था करके प्रथम क्षेप के रूप में मई के आरम्भ में छपे हुये बारह फार्मों को टाइटल लगाकर भेज दिया। तत्पश्चात् इसी प्रकार १०-१० छपे फार्म बराबर पहुंचते रहे और वहां पठन-पाठन अनवच्छिन्न चलता रहा। प्रयाग में द्वितीय श्रेणि में ५०-६० विद्यार्थी इस भाग की सहायता से संस्कृत का अध्ययन कर रहे हैं।

प्रेस का लाभ—ट्रस्ट का प्रकाशन वाराणसी में ज्योतिष प्रकाश प्रेस में छपता था। ट्रस्ट के कार्य का बहालगढ़ (सोनीपत) में स्थानान्तरण होने से ट्रस्ट के प्रकाशनों की व्यवस्था करने के लिये ट्रस्ट ने अपना छोटा सा प्रेस लगभग दो वर्ष पूर्व लगाया है। प्रेस लगाने से जहां ट्रस्ट के प्रकाशन-कार्य में सुविधा हुई, वहां संस्कृत भाषा के प्रचार की मांग को पूरा करने में भी बड़ी सहायता मिली। गत वर्ष अप्रैल के अन्त में जब प्रयाग में संस्कृत-भाषा के प्रचारार्थ श्रेणियां आरम्भ करने का निश्चय हुआ तब श्री राधेमोहन जी ने अन्य पुस्तकों के साथ २०० अष्टाध्यायी मूल की मांग की। पुस्तकों का स्टाक वाराणसी में था और वह कुछ समय पूर्व ही यहां स्थानान्तरित हुआ था। प्रयाग भेजने के लिये जब अष्टाध्यायी की प्रतियां खोजी गई, तो हमें न मिलीं (समाप्त हो चुकी थीं)। तब अष्टाध्यायी मूल १२ दिन में छाप कर तैयार कराई। इसी प्रकार कुछ दिनों के पश्चात् श्री राधेमोहन जी ने लिखा कि हमें धातु-पाठ अजमेर (आर्य साहित्य मण्डल तथा वैदिक पुस्तकालय) से नहीं मिल रहा है, दोनों स्थानों पर धातुपाठ की पुस्तक समाप्त है। उसके बिना पठनार्थियों को बहुत असुविधा हो रही है। पत्र प्राप्त होते ही हमने १५ दिन में धातुपाठ छाप कर (पहले ट्रस्ट से नहीं छपा था) प्रयाग भेज दिया। यदि हमारे पास अपना प्रेस न होता तो हम यह कार्य इतना शीघ्र किसी प्रकार पूर्ण नहीं कर सकते थे।

प्रेस की व्यवस्था—यद्यपि ट्रस्ट का प्रेस छोटा ही है, परन्तु अपने कार्य के लिये यह पूर्ण रूप से सज्जित कर लिया गया है। वैदिक ग्रन्थों के प्रकाशन के लिये छोटे बड़े दो प्रकार के सस्वर टाइप की व्यवस्था भी कर ली गई है। इसके साथ ही

ग्रन्थों के शुद्ध मुद्रण के लिये संशोधन कार्य में अत्यन्त दक्ष श्री पं० महेन्द्र जी शास्त्री की सेवाएं भी हमें गत मास से प्राप्त हो गई हैं। इस से पूर्व प्रकाशनों में मेरे विविध कार्यों में अत्यधिक व्यस्त रहने के कारण मुद्रण दोष रहे हैं, परन्तु अब श्री शास्त्री जी के निरीक्षण में हमारी पुस्तकें शुद्ध और सुन्दर प्रकाशित होंगी।

द्वितीय भाग के प्रकरण—इस भाग में हमने प्रधान रूप से कारक, विभक्ति, समास, कृदन्त, तद्धितान्त, नाम शब्दों और धातुओं की प्रक्रिया दी है। इन की सहायता के लिये प्रथम भाग से अवशिष्ट, संज्ञा-परिभाषाओं तथा लिङ्ग-विधायक सूत्रों का भी सन्निवेश किया है। आत्मनेपद-परस्मैपद-इट्-अनिट्-द्विर्वचन-अभ्यास विकरण आदि प्रकरणों के सूत्र यद्यपि कृत्-नाम-आख्यात प्रकरणों में यथास्थान व्याख्यात होने ही थे, पुनरपि हमने अध्येताओं की सुगमता के लिये अष्टाध्यायी क्रम से इन्हें पृथक् भी संगृहीत कर दिया है, जिससे अनुवृत्ति का बोध सुगमता से होने से ये प्रकरण भले प्रकार उपस्थित हो जावें। इस पुनरावृत्ति से ग्रन्थ यद्यपि बढ़ गया है परन्तु पठनार्थियों को इस से बहुत सुगमता होगी, यह हमारा विश्वास है। ग्रन्थ की वृद्धि के कारण ही 'स्वर-प्रकरण' को देने का विचार स्थगित करना पड़ा।

द्वितीय भाग का मुद्रण—जैसा कि ऊपर लिखा है, सरलतम-विधि का यह दूसरा भाग मैंने विविध कार्यों में अत्यधिक व्यस्त होते हुये लिखा है और छपवाया है। इस कारण इस में कुछ मुद्रण दोष रह गये हैं (जो नहीं रहने चाहिये थे)। उन्हें ग्रन्थ के अन्त में संशोधन पत्र में शुद्ध कर दिया है, हमारी पाठकों से सविनय प्रार्थना है कि वे पढ़ने से पहले संशोधन-पत्रानुसार शोधन करलें, तत्पश्चात् अध्ययन करें।

पाठकों की सुविधा के लिये ग्रन्थ के अन्त में व्याख्यात सूत्रों, परिभाषाओं, लिङ्ग-विधायक सूत्रों, धातुओं और नामों की सूचियां भी दी गई हैं।

ग्रन्थ का प्रकाशन व्यय (कागज़ और मुद्रण सम्बन्धी) इन ३-४ मासों में बहुत बढ़ गया है। उस कारण हमें न चाहते हुये भी इस भाग का मूल्य ५-५० (साढ़े पांच) रुपया रखना पड़ा, संस्कृत भाषा के प्रचार की दृष्टि से ट्रस्ट ने इसे लागत मात्र पर ही प्रकाशित किया है।

आशा है संस्कृत भाषा के प्रचार में यह भाग भी प्रथम ग्रन्थ के समान ही लाभदायक सिद्ध होगा और इसे संस्कृत भाषा के प्रेमी पूर्ववत् ही अपनाएंगे।

जिज्ञासु स्मारक
बहालगढ़ (जि० सोनीपत)

विदुषां वशंवदः—
युधिष्ठिर मीमांसक

द्वितीय संस्करण

सरलतम-विधि के द्वितीय भाग का द्वितीय संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है। प्रथम संस्करण में जो भूलें रह गई थीं, उन्हें हमने इस संस्करण में दूर कर दिया है। कहीं-कहीं आवश्यक परिवर्तन परिवर्धन भी किया है।

सरलतम-विधि से संस्कृत शिक्षण शिविर लगाने के कार्यक्रम में पहले की अपेक्षा पर्याप्त वृद्धि हुई है। उत्तर प्रदेश में 'श्री जिज्ञासु सरल संस्कृत प्रचार समिति' के मन्त्री श्री राधेमोहन जी और पं० धर्मानन्दजी इस कार्य में विशेष रुचि रखते हैं। उनके द्वारा उत्तर प्रदेश में इलाहाबाद, कानपुर, लखनऊ आदि कई स्थानों पर शिविर लगाये जाते हैं। मध्यभारत में भी संस्कृत शिक्षण शिविर कई स्थानों पर लगाये जा रहे हैं। मन्दसोर, उज्जैन, मल्हारगढ़, नारायणगढ़ आदि में शिविरों में प्रशिक्षण का कार्य श्री पं० सोमदेव जी व्याकरणाचार्य कर रहे हैं। अभी फरवरी (१९७६) में अजमेर में भी शिविर लगाया गया।

हैदराबाद में संस्कृत शिक्षण शिविरों के माध्यम से जो कार्य श्री पं० धर्मानन्द जी और उनके भ्राता श्री नरसिंह जी ने ७-८ वर्ष पूर्व आरम्भ किया था, वह अब महाविद्यालय का रूप ग्रहण कर रहा है। इसमें वेद-वेदाङ्गों के अध्यापन की व्यवस्था करने की योजना है।

संस्कृत प्रचार का कार्य समस्त भारतीयों का है। इस कार्य में जितने भी व्यक्ति वा संस्थाएं लगें, उतना अल्प है।

विदुषां वशंवदः—
जिज्ञासु स्मारक—बहालगढ़ (जि० सोनीपत) युधिष्ठिर मीमांसक

तृतीय संस्करण

सरलतम-विधि के द्वितीय भाग का तृतीय संस्करण पाठकों के हाथ में है। संस्कृत पठन-पाठन की इस विधि का प्रचार प्रायः पूरे देश में हुआ है। पाठकों की निरन्तर मांग के कारण हमें यह संस्करण कुछ शीघ्रता में ही प्रकाशित करना पड़ा है।

अनेक कार्यों में (विशेषतः मीमांसा शाबर-भाष्य के अनुवाद और व्याख्या को लिखने तथा प्रकाशित करने में) मेरी व्यस्तता के कारण संभव है कहीं कुछ अशुद्धियां रह गई हों, वैसे हमारे सहयोगियों ने पूरी तत्परता से ग्रन्थ को शुद्ध एवं सुन्दर रूप में प्रकाशित करने का प्रयास किया है। अब इस के निर्णायक तो पाठक ही हैं कि ग्रन्थ वस्तुतः कैसा छपा है।

आशा है, कृपालु पाठक ग्रन्थ की अशुद्धियों (यदि कहीं हों) से हमें अवगत करायेंगे और ग्रन्थ के प्रचार में पूर्ववत् योगदान देंगे।

विदुषां वशंवदः—
जिज्ञासु स्मारक—बहालगढ़ (जि० सोनीपत) युधिष्ठिर मीमांसक

विषय-सूची

ओ३म्

संस्कृत पठन-पाठन की अनुभूत सरलतम-विधि

द्वितीय भाग

प्रथम प्रकरण

अवशिष्ट संज्ञा-परिभाषाएं

सरलतमविधि के प्रथम भाग के पाठ अठारह और उन्नीस में ७१ संज्ञाओं का, तथा पाठ बीस और इक्कीस में ३४ प्रमुख परिभाषाओं का वर्णन किया जा चुका है। इस द्वितीय भाग का पाठ आरम्भ करने से पूर्व उक्त १८-१९-२०-२१ पाठों की पुनरावृत्ति कर लेनी चाहिये। इस पाठ में हम पूर्व भाग में निर्दिष्ट संज्ञा-परिभाषाओं के अतिरिक्त उन कतिपय संज्ञा-परिभाषाओं का वर्णन करेंगे, जिनकी इस भाग में आवश्यकता होगी। सब से प्रथम हम प्रत्याहार सूत्रों का उल्लेख करते हैं—

प्रत्याहार-सूत्र

१. अ इ उ ण्—अण् (१)।
२. ऋ लृ क्—अक्, इक्, उक् (३)।
३. ए ओ ङ्—एङ् (१)।
४. ऐ औ च्—अच्, इच्, एच्, ऐच् (४)।
५. ह य व र ट्—अट् (१)।
६. ल ण्—अण्, इण्, यण् (३)।
७. ञ म ङ ण न म्—अम्, यम्, ङम् (३)।
८. झ भ ञ्—यञ् (१)।

९. घ ढ ध ष्—झष्, भष् (२)।
१०. ज ब ग ड द श्—अश्, हश्, वश्, झश्, जश्, बश् (६)।
११. ख फ छ ठ थ च ट त व्—छव् (१)।
१२. क प य्—यय्, मय्, झय्, खय् (४)।
१३. श ष स र्—यर्, झर्, खर्, चर्, शर् (५)।
१४. हल्—अल्, हल्, वल्, रल्, झल्, शल् (६)।

अष्टाध्यायी में प्रयुक्त होनेवाले उक्त ४१ प्रत्याहार हैं।

प्रत्याहार-संज्ञा—प्रत्याहार (=प्रति+आ+हार्) शब्द का अर्थ है—'संक्षेप करना'[1]।

लौकिक-प्रत्याहार—लोक में भी नाम (संज्ञा) शब्दों के संक्षेपीकरण की रीति प्रचलित है, परन्तु लोक में संक्षेपीकरण दो शब्दों के आदि अक्षरों को मिलाकर होता है। यथा—शुक्ल दिन[2]=शुदि (=सुदि), यह प्रत्येक मास के शुक्ल पक्ष का द्योतक संक्षिप्त शब्द है। बहुल दिन=बदि, बहुल =कृष्णवर्ण (द्र०—मेदिनीकोश- ल— ११८) दिन, यह प्रत्येक मास के कृष्ण पक्ष का द्योतक संक्षिप्त शब्द है।

व्यक्तियों के नामों में अंग्रेजी पढ़े-लिखे व्यक्ति भी जो आद्यक्षरों का प्रयोग करते हैं, वह भी उक्त नियम के अनुसार ही है। यथा—रामचन्द्र= आर० सी०, विष्णुदत्त=वी० डी०।

शास्त्रकारों का मत—सभी शास्त्रकारों का यह मत है, कि वे अपने शास्त्रों में प्रायः करके लोक-व्यवहार का अनुसरण करते हैं, परन्तु जहां उन्हें लोक-व्यवहार से भिन्न कार्य करना होता है, वहां वे अपने-अपने शास्त्रों के विशेष नियमों का उल्लेख करते हैं। आचार्य पाणिनि के शास्त्र में भी यही व्यवहार मिलता है। महाभाष्यकार पतञ्जलि सामान्यरूप से कहते हैं—**यथा लोके तथा व्याकरणे**। परन्तु जहां विशेष कार्य अभिप्रेत होता है, वहां अपने विशेष शास्त्रीय नियमों का उल्लेख किया जाता है।

---

१. योग के आठ अङ्गों में एक अङ्ग 'प्रत्याहार' भी है। उसका भाव भी विषयों में फैली हुई चित्त की वृत्तियों को हटाकर एक स्थान पर केन्द्रित करना है।

२. दिन अथवा दिवस शब्द ६० घड़ी=२४ घण्टे के दिन रात का वाचक है। अतः यहां 'शुदि' से वे दिन जिन में रात में चन्द्रमा का प्रकाश होता है, और 'वदि' से वे दिन जिन में रात अन्धेरी होती है, का ग्रहण होता है।

इसी नियम के अनुसार पाणिनि ने लौकिक प्रत्याहार के नियम के स्थान पर स्वशास्त्र में इष्ट निम्न प्रत्याहार नियम बनाया है—

'आदिरन्त्येन सहेता' (१।१।७०)। पदच्छेद—आदिः, अन्त्येन, सह, इता। इस सूत्र में पूर्व सूत्र स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा (१।१।६७) से स्वं रूपं शब्दस्य पदों की अनुवृत्ति आती है। तब अर्थ इस प्रकार होगा—

आदिः पूर्व का अक्षर अन्त्येन सूत्र के अन्त में पढ़े गये इता इत्संज्ञक (हलन्त) अक्षर के साथ मिलकर प्रत्याहार बनाता है। उस प्रत्याहार से आदि के स्वं रूपं अपने रूप का, तथा आदि और अन्त्य अक्षर मध्य में पढ़े हुये अक्षरों का ग्रहण होता है। यथा अ इ उ ण् का आदि अ अक्षर अन्त्य ण् के साथ मिल कर अण् प्रत्याहार बनता है। इस अण् प्रत्याहार से अ इ उ तीनों का ग्रहण होता है। इसी प्रकार सर्वत्र समझें।

विशेष—(१) आदि पद से प्रत्याहार सूत्र का आदि अक्षर ही नहीं समझना चाहिये, अपितु अन्त्य इत्संज्ञक (हलन्त) अक्षर से पूर्व का कोई भी अक्षर लिया जा सकता है। यथा—ङम् में म् से पूर्ववर्ती ङ ७वें सूत्र का तीसरा अक्षर है।

(२) यह आवश्यक नहीं कि इत्संज्ञक अन्त्य वर्ण से पूर्व का वर्ण उसी सूत्र का कोई वर्ण हो, पूर्व के सूत्रों का भी कोई वर्ण लिया जा सकता है। यथा—अट् प्रत्याहार के अन्त्य ट् से पूर्ववर्ती अकार प्रथम सूत्र का अक्षर है।

(३) सूत्रों के अन्त्य के इत्संज्ञक वर्ण प्रत्याहार के ग्रहण से गृहीत नहीं होते। यथा अट् में पूर्व सूत्रों के अन्त्य इत्संज्ञक अक्षर ण् क् ङ् च् का ग्रहण नहीं होता।

(४) पाणिनीय अष्टाध्यायी में जितने प्रत्याहारों की आवश्यकता होती है, उतने ही प्रत्याहारों का निर्देश ऊपर सूत्र के साथ किया गया है। इस प्रकार अष्टाध्यायी में ४१ प्रत्याहारों की आवश्यकता होती है।

अब हम प्रथम भाग में बताये गये संज्ञा और परिभाषा सूत्रों के अतिरिक्त कुछ नये संज्ञा-परिभाषा विषयक सूत्र लिखते हैं—

१. प्रगृह्य संज्ञा—प्रगृह्य संज्ञा विधायक ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्

(१।१।११) के अर्थ उदाहरण प्रथम भाग (पृष्ठ ८५[1]) में बता चुके। अब इसी संज्ञा के अन्य सूत्र पढ़िये—

अदसो मात् (१।१।१२)—अदसः ६।१, मात् ५।१॥ ऊपर से ईदूदेद् प्रगृह्यम् पदों की अनुवृत्ति आ रही है। अर्थ—अदस् के मकार से परे जो ईकार ऊकार एकार हैं, उनकी प्रगृह्य संज्ञा होती है। जैसे—**अमी** (प्र० बहुवचन) **अत्र, अमू** (प्र० द्वि० द्विवचन) **अत्र**। यहां प्रगृह्य संज्ञा होने से सन्धि नहीं होती[2]।

निपात एकाजनाङ् (१।१।१४)—निपातः १।१, एकाच् १।१, अनाङ् १।१॥ अनुवृत्ति—**प्रगृह्यम्**। एकश्चासौ अच्=एकाच्=एक ही जो अच्। न आङ्=अनाङ्=आङ् को छोड़ कर। अर्थ—आङ् को छोड़कर जो एक अच् रूप निपात हैं, उनकी प्रगृह्य संज्ञा होती हैं। जैसे—इ इन्द्र पश्य, उ उत्तिष्ठ। इ उ आदि की निपात संज्ञा **चादयोऽसत्त्वे**[3] (१।४।५७) सूत्र से होती है।

ओत् (१।१।१५)—ओत् १।१॥ अनु०—**प्रगृह्यम्, निपातः**। ओकारान्त निपात की प्रगृह्य संज्ञा होती है। जैसे—आहो इति, उताहो इति। इनकी भी '**चादयोऽसत्त्वे**' (१।४।५७) से निपात संज्ञा होती है। सूत्र में ओत् शब्द है। उसका **ओदन्त** अथवा ओकारान्त अर्थ **येन विधिस्तदन्तस्य**[4] (१।१।७१) सूत्र के नियम से होता है।

२. **अव्यय संज्ञा**—अव्यय संज्ञा विधायक **स्वरादिनिपातमव्ययम्** (१।१।३६) सूत्र का अर्थ उदाहरण प्रथम भाग (पृ० ८६) में बता चुके। अब इस संज्ञा के अन्य सूत्र पढ़िये—

तद्धितश्चासर्वविभक्तिः (१।१।३७)—तद्धितः १।१, च अ०, असर्वविभक्तिः १।१॥ अनु०—**अव्ययम्**। न सर्वा विभक्तयो यस्मात् सोऽसर्वविभक्तिः=जिससे सब विभक्तियां नहीं उत्पन्न होतीं, वह तद्धित प्रत्ययान्त अव्यय संज्ञक होता है। जैसे—यतः, ततः, यत्र, तत्र। यतः ततः में

१. द्वितीय भाग के प्रस्तुत द्वितीय संस्करण में दी गई पृष्ठ संख्या प्रथम भाग के पांचवें संस्करण (संवत् २०३० में मुद्रित) की है। जिनके पास यह संस्करण नहीं है, वे प्रथम भाग के अन्त में मुद्रित सूत्रसूची से अभीष्ट सूत्र निकाल कर देख सकते हैं। आगे भी जहां-जहां प्रथम भाग की पृष्ठसंख्या दी है, वहां-वहां इसी प्रकार समझें।

२. द्र०—प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्। ६।१।१२१॥ भाग १, पृष्ठ १०८॥

३. व्याख्या—भाग १, पृष्ठ ९०। ४. व्याख्या—भाग १, पृष्ठ १००।

पञ्चम्यास्तसिल् (५।३।७) सूत्र से किम् सर्वनाम आदि पञ्चम्यन्त प्रातिपदिकों से स्वार्थ में 'तसिल्' प्रत्यय होता है। यत्र तत्र में सप्तम्यास्त्रल् (५।३।१०) सूत्र से सप्तम्यन्त से स्वार्थ में 'त्रल्' प्रत्यय होता है। पञ्चम्यन्त से स्वार्थ में तसिल् प्रत्यय होने से पञ्चमी विभक्ति का अपादान अर्थ ही मुख्य रहता है। इसलिये तसिल् प्रत्ययान्त की प्रातिपदिक संज्ञा[1] होने पर यतः ततः शब्दों से केवल पञ्चमी विभक्ति ही उत्पन्न होती है, अन्य कोई विभक्ति उत्पन्न नहीं होती। इसी प्रकार सप्तम्यन्त से स्वार्थ में त्रल् प्रत्यय होने के कारण उसमें सप्तमी का अधिकरण अर्थ ही प्रधान रहता है, इसलिये त्रल् प्रत्ययान्त की प्रातिपदिक संज्ञा होने पर यत्र तत्र शब्दों से सप्तमी विभक्ति ही उत्पन्न होती, अन्य नहीं। इस प्रकार इन शब्दों से अन्य विभक्तियां उत्पन्न न होने से ये तद्धित-प्रत्ययान्त शब्द असर्वविभक्ति वाले होते हैं। इनकी अव्यय संज्ञा होने से पुनः उत्पन्न हुई पञ्चमी और सप्तमी विभक्ति का अव्ययादाप्सुपः (२।४।८२) सूत्र से लोप हो जाता है।

कृन्मेजन्तः (१।१।३८)—कृत् १।१; मेजन्तः १।१॥ अनुवृत्ति—अव्ययम्। मश्च एच्च मेचौ, मेचौ अन्ते यस्य स मेजन्तः=मकार और एच् (=ए ओ ऐ औ) जिसके अन्त में हैं, ऐसा कृत् प्रत्ययान्त शब्द अव्यय संज्ञक होता है। जैसे—स्वादुंकारं भुङ्क्ते (कारम्=कृ+णमुल्=कृ+अम=कार्+अम्=कारम्[2]); जीवसे (जीव्+असे=जीवसे[3]); उपाचरध्यै (उप+आ+चर्+अध्यै=उपाचरध्यै[3])।

क्त्वातोसुन्कसुनः (१।१।३९)—क्त्वातोसुन्कसुनः १।३॥ अनु०—अव्ययम्, कृत्। क्त्वा तोसुन् कसुन् कृत्प्रत्ययान्त शब्दों की अव्यय संज्ञा होती है। जैसे कृत्वा भुक्त्वा[4], अभिचरितोः (=अभि+चर्+इट्+तोसुन्=अभिचर इ तोस्=अभिचरितोः[5]), विसृपः (=वि+सृप्+कसुन्=विसृप् अस्=विसृपः[6])।

अव्ययीभावश्च (१।१।४०)—अव्ययीभावः १।१; च अ०। अनु०—अव्ययम्। अव्ययीभाव (समास) की अव्यय संज्ञा होती है। अव्ययीभाव समास का वर्णन 'समास प्रकरण' में होगा। अव्ययीभाव की अव्यय संज्ञा होने से सुप् का लुक् तथा जो अन्य काम होते हैं, उनका निर्देश समास-प्रकरण में करेंगे।

---

१. तद्धितप्रत्ययान्त की 'कृत्तद्धितसमासाश्च' (१।२।४६) सूत्र से प्रातिपदिक संज्ञा होती है। द्र०—भाग १, पृष्ठ ८८। २. स्वादुमि णमुल् ।३।४।२६॥

३. तुमर्थे सेसेनसेऽसेन्०।३।४।९॥ ४. समानकर्तृकयोः पूर्वकाले ।३।४।२१॥

५. भावलक्षणे स्थेण्कृञ्वदिचरि० ।३।४।१६॥ ६. सृपितृदोः कसुन् ।३।४।१७॥

३. इत् संज्ञा—इत्संज्ञाविधायक प्रथम सूत्र उपदेशेऽजनुनासिक इत् (१।३।२) का निर्देश प्रथम भाग (पृष्ठ ८८) पर किया जा चुका है। अब उससे अतिरिक्त इत् संज्ञक सूत्र लिखे जाते हैं—

हलन्त्यम् (१।३।३)—हल् १।१, अन्त्यम् १।१॥ अनु०—उपदेशे, इत्। उपदेश के अन्त में वर्तमान हल् वर्णों की इत् संज्ञा होती है। 'उपदेश' शब्द से वर्णोपदेशक प्रत्याहार सूत्र, धातु, प्रत्यय, आगम, आदेश आदि लिये जाते हैं (द्र०—भाग १, पृष्ठ ८८)। यथा—'अ इ उ ण्' का णकार, 'डुकृञ् करणे' धातु का ञकार, 'तव्यत्' प्रत्यय का तकार। ऐसे ही सर्वत्र आगम आदेशादि में (जिन का वर्णन आगे होगा) अन्तिम हल् की इत्संज्ञा होती है। इत्संज्ञा का फल लोप=अदर्शन होता है। यह इसी प्रकरण के अन्त में (सूत्र १।३।९ में) बताया जायेगा।

न विभक्तौ तुस्माः (१।३।४)—न अ०, विभक्तौ ७।१, तुस्माः १।३॥ अनु०—उपदेशे इत् हल् अन्त्यम्। उपदेश में विभक्तिसंज्ञक प्रत्ययों के अन्त में वर्तमान तु=तवर्ग (त् थ् द् ध् न्) स् और म् की इत् संज्ञा नहीं होती। **विभक्तिश्च** (१।४।१०३) सूत्र से सुप् और तिङ् प्रत्ययों की विभक्ति संज्ञा होती है, यह भाग १ पृष्ठ ९० पर बताया जा चुका है। जैसे—पुरुषात्, यहां पञ्चमी के एकवचन 'ङसि' के स्थान पर होनेवाले 'आत्' (विभक्ति के स्थान पर होने से 'आत्' भी स्थानिवद्भाव से विभक्ति है। द्र०—भाग १, पृष्ठ ११०) के तकार की इत्संज्ञा का निषेध हो जाने से लोप नहीं होता। पुरुषाः यहां 'जस्' (१।३) के सकार; पुरुषम्, यहां 'अम्' (२।१) के मकार की इत्संज्ञा नहीं होती। इस कारण इनका लोप भी नहीं होता।

आदिर्ञिटुडवः (१।३।५)—आदिः १।१, ञिटुडवः १।३॥ अनु०—उपदेशे इत्। उपदेश में आदि (आरम्भ में पढ़े गये) ञि टु डु की इत् संज्ञा होती है। जैसे—ञिमिदा स्नेहने, टुओश्वि गतिवृद्ध्योः, डुकृञ् करणे, धातुओं के आरम्भ में पठित ञि टु डु की इत्संज्ञा होने से लोप हो जाता है।

षः प्रत्ययस्य (१।३।६)—षः १।१, प्रत्ययस्य ६।१॥ अनु०—उपदेशे इत् आदिः। उपदेश में प्रत्यय के आदि में वर्तमान षकार की इत्संज्ञा होती है। जैसे—खनकः (=खन्+ष्वुन्[1]=खन्+वु=खन्+अक[2]=खनकः), नर्तकः (=नृत्+ष्वुन्=नृत्+वु=नर्त्+अक=नर्तकः)।

---

१. शिल्पिनि ष्वुन् ।३।१।१४५॥ २. युवोरनाकौ ।७।१।१॥

चुटू (१।३।७)—चुटू १।२। अनु०—उपदेशे इत् आदिः प्रत्ययस्य। उपदेश में प्रत्यय के आदि में वर्तमान चु=चवर्ग=च छ ज झ ञ, टु=टवर्ग=ट ठ ड ढ ण की इत्संज्ञा होती है। जैसे—चवर्ग—कौञ्जायनः (=कुञ्ज+च्फञ्[1]=कुञ्ज+फ=कुञ्ज+आयन्[2]=कौञ्ज+आयन=कौञ्जायनः), छ को ईय आदेश का विधान ७।१।२ से करेंगे, अतः छ की इत् संज्ञा नहीं होती, ब्राह्मणः (=ब्राह्मण+जस्=ब्राह्मण+अस्=ब्राह्मणाः), झ को अन्तादेश का विधान ७।१।३ से करेंगे, अतः झ की इत्संज्ञा नहीं होती, शाण्डिक्यः (=शण्डिक+ञ्य[3]=शण्डिक+य=शण्डिक्+य=शाण्डिक्+य=शाण्डिक्यः। टवर्ग—कुरुचरः (=कुरुषु चरति=कुरु चर्+ट[4]=कुरु चर्+अ=कुरुचरः), ठ को इक आदेश का विधान ७।३।५० से करेंगे, पङ्कजः (=पङ्के जातः=पङ्क+जन्+ड[5]=पङ्क+ज्+अ=पङ्कजः), ढ को एय आदेश का विधान ७।१।२ से करेंगे, आन्नः (=अन्न+ण[6]=अन्न+अ=आन्न्+अ=आन्नः)।

लशक्वतद्धिते (१।३।८)—लशकु १।१, अतद्धिते ७।१॥ अनु०—उपदेशे इत् आदिः प्रत्ययस्य। उपदेश में प्रत्यय के आदि में वर्तमान ल श कु=कवर्ग=क ख ग घ ङ की इत् संज्ञा होती है, तद्धितसंज्ञक प्रत्ययों में नहीं होती। चयनम् (=चि+ल्युट्[7]=चि+यु=चि+अन[8]=चे+अन=चयनम्), भुक्तः, भुक्तवान् (=भुज्+क्त[9]=भुज्+त=भुक्+त=भुक्तः, भुज्+क्तवतु[9]=भुज्+तवत्=भुक्+तवत्=भुक्तवान्), प्रियंवदः (=प्रियं वदतीति=प्रिय वद्+खच्[10]=प्रिय वद्+अ=प्रियं[11] वद्+अ=प्रियंवदः), जिष्णुः (=जि+ग्स्नु[12]=जि+स्नु=जिष्णुः), भङ्गुरम् (=भञ्ज्+घुरच्[13]=भञ्ज्+उर=भङ्गुरः), वृक्षाय (=वृक्ष+ङे=[14]वृक्ष+ए=वृक्ष+य[15]=वृक्षा[16]+य=वृक्षाय)।

---

१. कुञ्जादिभ्यश्च्फञ् ।४।१।९८॥
२. आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम् (७।१।२) से फ को आयन।
३. शण्डिकादिभ्यो ञ्यः ।४।३।९२॥ ४. चरेष्टः ।३।२।१६॥
५. सप्तम्यां जनेर्डः ।३।२।९७॥ ६. अन्नाण्णः ।४।४।८५॥
७. ल्युट् च ।३।३।११५॥ ८. युवोरनाकौ ।७।१।१॥
९. निष्ठा ।३।२।१०२॥ क्तक्तवतू निष्ठा ।१।१।२५॥
१०. प्रियवशे वदः खच् ।३।२।३८॥ ११. अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम् ।६।३।६६॥
१२. ग्लाजिस्थश्च ग्स्नुः ।३।२।१३९॥ १३. भञ्जभासमिदो घुरच् ।३।२।१६१॥
१४. स्वौजसमौट्० ।४।१।२॥ १५. ङेर्यः ७।१।१३॥ १६. सुपि च ।७।३।१०२॥

तस्य लोपः (१।३।९)—तस्य ६।१, लोपः १।१॥ अनु०—इत्। उस इत्संज्ञक का लोप होता है। जिस वर्ण की इत्संज्ञा ऊपर के सूत्रों से की है, उस वर्ण का लोप=अदर्शन हो जाता है। ऊपर निर्दिष्ट उदाहरणों में इत्संज्ञक का लोप करके रूप दर्शाया है।

४—नदी संज्ञा प्रकरण में यू स्त्र्याख्यौ नदी (१।४।३) सूत्र पहले भाग (पृष्ठ ८६) में देखिये।

ङिति ह्रस्वश्च (१।४।६)—ङिति ७।१, ह्रस्वः १।१, च अ०॥ अनु०—यू स्त्र्याख्यौ नदी वा। ह्रस्व-इकारान्त उकारान्त स्त्री अर्थ को कहनेवाले शब्दों को ङित् (ङे, ङसि, ङस्, ङि) प्रत्यय परे रहते विकल्प से नदी-संज्ञा होती है। जब नदी-संज्ञा नहीं होती तब पक्ष में शेषो घ्यसखि (१।४।७) सूत्र से घि संज्ञा होती है।

५. घि संज्ञा प्रकरण में शेषो घ्यसखि (१।४।७) सूत्र पहले भाग (पृष्ठ ६६) में देखिये।

पतिः समास एव (१।४।८)—पतिः १।१, समासे ७।१, एव अ०॥ अनु०—घि। पति शब्द की समास में ही घि संज्ञा होती है। जैसे—प्रजापतये, प्रजापतेः।

षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा (१।४।९)—षष्ठीयुक्तः १।१, छन्दसि ७।१, वा अ०॥ अनु०—घि, पतिः। छन्द=वेद में षष्ठ्यन्त शब्द से युक्त पति शब्द की विकल्प से घि संज्ञा होती है। जैसे—कुलुञ्चानां पतये नमः, कुलुञ्चानां पत्ये नमः।

५. पद संज्ञा-प्रकरण में सुप्तिङन्तं पदम् (१।४।१४) सूत्र पहले भाग (पृष्ठ ५१, ८६) में देखिये।

नः क्ये (१।४।१५)—नः ६।१, क्ये ७।१॥ अनु०—पदम्। अर्थ—नकारान्त शब्द की क्य प्रत्यय परे पद संज्ञा होती है। जैसे—राजीयति (=राजन्+क्यच्=राजन्+य=राज+य=राजी+य+अति=राजीयति) यहां सुप आत्मनः क्यच् (अ० ३।१।८) से क्यच् प्रत्यय होने पर पद संज्ञा होने से न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य (अ० ८।२।७) से न् का लोप हो जाता है।

६. कारक संज्ञा—अपादान सम्प्रदान करण अधिकरण कर्म कर्ता (हेतु) संज्ञाओं का विधान पूर्व भाग पाठ १५-१६ में कर चुके हैं। इस

भाग में भी द्वितीय प्रकरण में 'कारक-विभक्ति' प्रकरण विस्तार से लिखेंगे, वहां देखें।

७. **निपात संज्ञा**—**प्राग् रीश्वरान्निपाताः** (१।४।५६)—प्राक् १।१, रीश्वरात् ५।१, निपाताः १।३॥ यहां से लेकर **अधिरीश्वरे** (१।४।९६) में 'रीश्वर' शब्द से पूर्व तक निपात संज्ञा होती है।

८,९. **उपसर्ग, गति संज्ञा**—निपात-संज्ञा के अन्तर्गत ही उपसर्ग (१।४।५८) और गति (१।४।५९) संज्ञा भी प्रादि की होती है। तथा गति की अनुवृत्ति होने से (१।४।६०) से (१।४।७८) तक निपात और गति दोनों संज्ञाएं होती हैं। **कर्मप्रवचनीयाः** (१।४।८२) से कर्मप्रवचनीय संज्ञा का प्रकरण होने से **अधिरीश्वरे** (१।४।९६) तक निपात और कर्मप्रवचनीय दोनों संज्ञाएं होती हैं।

गति और उपसर्ग संज्ञा जिसकी होती हैं, उसका **ते प्राग् धातोः** (१।४।७९) से धातु से अव्यवहित पूर्व प्रयोग होता है। जैसे—संभवति, समभवत्। परन्तु वेद में—

छन्दसि परेऽपि (१।४।८०) **व्यवहिताश्च** (१।४।८१)। के नियमों से गति और उपसर्ग-संज्ञक पदों का धातु से परे और व्यवधान में भी प्रयोग होता है। जैसे—याति नि हस्तिना (याति से नि का पर प्रयोग है)। आ मन्द्रै रिन्द्र हरिभिर्याहि (यहां आ याहि के मध्य में मन्द्रैः इन्द्र हरिभिः तीन पद प्रयुक्त हैं)।

१०. **कर्मप्रवचनीय संज्ञा**—निपात संज्ञा के अन्तर्गत ही सूत्र १।४।८२ से १।४।९६ तक कर्मप्रवचनीय संज्ञा का प्रकरण है। उसके कुछ प्रमुख सूत्र इस प्रकार हैं—

कर्मप्रवचनीयाः (१।४।८२)—कर्मप्रवचनीयाः १।३॥ यह अधिकार सूत्र है। इसका अधिकार १।४।९६ तक है।

अनुर्लक्षणे (१।४।८३)—अनुः १।१, लक्षणे ७।१॥ अनु०—**कर्मप्रवचनीयाः**। अर्थः—लक्षण अर्थ में वर्तमान 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। जैसे—शाकल्यस्य संहितामनु देवः प्रावर्षत्। शाकल्य की संहिता (ऋक्शाखा) को लक्षित करके देव = मेघ बरसा, अर्थात् शाकल्य संहिता का पाठ होते ही वर्षा हुई।

अपपरी वर्जने (१।४।८७)—अपपरी १।२, वर्जने ७।१॥ अनु०—**कर्मप्रवचनीयाः**। अर्थ—वर्जन = छोड़ने अर्थ में 'अप' और 'परि' की कर्म-

प्रवचनीय संज्ञा होती है। जैसे—अप त्रिगर्ताद् वृष्टो देवः, परि त्रिगर्ताद् वृष्टो देवः। त्रिगर्त (=सतलुज-व्यास-रावी नदियों की घाटियों) को छोड़ कर मेघ बरसा।

आङ् मर्यादावचने (१।४।८९)—आङ् १।१, मर्यादावचने ७।१॥ अनु०—**कर्मप्रवचनीयाः**। वचन ग्रहण से यहां अभिविधि का भी ग्रहण होता है। अर्थ—मर्यादा और अभिविधि अर्थ में 'आङ्' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होती है।

मर्यादा=सीमा को कहते हैं। परन्तु जहां मर्यादा बतानी होती है, वहां का मर्यादा-द्योतक ग्राम नगर आदि को उस क्रिया में ग्रहण नहीं होता। जैसे—आ पाटलिपुत्राद् वृष्टो देवः; अर्थात् पटना तक मेघ बरसा, पटना में नहीं बरसा, यह अभिप्राय द्योतित होता है। **अभिविधि** में मर्यादा-द्योतक का भी ग्रहण हो जाता है। जैसे—आ पाटलिपुत्राद् वृष्टो देवः, अर्थात् पटना तक मेघ बरसा; अर्थात् पटना में भी बरसा। यही मर्यादा और अभिविधि में थोड़ासा अन्तर है।

प्रतिः प्रतिनिधिप्रतिदानयोः (१।४।९१)—प्रतिः १।१, प्रतिनिधि-प्रतिदानयोः ७।२॥ अनु०—**कर्मप्रवचनीयाः**। **अर्थ** प्रतिनिधि (मुख्य के समान) और प्रतिदान (=बदलना) अर्थ में वर्तमान प्रति की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। जैसे—अभिमन्युरर्जुनतः प्रति (=अभिमन्यु अर्जुन का प्रतिनिधि=तत्समान है), तिलेभ्यो माषान् अस्मै प्रति यच्छति (=तिलों के इसको उड़द देता है)।

अधिरीश्वरे (१।४।९६)—अधिः १।१, ईश्वरे ७।१॥ अनु०—**कर्मप्रवचनीयाः**। अर्थ ईश्वर=स्वामी अर्थ में अधि की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। जैसे—अधि ब्रह्मदत्ते पञ्चालाः (ब्रह्मदत्त के अधीन पञ्चाल देश हैं, अर्थात् ब्रह्मदत्त पञ्चालों का राजा है।

समास प्रकरण—

११. **प्राक् कडारात् समासः** (२।१।३) से कडार २।२।३८ शब्द से पूर्व तक **समास** संज्ञा का अधिकार है।

१२. **अव्ययीभावः** (२।१।५) से २।१।२० तक विहित समास की अव्ययीभाव संज्ञा होती है।

१३. **तत्पुरुषः** (२।१।२१) से २।२।२२ तक विहित समास की तत्पुरुष संज्ञा होती है।

१४. द्विगुसंज्ञा—तत्पुरुष के अन्तर्गत ही संख्यापूर्वो द्विगुः (२।१।५१) से संख्या पूर्वपदवाले तद्धितार्थ-उत्तरपद और समाहार में विहित समास की द्विगु संज्ञा होती है।

१५. बहुव्रीहि संज्ञा—शेषो बहुव्रीहिः (२।२।२३) से, २।२।२८ तक विहित समास की बहुव्रीहि संज्ञा होती है।

१६. द्वन्द्व संज्ञा—चार्थे द्वन्द्वः (२।२।२९) से च के अर्थ में विहित समास की द्वन्द्व संज्ञा होती है।

परिभाषा प्रकरण

परिभाषा-प्रकरण के प्रायः सभी प्रमुख सूत्र प्रथम भाग के २०वें २१वें पाठ में लिखे जा चुके हैं। उनका पुनः अनुशीलन यहां कर लेना चाहिये। व्याकरण-शास्त्र में पाणिनीय सूत्रों के अतिरिक्त भी कुछ परिभाषाएं=नियम विधायक प्राचीन वचन कार्य में आते हैं। उनमें से अत्यन्त उपयोगी कुछ वचन यहां लिखते हैं—

१. **व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्**—सूत्र का विशेष अभिप्राय व्याख्यान के द्वारा हो जाना जाता है। सन्देहमात्र से सूत्र को अलक्षण=लक्षणरहित=अशुद्ध नहीं मान लेना चाहिये। जैसे—अण् प्रत्याहार अ इ उ ण् के और ल ण् दोनों सूत्रों के णकार से बनता है। अतः सन्देह होता है कि किस सूत्र में पठित अण् प्रत्याहार किस णकार से माना जाये। इस सन्देह की निवृत्ति व्याख्याकार करते हैं कि अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः (१।१।६८) में पठित अण् लण् सूत्र के णकार से समझना चाहिये; और अन्यत्र सब जगह अइउण् के णकारवाला।

२. **अनेकान्ता अनुबन्धाः**—अनुबन्ध इत्संज्ञक वर्ण जिस धातु वा प्रत्यय आदि के साथ पढ़े गये हैं, उनका वह अंश=अवयव नहीं होता। अवयव न मान कर ही **अनेकाल्शित् सर्वस्य** (१।१।५४) सूत्र में शित् ग्रहण सूत्रकार ने किया है। यदि इत्संज्ञक वर्ण उसका, जिसके साथ पढ़ा गया है, अवयव होता तो **इदम इश्** (५।३।३) में इ श् दो अल् (=अनेकाल्=एक से अधिक) होने से इदम् को सर्वादेश हो ही जाता, पुनः सूत्र में शित् पद का ग्रहण करना बताता है कि इत्संज्ञक किसी के अवयव नहीं होते।

३. **नानुबन्धकृतमसारूप्यम्**—अनुबन्धों=इत्संज्ञक वर्णों के द्वारा

प्रकट होनेवाली असारूप्य (=भिन्नता), असरूपता नहीं मानी जाती। पाणिनि का सूत्र है—**वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्** (३।१।९४), अर्थात् स्त्रियाम् (३।३।९४) अधिकार को छोड़कर धातु से होनेवाले असरूप=भिन्न रूप-वाले प्रत्यय विकल्प करके होते हैं। जैसे—**तव्यत्तव्यानीयरः** (३।१।९६), **ण्वुल्तृचौ** (३।१।१३३)। इनमें तव्य और अनीयर् तथा ण्वुल् और तृच् परस्पर भिन्न रूपवाले होने से विकल्प से होते हैं, अर्थात् दोनों प्रत्यय हो जाते हैं। यथा—कर्त्तव्यम्, करणीयम्; कर्ता, कारकः। इसी प्रकार **कर्मण्यण्** (३।२।१) और **आतोऽनुपसर्गे कः** (३।२।३) सूत्रों से अण् तथा क प्रत्यय कहे हैं। ये भी भिन्न रूपवाले होने से विकल्प से हो जाने चाहियें, परन्तु विकल्प इष्ट नहीं है। इसलिये उक्त परिभाषा ने कहा कि अनुबन्धों के कारण असरूपता मत समझो। अण् के ण् को और क के क् को हटाने पर दोनों का अ समान रूप ही बचता है। इसलिये क प्रत्यय अण् का नित्य बाधक होगा।

४. **प्रत्ययग्रहणे यस्मात् स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य ग्रहणं भवति**—जहां प्रत्यय का ग्रहण (=निर्देश) करके कोई विधि कही है, वहां वह प्रत्यय जिससे विहित किया गया है, उस तदादि और तदन्त समुदाय का ग्रहण कराता है। यथा—**क्त्रेर्मम् नित्यम्** (४।४।२०) सूत्र में क्त्रि प्रत्यय से मप् प्रत्यय का विधान किया है, सो यहां **ड्वितः क्त्रिः** (३।३।८८) से डुइत्‌वाले डुपचष्=पच् धातु से क्त्रि=त्रि प्रत्यय होकर पक्त्रि समुदाय से मप् प्रत्यय होकर पक्त्रिमम् रूप बनता है।

५. **उत्तरपदाधिकारे प्रत्ययग्रहणे रूपग्रहणं द्रष्टव्यम्**—उत्तरपद के अधिकार (६।३।१—१३८) में प्रत्यय के ग्रहण से प्रत्यय के स्वरूप का ही ग्रहण होता है। यहां पूर्व (संख्या ४ की) परिभाषा से प्रत्यय के ग्रहण में प्रत्ययान्त का ग्रहण प्राप्त हुआ था, उसका निषेध कर दिया है। अतः **घरूपकल्प०** (६।३।४२) सूत्र से घ=तरप् तमप् प्रत्यय परे ङी प्रत्यय को कहा गया ह्रस्वत्व केवल तरप् तमप् प्रत्यय परे रहने पर ही होगा। जैसे—'गौरितरा, गौरितमा' में ही ह्रस्वत्व होगा, 'कुमारीगौरितरा, कुमारीगौरितमा' में तरप् तमप् प्रत्ययान्त गौरितरा गौरितमा परे रहने पर कुमारी शब्द को ह्रस्व नहीं होगा।

६. **संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं न भवति**—जहां पर प्रत्ययों की संज्ञाओं का विधान किया है, वहां प्रत्यय के ग्रहण से तदन्त=प्रत्ययान्त का ग्रहण नहीं होता। जैसे—**तरप्तमपौ घः** (१।१।२२) में घ

संज्ञा तरप् तमप् प्रत्ययों की ही होगी, तरप् तमप् प्रत्ययान्त गौरितरा, गौरितमा शब्दों की नहीं होगी। पूर्व परिभाषा सं० ४ से प्रत्यय के ग्रहण में प्रत्ययान्त का ग्रहण प्राप्त होता था; उसका निषेध किया है।

७. **व्यपदेशिवदेकस्मिन्** 'व्यपदेशी' शब्द का अर्थ है—उचित रूप से कहने का स्थान, अर्थात् शब्द का मुख्य वाच्य। जैसे ज्येष्ठः शब्द का मुख्यार्थ वहीं घटित होता है, जहां छोटे भी हों। अयं मे ज्येष्ठः पुत्रः। इसी प्रकार कनिष्ठ शब्द का मुख्यार्थ वहीं घटता है, जहां उससे बड़े भी हों। परन्तु लोक में किसी के एक ही पुत्र हो, और कोई उससे पूछे कि तुम्हारा ज्येष्ठ वा कनिष्ठ पुत्र कौन है, तो पिता उसे ही, अयं मे ज्येष्ठः, अयमेव मे कनिष्ठः'—'यही मेरा बड़ा और छोटा लड़का है', इस प्रकार कहता है। जैसे लोक में एक में ही ज्येष्ठ कनिष्ठ का व्यवहार देखा जाता है, उसी प्रकार व्याकरण में भी समझना चाहिये। पाणिनि का सूत्र है **एकाचो द्वे प्रथमस्य** (६।१।१) धातु के प्रथम एकाच् (=एक अच् है जिस समुदाय में) को द्वे=द्विर्वचन होता है। प्रथम शब्द का व्यवहार वहीं होता है जहां एक से अधिक संख्या हो। तदनुसार जागृ आदि दो या दो से अधिक एकाच् अवयववाले धातुओं में प्रथम एकाच् 'जा' को द्विर्वचन हो जाता है **जजागार**। परन्तु पच् धातु में द्विर्वचन प्राप्त नहीं होता, क्योंकि यहां एक ही एकाच् समुदाय 'पच्' है, अतः इसे प्रथम एकाच् नहीं कह सकते। इसलिये परिभाषा ने कहा कि एक में भी व्यपदेशी (मुख्यार्थवाची) के सदृश व्यवहार हो जाता है। इससे एक एकाच् पच् को भी प्रथम एकाच् मानकर द्विर्वचन हो जाता है—पपाच।

८. **यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे**——अल् (वर्ण) के ग्रहण में जिस (अल्) के परे कार्य कहा है, वह उसके परे होता है जिसके आदि में वह अल् होता है। जैसे—**गमेरिट् परस्मैपदेषु** (७।२।५८), यहां सूत्र ५७ से 'से' की, और सूत्र ३५ से 'इट्' की अनुवृत्ति है। 'से' स का सप्तमी का एकवचन है। अतः **स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा** (१।१।६७) के नियम से केवल स् परे ही इट् होना चाहिये। गमिष्यति आदि सकारादि स्य परे नहीं होना चाहिये। अतः यह परिभाषा बनाई गई। इससे से=स् अल् का ग्रहण होने से इसका अर्थ होगा—परस्मैपद परे है जिसके ऐसे सकारादि आर्धधातुक प्रत्यय को इट् का आगम होता है।

एरच् (३।३।५६) में इवर्णान्त अर्थ करने के लिये पाणिनि ने स्वं

रूप का बाधक येन विधिस्तदन्तस्य (१।१।७१, प्रथम भाग पृष्ठ १०८) सूत्र बनाया है; परन्तु 'अल् परे' जिस कार्य का विधान किया है वह भी, जिसके आदि में वह अल् हो, उसके परे हो जावे, के लिये कोई नियम नहीं बनाया था,—उसकी पूर्ति इस परिभाषा-वचन से होती है।

९. एकदेशविकृतमनन्यवद् भवति। एक अवयव में विकार हो जाने पर वह अनन्य=स्व-सदृश हो होता है। अर्थात् एक भाग में विकार हो जाने पर मूल वस्तु बदलती नहीं। लोक में भी देखते हैं कि किसी कुत्ते की टांग टूट जाये या कट जाये, तो वह कुत्ता ही माना जाता है, अन्य नहीं बन जाता। इसी प्रकार 'भवतु' में ति के इ को उ हो जाने, या 'अभवत्' में इकार का लोप हो जाने पर भी वह 'ति' ही माना जाता है, प्रत्ययान्तर नहीं बन जाता। उसे ति मानकर ही सुप्तिङन्तं पदम् (१।४।१४) से पद संज्ञा हो जाती है।

पूर्व एक सूत्र पढ़ाया जा चुका है—विप्रतिषेधे परं कार्यम् (१।४।२) अर्थात् एक को ही एक साथ दो कार्य प्राप्त हों, तो उनमें से पर सूत्र का कार्य होता है। जैसे—'पुरुष भ्यस्' इस अवस्था में सुपि च (७।३।१०२) से यञादि सुप् परे रहने पर अकारान्त अङ्ग को दीर्घ प्राप्त होता है, और बहुवचने झल्येत् (७।३।१०३) से झलादि सुप् परे रहने पर अकारान्त अङ्ग को एकार प्राप्त होता है। इस प्रकार इनमें पुरुष के अन्तिम अ को दीर्घ और ए दो कार्य एक साथ प्राप्त होते हैं, दोनों हो नहीं सकते। अतः सूत्र ने नियम किया कि विप्रतिषेधे परं कार्यम् पर कार्य एत्व हो, इस प्रकार पुरुषेभ्यः बनाया। इसी प्रकार 'यज् अतुस्' इस अवस्था में लिटि धातो-रनभ्यासस्य (६।१।८) से द्विर्वचन, और वचिस्वपियजादीनां किति (६।१।१५) से सम्प्रसारण एक साथ प्राप्त होता है। इस अवस्था में द्विर्वचन को बाध कर परविधि संप्रसारण होकर इज् अतुस् बन जाता है। अब पूर्व विधि द्विर्वचन हो, या न हो इसके लिये निम्न परिभाषा है—

१०. पुनः प्रसङ्गविज्ञानाद् भवति—यदि पर कार्य कर लेने पर पूर्व कार्य का पुनः प्रसङ्ग=प्राप्ति हो, तो पूर्व कार्य भी हो जाता है। सम्प्रसारण कर लेने पर यज् को इज् रूप बन जाने पर भी पूर्व परिभाषा सं० ९ के अनुसार वह यज् धातु ही है। अतः लिटि धातो० (६।१।८) से पुनः द्विर्वचन की प्राप्ति होकर इज् इज् अतुस्=इ इज् अतुस्=ईज् अतुस्=ईजतुः रूप बन जाता है।

११. **न चापवादविषये उत्सर्गोऽभिनिविशते**—अपवाद के विषय में उत्सर्ग=सामान्य सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती। जैसे—**तस्यापत्यम्** (४।१।९२) से अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय का विधान किया है, परन्तु अकारान्त प्रातिपदिक से **अत इञ्** (४।१।९५) से इञ् कहा है। यहां अण् उत्सर्ग प्रत्यय है, और इञ् अपवाद। अतः **देवदत्तस्य अपत्यम्**= दैवदत्तिः ही बनेगा। यहां उत्सर्ग अण् की प्रवृत्ति नहीं होगी। वह अकारान्त प्रातिपदिक को छोड़कर अन्य प्रातिपदिकों से ही होगा—**उपगोरपत्यम्=औपगवः**।

प्रथम भाग के पाठ २१ (पृष्ठ ९८) में दो सूत्र पढ़ चुके हैं—**तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य** (१।१।६५) **तस्मादित्युत्तरस्य** (१।१।६६)। इन सूत्रों के अनुसार सप्तमी का निर्देश करके कहा गया कार्य जिस से सप्तमी का उच्चारण किया है उससे पूर्व को होता है। यथा—**इको यणचि** (६।१।७४) अच् परे कहा गया यण् कार्य 'दधि अत्र' में अ से पूर्व इ को होता है—दध्यत्र। इसी प्रकार पञ्चमी से निर्देश करके जो कार्य कहा गया है, वह पञ्चमी विभक्तिवाले से उत्तर को होता है। यथा—**द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्** (६।३।९६)। 'द्वि अप' यहां द्वि से परे अप के अकार को ईकार होकर 'द्वि ईप=द्वीपम्' बनता है। परन्तु जहां एक साथ सप्तमी और पञ्चमी दोनों विभक्तियों का निर्देश करके कोई कार्य कहा हो, तो वह पूर्व को हो या उत्तर को हो या दोनों के स्थान में हो यह सन्देह होता है, अतः परिभाषा है—

१२. **उभयनिर्देशे विप्रतिषेधात् पञ्चमीनिर्देशः [बलीयान् भवति]**—अर्थात् सप्तमी और पञ्चमी दोनों विभक्तियों का निर्देश करके कोई कार्य कहा हो,तो विप्रतिषेध से पञ्चमी विभक्ति बलवान् होती है। यथा—'आस् शानच्=आस् आन' इस अवस्था में **ईदासः** (७।२।८३) सूत्र उपस्थित होता है। ऊपर **आने मुक्** (७।२।८२) सूत्र से **आने** की अनुवृत्ति है। **आसः** पञ्चमी है। यदि सप्तमी का आदेश (आज्ञा) मानें, तो पूर्व आस् के स् को ईकारादेश प्राप्त होता है, और यदि पञ्चमी का आदेश (आज्ञा) मानें तो आन के आकार को ईकार प्राप्त होता है। अतः यह परिभाषा कहती है कि दोनों विभक्तियों का निर्देश होने पर पञ्चमी को बलवान् समझना चाहियें। इस कारण आस् से उत्तर आन के आ को ई होकर **आस्+ईन आसीनः** बनता है।

१३. **सूत्रे लिङ्गवचनमतन्त्रम्**—सूत्र में जो लिङ्ग और वचन पढ़ा गया है, उसे ही मुख्य=प्रमाण नहीं मानना चाहिये। जैसे—**तस्यापत्यम्** (४।१।९२) में **तस्य** पुल्लिङ्ग है, और **अपत्यम्** नपुंसक लिङ्ग है, और दोनों में एकवचन है। यदि यहां लिङ्ग वचन को प्रधानता दें, तो पुल्लिङ्ग एकवचनान्त शब्द से नपुंसक पुत्र में ही प्रत्यय प्राप्त होगा, स्त्रीलिङ्ग शब्द से लड़का या लड़की में प्रत्यय प्राप्त न होगा। अतः कहा है कि सूत्रों में लिङ्ग वचन निर्देशमात्र के लिये हैं, उन्हीं का विशेष ग्रहण इष्ट नहीं है।

१४. **अनिर्दिष्टार्थाः प्रत्ययाः स्वार्थे भवन्ति**—जिन प्रत्ययों का किसी अर्थ विशेष में विधान नहीं किया है, वे प्रत्यय स्वार्थ में होते हैं।

कई पाठक पूछते हैं कि पाणिनि ने विकल्प के लिये सूत्रों में वा विभाषा **अन्यतरस्याम्**, **उभयथा** आदि कई शब्दों का प्रयोग क्यों किया? लाघव के लिये एक **वा** का या संज्ञाप्रकरण में पढ़ी **विभाषा** संज्ञा का ही प्रयोग क्यों नहीं किया? इसका उत्तर है—

१५. **पर्यायशब्दानां गौरवलाघवचर्चा नाद्रियते**—पर्याय=समानार्थक शब्दों में गौरव-लाघव का विचार नहीं किया जाता। अर्थात् प्राचीन शास्त्रों में जो समानार्थक शब्द व्यवहृत हुये हैं, उनका व्यवहार ही पाणिनि ने स्वशास्त्र में करके पूर्वाचार्यों के प्रति कृतज्ञता प्रकट की है॥

इति संज्ञा-परिभाषा-प्रकरणम्॥

द्वितीय-प्रकरण

कारक और विभक्ति

कारक और उससे सम्बद्ध विभक्तियों का सामान्य परिचय प्रथम भाग के १५ वें और १६ वें पाठ में दिया जा चुका है। अब इस प्रकरण में उनका कुछ विस्तार से परिचय दिया जाता है। यहां प्रथम कारक और तत्पश्चात् विभक्तियों का वर्णन करेंगे—

कारक

कारक शब्द का अर्थ है—करोतीति कारकम् अर्थात् जो किसी क्रिया का साधक हो (=जिसके विना क्रिया की निष्पत्ति न हो सकती हो) उसे 'कारक कहते हैं। जैसे—पुरुषः शकटेन ग्रामं गच्छति। यहां, गच्छति क्रिया का साक्षात् निष्पादक पुरुष है, पुरुष न हो तो गच्छति क्रिया कौन करे। इसी प्रकार शकट=गाड़ी=यान गच्छति क्रिया का साधन है, विना साधन के साध्य की सिद्धि नहीं होती। ग्राम कर्त्ता का अभीष्ट है, गच्छति क्रिया द्वारा पुरुष ग्राम को प्राप्त करना चाहता है। दूसरे शब्दों में ग्राम की प्राप्ति के लिये ही पुरुष गमन क्रिया करता है, और उसके लिये शकटरूपी साधन जुटाता है। इसी प्रकार अन्य कारकों के विषय में भी समझना चाहिये।

संस्कृत व्याकरण में कर्ता कर्म करण सम्प्रदान अपादान और अधिकरण ये छः कारक माने गये हैं। हिन्दी में सम्बन्ध को, जिसे प्रकट करने के लिये षष्ठी विभक्ति (का, के, की) का प्रयोग होता है, भी कारक माना है, परन्तु षष्ठ्यन्त शब्द क्रिया की निष्पत्ति में साक्षात् कारण नहीं होते। यथा—देवदत्तस्य पुत्रः पाणिना घृतौदनं कांसपात्र्यां भुङ्क्ते। यहां भुङ्क्ते =भोजन क्रिया का साक्षात् निष्पादक पुत्र है, पाणि=हाथ, भोजन क्रिया में साक्षात् साधन है, घृतौदन खाना कर्त्ता को इष्ट है, कांसपात्री=कांसे की थाली भोज्य पदार्थ का आधार है इस प्रकार विचार करने पर प्रतीत होता है कि पुत्र पाणि घृतौदन कांसपात्री क्रिया की निष्पत्ति में

साधक हैं, परन्तु वाक्य में प्रयुक्त 'देवदत्त' का क्रिया के साथ किसी भी प्रकार का साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। उसका संबन्ध तो पुत्र के साथ ही है। उससे पुत्र विशेषित होता है, अर्थात् उससे जाना जाता है कि वह भोजन क्रिया करनेवाला पुत्र देवदत्त का है। अतः करोतीति कारकम् अर्थ के अनुसार क्रिया की निष्पत्ति में देवदत्त के साधक न होने से वह कारक नहीं है।

यद्यपि कारकों का उल्लेख कर्त्ता कर्म करण आदि क्रम से किया जाता है, परन्तु पाणिनि ने विशेष अभिप्राय (जिसका निर्देश प्रकरण के अन्त में किया जायेगा) को मन में रखकर अपादान सम्प्रदान करण कर्म अधिकरण और कर्ता, इस क्रम से निर्देश किया है। यहां पर हम भी उसी क्रम से इनका वर्णन करेंगे।

कारके (१।४।२३)—कारके ७।१॥ यह अधिकार सूत्र है। इसका अधिकार १।४।५५ तक है। अर्थ—'कारके' में जाति[1] में एक वचन है, अतः 'कारके' का अर्थ होगा—क्रिया के साधकों = निष्पादकों में।

१. अपादान कारक—ध्रुवमपायेऽपादानम् (१।४।२४)—ध्रुवम् १।१, अपाये ७।१, अपादानम् १।१॥ अनुवृत्ति—कारके। अर्थ—अपाय = पृथक् होना या करना क्रिया के साधकों में से जो पदार्थ ध्रुव रहे = निश्चल रहे = अपने स्थान पर बना रहे, वह अपादानसंज्ञक होता है। जैसे देवदत्तः ग्रामात् आगच्छति। यहां आगमन क्रिया के लिये देवदत्त उस ग्राम से पृथक् होता है, जिसमें वह पहले से वर्तमान है। पृथकता दो पदार्थों में होती है। वे यहां हैं ग्राम और देवदत्त। देवदत्त उस ग्राम से दूर होता है। दूर होने के लिये देवदत्त में गति क्रिया होती है, परन्तु ग्राम अपने स्थान पर निश्चल रहता है। वृक्षात् पर्णं पतति—वृक्ष से पत्ता गिरता है। पत्ता वृक्ष से दूर चला जाता है, परन्तु वृक्ष अपने स्थान पर ध्रुव रहता है। धनुषः शरान् क्षिपति—धनुष से बाण फेंकता है। बाण धनुष से फेंके हुये दूर चले जाते हैं; धनुष अपने स्थान पर ही रहता है। इसी प्रकार सर्वत्र जहां भी

१. प्रत्येक शब्द का व्यक्ति और जाति अर्थ होता है 'गाम् आनय' में 'गौ' का अर्थ गोविशेष व्यक्ति है 'गां मा हिंसीः' = गौ को मत मारे—यहां 'गौ' का अर्थ एक व्यक्ति नहीं है अपितु गो-जाति है। गो-जाति वाले किसी भी व्यक्ति की हिंसा मत कर यह भाव है, न कि एक गाय को मत मार। व्यक्ति अर्थ में प्रयोग होने पर व्यक्तियों के बहुत होने से एकवचन द्विवचन बहुवचन का प्रयोग होता है, जातिरूपी सामान्य अर्थ एक है, अतः जाति में सदा सर्वत्र एक वचन ही होता है।

अपाय=पृथक् होना=दूर होना क्रिया हो, वहां ध्रुव=अपने स्थान पर निश्चल रहनेवाले पदार्थ के वाचक शब्द की अपादान संज्ञा होती है।

अपादान संज्ञक शब्द से अपादाने पञ्चमी (२।३।२८) से पञ्चमी विभक्ति होती है।

भीत्रार्थानां भयहेतुः (१।४।२५)—भीत्रार्थानाम् ६।३। भयहेतुः १।१॥ भीत्रार्थानाम्='भी' और 'त्रा' अर्थ वाली धातुओं का; भयहेतुः=भय का कारण। ञिभी भये, त्रैङ् (=त्रा) पालने—ये दो धातुएं हैं। अनु०—**कारके अपादानम्**। अर्थ—'भी'=भय अर्थवाली धातुओं और 'त्रा'=पालन-रक्षण अर्थवाली धातुओं की क्रियाओं में जो भय का कारण हो उसकी अपादान संज्ञा होती है। जैसे—'भी' अर्थवाली—चौरेभ्यो बिभेति, सिंहात् उद्विजते। यहां भय और उद्वेजन=भय से कांपना डरना क्रियाओं का कारण चोर और सिंह हैं। अतः इनकी अपादान संज्ञा होती है। 'त्रा' अर्थवाली—चौरेभ्यस्त्रायते, चोरेभ्यो रक्षति। यहां चोरों से त्राण वा रक्षा करने में चोर भय का हेतु है।

पराजेरसोढः (१।४।२६)—पराजेः ६।१, असोढः १।१॥ अनु०—**कारके अपादानम्**। अर्थ—परापूर्वक जि धातु के (=पराजित होना) अर्थ की सिद्धि में असोढ=जो सहन न किया जा सके, उसकी अपादान संज्ञा होती है। जैसे—देवदत्तः अध्ययनात् पराजयते—देवदत्त अध्ययन से पराजित होता है, उसको सहन नहीं करता, उससे भागता है। शत्रुभ्यः पराजयते—शत्रुओं से पराजित होता है।

अन्तर्धौ येनादर्शनमिच्छति (१।४।२७)—अन्तर्धौ ७।१, येन ३।१, अदर्शनम् १।१, इच्छति क्रिया। अनुवृत्ति—**कारके अपादानम्**। अर्थ—'अन्तर्धि'=छिपना क्रिया की सिद्धि में 'येन'=जिससे 'अदर्शनम्'=छिपना 'इच्छति'=चाहता है, उसकी अपादान संज्ञा होती है। जैसे—पितुरन्तर्धत्ते, रक्षकेभ्योऽन्तर्धत्ते, दस्युभ्योऽन्तर्धत्ते। पिता—पुलिस—डाकुओं से छिपना चाहता है।

२. **सम्प्रदान कारक—कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्** (१।४।३२)—कर्मणा ३।१, यम् २।१, अभिप्रैति क्रिया, सः १।१, सम्प्रदानम् १।१॥ अनु० **कारके**। अर्थ—कर्म (संज्ञक) से जिसको प्रसन्न करना चाहता है वह सम्प्रदानसंज्ञक होता है। जैसे—गुरवे धनं ददाति, दरिद्राय वस्त्रं ददाति, बुभुक्षिताय अन्नं ददाति। गुरु को धन देता है, दरिद्र को वस्त्र

देता है, भूखे को अन्न देता है। यहां धन से गुरु की, वस्त्र से दरिद्र की, अन्न से भूखे की इच्छा पूर्ण करता है = तृप्त करता है, अतः गुरु—दरिद्र—बुभुक्षित की सम्प्रदान संज्ञा होती है।

सम्प्रदान संज्ञक शब्द से **चतुर्थी सम्प्रदाने** (२।३।१३) से चतुर्थी विभक्ति होती है।

रुच्यर्थानां प्रीयमाणः (१।४।३३)—रुच्यर्थानाम् ६।३, प्रीयमाणः १।१॥ रुचिना समानोऽर्थः येषाम् = रुच् धातु के अर्थ के समान अर्थ है जिनका, उनका ॥ अनु०—कारके सम्प्रदानम्। अर्थ—'रुच' धातु के समान अर्थवाली = अच्छा लगने अर्थवाली धातुओं के प्रयोग में प्रीयमाण = जिसे तृप्ति हो जिसे रुचिकर = अच्छा लगे उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है। जैसे—देवदत्ताय रोचते मोदकः; यज्ञदत्ताय स्वदते मोदकः।

क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः (१।४।३७)—क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानाम् ६।३, यम् २।१, प्रति अ०, कोपः १।१॥ अनु०—कारके सम्प्रदानम्। अर्थ—क्रुध = क्रोध करना, द्रुह = द्रोह करना, ईर्ष्या = जलन होना असूया = निन्दा करना अर्थ जिन धातुओं का है, उनके प्रयोग में जिसके प्रति कोप = नाराजगी हो उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है। बिना कोप = नाराजगी के क्रोध द्रोह ईर्ष्या और असूया नहीं होती, अतः कोप रूप अर्थ सब में समान है। जैसे—देवदत्ताय क्रुध्यति, देवदत्ताय द्रुह्यति, देवदत्ताय ईर्ष्यति, देवदत्ताय असूयते।

क्रुधद्रुहोरुपसृष्टयोः कर्म (१।४।३८)—क्रुधद्रुहोः ६।२, उपसृष्टयोः ६।२, कर्म १।१॥ अनु०—कारके, यं प्रति कोपः। अर्थ—क्रुध और द्रुह धातुएं यदि उपसृष्ट = उपसर्ग से युक्त हों तो उनके प्रयोग में जिसके प्रति कोप हो उसकी कर्म संज्ञा होती है। यह पूर्व सूत्र का अपवाद है। जैसे—देवदत्तम् अभिक्रुध्यति, देवदत्तम् अभिद्रुह्यति। पूर्व सूत्र (१।४।३७) से सम्प्रदान संज्ञा प्राप्त होती है, उसका अपवाद यह कर्म संज्ञा है।

कर्मसंज्ञक शब्द से **कर्मणि द्वितीया** (२।३।२) से द्वितीया विभक्ति होती है।

३: करणं कारक—**साधकतमं करणम्** (१।४।४२)—साधकतमम् १।१, करणम् १।१॥ अनु०—कारके। अर्थ—क्रिया के सिद्ध करने में जो साधकतम = सबसे अधिक साधक हो, उसकी करण संज्ञा होती है। जैसे—धनुषा विध्यति (धनुष से बींधता है), दात्रेण क्षेत्रं लुनाति (दांतरी से खेती को

काटता है), परशुना वृक्षं छिनत्ति (कुल्हाड़ी से वृक्ष को काटता है)। यहां विध्यति, लुनाति, छिनत्ति क्रियाओं में साधकतम होने से धनुष दात्र और परशु की करण संज्ञा होती है।

करणसंज्ञक शब्द से कर्तृकरणयोस्तृतीया (२।३।१८) से तृतीया विभक्ति होती है।

४. अधिकरण कारक—आधारोऽधिकरणम् (१।४।४५)—आधारः १।१, अधिकरणम् १।१। अनु०—कारके। अर्थ—क्रिया की सिद्धि में जो आधार हो, उसकी अधिकरण संज्ञा होती है। जैसे—कटे आस्ते, स्थाल्यां पचति। यहां बैठना क्रिया का आधार कट=चटाई और पाक क्रिया का आधार स्थाली=बटलोई[1] है।

अधिकरणसंज्ञक शब्द से सप्तम्यधिकरणे च (२।३।३६) से सप्तमी विभक्ति होती है।

अधिशीङ्स्थासां कर्म (१।४।४६)—अधिशीङ्स्थासाम् ६।३, कर्म १।१। अनु०—कारके आधारः। अर्थ—अधिपूर्वक शीङ् स्था और आस धातुओं के प्रयोग में आधार की कर्म संज्ञा होती है। जैसे—कटम् अधिशेते, ग्रामम् अधितिष्ठति, पर्वतम् अध्यास्ते।

५. कर्म कारक—कर्तुरीप्सिततमं कर्म (१।४।४९)—कर्तुः ६।१, ईप्सिततमम् १।१, कर्म १।१। अनु०—कारके। अर्थ—क्रिया के साधकों में कर्ता का जो सब से अधिक ईप्सित=इष्ट=इच्छित हो वह कर्मसंज्ञक होता है। जैसे—कटं करोति, ओदनं भुङ्क्ते। कट और ओदन की कर्म संज्ञा होने से कर्मणि द्वितीया (२।३।२) से द्वितीया विभक्ति होती है।

तथायुक्तं चानीप्सितम् (१।४।५०)—तथायुक्तम् १।१, च अ०, अनीप्सितम् १।१। न ईप्सितम् अनीप्सितम्—जो ईप्सित=इष्ट न हो। अनु०—कारके कर्म। अर्थ—जो क्रिया का साधक हो और क्रिया के साथ उसी प्रकार संबद्ध हो जैसे ईप्सित होता है, किन्तु ईप्सित=इष्ट न हो,

१. जो पात्र ऊपर नीचे एक सा चौड़ा खुले मुंह का होता है, उसे पतीली पतीला (कहीं कहीं तपीली तिपीला) कहते हैं। जो बर्तन मध्य से चौड़ा नीचे से गोल होता है, उसे देगची या भतीला कहते हैं। जो बर्तन घड़े के आकार का छोटे मुंह का होता है, उसे बटलोई कहते हैं। प्रान्त भेद से नामों में भेद भी हो सकता है।

उसकी भी कर्म संज्ञा होती है। जैसे—विषं भक्षयति। और पश्यति विष को खाना और चोर को देखना कोई नहीं चाहता, किन्तु यह विष और चोर क्रमशः भक्षयति और पश्यति क्रिया का साधक तथा उनसे संबद्ध है। इनकी अनीप्सित होने से पूर्व सूत्र से कर्म संज्ञा प्राप्त नहीं थी, उसका इस सूत्र ने विधान किया।

६. कर्त्तृ कारक—स्वतन्त्रः कर्ता। (१।४।५४)—स्वतन्त्रः १।१। कर्ता १।१।। अनु०—कारके। अर्थ—क्रिया की सिद्धि करने में जो स्वतन्त्र साधक होता है, उसकी कर्ता संज्ञा होती है। जैसे देवदत्तः ग्रामं गच्छति, विष्णुमित्र ओदनं भुङ्क्ते।

यहां कर्ता में कर्तृकरणयोस्तृतीया (२।३।१८) से तृतीया न होकर प्रातिपदिकार्थ० (२।३।४६) से प्रथमा विभक्ति होती है। इसका कारण आगे अनभिहिते (२।३।१) सूत्र की व्याख्या में समझाया है।

हेतु-संज्ञा—तत्प्रयोजको हेतुश्च। (१।४।५)—तत्प्रयोजकः १।१, हेतुः १।१, च अ०।। तस्य प्रयोजकः=तत्प्रयोजकः=कर्ता का प्रयोजक=प्रेरणा देनेवाला। अनु०—कर्ता। अर्थ—क्रिया की सिद्धि करने में जो कर्ता का प्रयोजक=प्रेरक होवे, उसकी हेतु संज्ञा और चकार से कर्ता संज्ञा होती है। जैसे—पाचयति ओदनं देवदत्तो यज्ञदत्तेन=देवदत्त यज्ञदत्त से चावल पकवाता है; अर्थात् देवदत्त यज्ञदत्त को चावल पकाने के लिये प्रेरित करता है। यहां प्रेरक=प्रेरणा देनेवाले कर्ता 'देवदत्त' में अनभिहिते (२।३।१) के नियम से प्रथमा विभक्ति होती है, और प्रेर्यमाण कर्ता 'यज्ञदत्त' में कर्तृकरणयोस्तृतीया (२।३।१८) से तृतीया विभक्ति होती है।

कारकों के संबन्ध में विशेष विचार

१. कारक संज्ञा वक्ता के अभिप्राय के अनुसार होती है। 'राम धनुष से बाण छोड़कर रावण को मारता है,' इस अभिप्राय में धनुष से बाण पृथक् होता है, और धनुष ध्रुव रहता है, अतः धनुष की अपादान संज्ञा होती है। इसी अभिप्राय को 'राम धनुष से रावण को मारता है,' इस रूप में भी बोलते हैं। इस वाक्य में धनुष की करण संज्ञा होती है। 'बादल से बिजली चमकती है' यहां बादल अपादानसंज्ञक है। 'बादल में बिजली चमकती है' यहां बादल अधिकरणसंज्ञक होता है। 'बादल चमकते हैं,' इस अभिप्राय में बादल कर्ता बनता है। 'कुल्हाड़ी से काटता है,' यहां कुल्हाड़ी करण है। 'कुल्हाड़ी काटती है', यहां कुल्हाड़ी कर्ता है।

२. ऊपर के प्रयोगों से स्पष्ट है कि एक ही पदार्थ में अनेक कारकों की शक्तियां विद्यमान रहती हैं, परन्तु वक्ता जिस कारक शक्ति को प्रकट करना चाहता है, उसी के अनुसार भिन्न-भिन्न कारक संज्ञा होती है।

३. लोक-प्रसिद्ध कारकों के क्रम का परित्याग करके सूत्रकार ने अपादान सम्प्रदान करण अधिकरण कर्म और कर्ता का जो क्रम रखा है, उसका कारण यह है कि **आकडारादेका संज्ञा** (१।४।१) से **कडाराः कर्मधारये** (२।२।३८) तक एक संज्ञा का अधिकार है। अतः कारक प्रकरण में एक ही संज्ञा होती है। और जहां दो निमित्त होने से दो संज्ञाएं एक साथ प्राप्त होवें, वहां **विप्रतिषेधे परं कार्यम्** (१।४।२) सूत्र नियम करता है कि विरोध होने पर 'पर' अर्थात् उत्तर संज्ञा ही होती है। जैसे—'धनुषा विध्यति' वाक्य में धनुष साक्षात् वेधन क्रिया में साधक है। उसमें साधकतमत्व की विवक्षा होने पर भी बाण धनुष से पृथक् होंगे ही, अतः धनुष को **ध्रुवमपायेऽपादानम्** से अपादान संज्ञा भी प्राप्त होती है, और साधकतमत्व की विवक्षा से करण संज्ञा भी। इसी प्रकार 'वलाहको विद्योतते' (= बादल चमकते हैं) में कर्तृत्व की विवक्षा होने पर भी बादल विद्युत् का आधार होने से अधिकरण संज्ञा और कर्तृत्व की विवक्षा से कर्तृ-संज्ञा भी प्राप्त होती है। ऐसे स्थानों पर **विप्रतिषेधे परं कार्यम्** (१।४।२) से दोनों संज्ञाओं में परली करण और कर्तृ-संज्ञा ही होती है। इस नियम की उपपत्ति के लिये सूत्रकार ने कारकों का यह क्रम रखा है।

विभक्ति-प्रकरण

प्रातिपदिकसंज्ञक शब्दों के साथ विभक्तियों का संबन्ध दो कारणों से होता है। एक कारक संज्ञा के कारण और दूसरा किसी समीपस्थ शब्द के योग=संबन्ध के कारण। कारक संज्ञा के कारण होनेवाली विभक्ति **कारक विभक्ति** कहाती है, और उपपद (=समीपस्थ पद) के योग से होनेवाली विभक्ति **उपपद विभक्ति** कहाती है। वाक्य रचना में दोनों प्रकार की विभक्तियों का ज्ञान आवश्यक है। इसलिये इस प्रकरण में दोनों प्रकार की प्रमुख विभक्तियों के विधायक सूत्रों का व्याख्यान करते हैं—

अनभिहिते (२।३।१)—अनभिहिते ७।१॥ न अभिहितम् अनभिहितम्, तस्मिन् अनभिहिते=जो अभिहित=कथित न हो, उसमें। यह अधिकार सूत्र है। इसका अधिकार तृतीय पाद की समाप्ति (२।३।७३) तक जाता है। परन्तु इसका सम्बन्ध **कर्मणि द्वितीया** (२।३।२), कर्तृ-

करणयोस्तृतीया (२।३।१८) आदि कारक विभक्तियों के विधायक सूत्रों में ही लगता है। इसलिये जिन कर्म कर्ता आदि कारकों का किसी अन्य प्रत्यय समास आदि से कथन=निर्देश नहीं होता, उन कारकों में उस उस प्रकरण में निर्दिष्ट विभक्तियां होती हैं। जहां प्रत्यय समास आदि के द्वारा कर्मादि कारक अभिहित=कथित हो जाते हैं, वहां उनमें विशिष्ट विहित विभक्तियां नहीं होतीं कर्ता और कर्म में विहित विभक्तियों के लिये इस अभिहित=प्रत्यय समास आदि के द्वारा कर्ता कर्म का कहा जाना विशेष महत्त्व रखता है। इसलिये इस विषय को अच्छे प्रकार समझ लेना चाहिये। यथा—

१, लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः (३।४।६९) सूत्र (द्र०—व्याख्या प्रथम भाग पृ० ५७) से कर्ता और कर्म में, लट् आदि लकार का विधान किया है। अतः जब लट् आदि लकार कर्ता में होते हैं, तो लकार से अभिहित कर्ता में कर्तृकरणयोस्तृतीया (२।३।१८) से तृतीया विभक्ति नहीं होती। जैसे— देवदत्तः ओदनं पचति। किन्तु जब लट् आदि लकार कर्ता में न होकर कर्म में होते हैं, तब कर्म लकार के द्वारा कथित हो जाता है, अतः **कर्मणि द्वितीया** (२।३।२) से कर्म में द्वितीया नहीं होती, तथा कर्ता के लकार से अनभिहित होने से, उसमें तृतीया विभक्ति हो जाती है। जैसे—पच्यते ओदनः देवदत्तेन।

इसी प्रकार जब अकर्मक धातुओं से लट् आदि लकार भाव=धात्वर्थ-मात्र में होते है, तब कर्ता के लकार से अनभिहित होने से उनमें तृतीया विभक्ति हो जाती है। यथा—शय्यते देवदत्तेन।

२. जिस कर्ता वा कर्म आदि का किसी लकार आदि के द्वारा कथन हो जाता है, तब प्रातिपदिक से संबद्ध कर्तृत्व वा कर्मत्व अंश के अभिहित=कथित हो जाने पर प्रातिपदिकार्थ मात्र में **प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाण-वचनमात्रे प्रथमा** (२।३।४६) से प्रथमा विभक्ति होती है। इस सूत्र की व्याख्या आगे की जायेगी।

इसी का निर्देश **तिङ्समानाधिकरणे प्रथमा**=तिङ् के साथ समाना-धिकरणवाले कारक में प्रथमा विभक्ति होती है, इस वचन द्वारा भी व्यक्त किया जाता है। इसकी व्याख्या प्रथम भाग पृष्ठ १७६-१७७ में विस्तार से की गई है।

३. क्त क्तवतु प्रत्यय सामान्य रूप से जब कर्त्ता में होते हैं, तो कर्ता

के अभिहित=कथित हो जाने से कर्ता में तृतीया विभक्ति नहीं होती। जैसे—प्रकृतः कटं देवदत्तः, गतवान् ग्रामं देवदत्तः। और जब क्त प्रत्यय **तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः** (३।४।७०) सूत्र (व्याख्या द्र०—प्रथम भाग पृष्ठ ११७) से कर्म में होता है, तो कर्म के अभिहित हो जाने से कर्म में द्वितीया नहीं होती, प्रथमा होती है। जैसे—कृतः कटो देवदत्तेन। यहां अनभिहित कर्ता में तृतीया विभक्ति हो गई।

४. समास के द्वारा भी कर्म आदि के अभिहित हो जाने पर उनमें द्वितीया आदि विभक्ति नहीं होती। जैसे—प्राप्तम् उदकं यं ग्रामम्—सः प्राप्तोदको ग्रामः। यहां ग्राम में जो कर्मत्व था, वह समास से कहा गया=अभिहित हो गया, अतः ग्रामः में द्वितीया नहीं हुई। प्रातिपदिकार्थ मात्र में प्रथमा हुई। उद्धृता ओदना यस्याः स्थाल्याः—सा उद्धृतौदना स्थाली। यहां अपादानत्व अंश समास के द्वारा कथित हो गया, अतः स्थाली से पञ्चमी नहीं हुई। उसके अभाव में प्रथमा हुई। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझें।

कर्मणि द्वितीया (२।३।२)—कर्मणि ७।१, द्वितीया १।१॥ अनु०—**अनभिहिते**। अर्थ—अनभिहित=अकथित कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है। जैसे—ओदनं पचति देवदत्तः, कटं करोति देवदत्तः।

तृतीया च होश्छन्दसि (२।३।३)—तृतीया १।१, च अ०, होः ६।१, छन्दसि ७।१॥ अनु०—**अनभिहिते कर्मणि द्वितीया**॥ अर्थ—छन्द=वेद में हु=जुहोति (हु दानादनयोः) धातु के अनभिहित कर्म में तृतीया और द्वितीया (दोनों) विभक्तियां होती हैं। जैसे—यवाग्वा[१]ऽग्निहोत्रं जुहोति, यवागूमग्निहोत्रं जुहोति।

कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया (२।३।८)—कर्मप्रवचनीययुक्ते ७।१, द्वितीया १।१॥ अर्थ—कर्मप्रवचनीयसंज्ञक शब्द से युक्त प्रातिपदिक से द्वितीया विभक्ति होती है। जैसे—शाकल्यस्य संहितामनु प्रावर्षत्। यहां अनु कर्मप्रवचनीयसंज्ञक है (द्र०—पूर्व पृष्ठ ६)। इस अनु से युक्त शाकल्य की संहिता है। अतः उसमें द्वितीया विभक्ति होती है।

१. यवागू शब्द याज्ञिक परिभाषा में ऐसे पदार्थ के लिये प्रयुक्त होता है, जो अधिक पानी में पतला पकाया गया हो। जैसे—पतला दलिया या पतली खिचड़ी—यवं मिश्रणं गच्छतीति यवागूः। केवल जौ का दलिया ही अभिप्रेत नहीं है। मूत्राय कल्पते यवागूः इस लौकिक वाक्य में जौ का पतला दलिया ही अभिप्रेत है।

पञ्चम्यपाङ्परिभिः (२।३।१०)—पञ्चमी १।१, अपाङ्परिभिः ३।३ ॥ अनु०—**कर्मप्रवचनीययुक्ते** । अर्थ—अप आङ् परि कर्मप्रवचनीय से युक्त शब्दों में पञ्चमी विभक्ति होती है। जैसे—अप पाटलिपुत्राद् वृष्टो देवः, आ पाटलिपुत्रात् वृष्टो देवः, परि पाटलिपुत्राद् वृष्टो देवः।

प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात् (२।३।११)—प्रतिनिधिप्रतिदाने १।२, च अ०, यस्मात् ५।१ ॥ अनु०—**कर्मप्रवचनीययुक्ते पञ्चमी** । अर्थ—प्रतिनिधि और प्रतिदान अर्थ में प्रति की कर्मप्रवचनीय संज्ञा पूर्व १।४।९१ से पृष्ठ १० पर कही है। उसके योग में जिससे प्रतिनिधि=सदृश बताना वा प्रतिदान=बदलना हो, उससे पञ्चमी विभक्ति होती है। जैसे—अभिमन्युरर्जुनात् प्रति, अभिमन्यु अर्जुन का प्रतिनिधि अर्थात् अर्जुन के सदृश है। तिलेभ्यः माषान् अस्मै प्रति यच्छति। तिलों से उड़दों को बदलता है, अर्थात् तिल लेकर बदले में उड़द देता है।

चतुर्थी सम्प्रदाने (२।३।१३)—चतुर्थी १।१, सम्प्रदाने ७।१ ॥ अनु०—**अनभिहिते** ॥ अर्थ—अनभिहित सम्प्रदान में चतुर्थी विभक्ति होती है। जैसे—आचार्याय गां ददाति, माणवकाय रोचते मोदकम्।

नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगाच्च (२।३।१६)—नमः—योगात् ५।१, च अ० ॥ अनु०—चतुर्थी । अर्थ—नमः स्वस्ति स्वाहा स्वधा अलम् वषड् इनसे युक्त शब्द से चतुर्थी विभक्ति होती है। जैसे—नमो देवेभ्यः, स्वस्ति प्रजाभ्यः, स्वाहा अग्नये, स्वधा[1] पितृभ्यः, अलं मल्लो मल्लाय, वषड्[2] अग्नये। 'अलम्' शब्द से 'पर्याप्त' अर्थवाले अन्य शब्दों का भी ग्रहण होता है। जैसे—शक्तो मल्लो मल्लाय, प्रभुर्मल्लो मल्लाय।

मन्यकर्मण्यनादरे विभाषाऽप्राणिषु (२।३।१७)—मन्यकर्मणि ७।१, अनादरे ७।१, विभाषा १।१, अप्राणिषु ७।३ ॥ अनु०—चतुर्थी । अर्थ—मन्य (=मन ज्ञाने, दिवा० आत्मने०) धातु के प्राणिवर्जित कर्म में अनादर (=तिरस्कार) अर्थ में विभाषा चतुर्थी विभक्ति होती है। जैसे—न त्वां तृणाय मन्ये, न त्वां तृणं मन्ये; न त्वां बुसाय मन्ये, न त्वां बुसं मन्ये (बुस=भूसा) अर्थात् मैं तुझको तिनका या भूसा के बराबर भी नहीं मानता। चतुर्थी न होने पर पक्ष में कर्म में द्वितीया हो जाती है।

---

१. 'स्वधा' अन्ननामसु पठितम् । निघण्टु २।७ ॥
२. 'वषड्' शब्द ' [illegible]' का पर्याय है।

कर्तृकरणयोस्तृतीया (२।३।१८)—कर्तृकरणयोः ७।२, तृतीया १।१॥ अनु०—**अनभिहिते**। अर्थ—अनभिहित कर्ता और करण में तृतीया विभक्ति होती है। जैसे—यज्ञदत्तेन वेदः पठितः, यज्ञदत्तेन भुक्तम्, दात्रेण लुनाति, परशुना छिनत्ति।

सहयुक्तेऽप्रधाने (२।३।१९)—सहयुक्ते ७।१, अप्रधाने ७।१॥ अनु०—**तृतीया**। अर्थ—सह के अर्थवाले शब्द से युक्त अप्रधान में तृतीया विभक्ति होती है। सह शब्द का अर्थ है—साथ। दो अथवा दो से अधिक व्यक्तियों के सह कार्यकारी होने पर जो अप्रधान होगा, उससे तृतीया विभक्ति होती है। जैसे—पुत्रेण सह पिता आगतः, अमात्यैः सार्धं राजा गच्छति। यहां पिता का आगमन मुख्यतया कहना है, इसी प्रकार राजा का गमन मुख्यतया बताना इष्ट है। यदि पुत्र की आगमन क्रिया की प्रधानता कहनी होगी, तब 'पित्रा सह पुत्र आगतः' प्रयोग बनेगा। क्रिया का साक्षात् कर्ता प्रधान होगा, दूसरा उसका सहयोगी अप्रधान होगा।

येनाङ्गविकारः (२।३।२०)—येन ३।१, अङ्गविकारः १।१॥ अङ्गस्य विकारः=अङ्गविकारः। अङ्ग शब्द में मत्वर्थ में अच् प्रत्यय है[1]—अङ्गोऽस्यास्ति=अङ्ग जिसका है, उस शरीर का विकार। अनु०—**तृतीया**। अर्थ—जिस अङ्गवाची शब्द से अङ्गी=शरीर का विकार जाना जाये, उससे तृतीया विभक्ति होती है। जैसे—अक्ष्णा काणः, पादेन खञ्जः (=लंगड़ा)।

हेतौ (२।३।२३)—हेतौ ७।१॥ अनु०—**तृतीया**। फल को साधक हेतु कहाता है। अर्थ—हेतुवाची शब्द से तृतीया विभक्ति होती है। जैसे—विद्यया यशः, धनेन कुलम्।

षष्ठी हेतुप्रयोगे (२।३।२६)—षष्ठी १।१, हेतुप्रयोगे ७।१॥ अर्थ—हेतु शब्द का साक्षात् प्रयोग होने पर हेतु (=फलसाधक) से षष्ठी विभक्ति होती है। जैसे—विद्याया हेतोर्यशः, अन्नस्य हेतोर्वसति।

अपादाने पञ्चमी (२।३।२८)—अपादाने ७।१, पञ्चमी १।१॥ अनु०—**अनभिहिते**। अर्थ—अनभिहित अपादान में पञ्चमी विभक्ति होती। जैसे—ग्रामाद् आगच्छति, वृकेभ्यो बिभेति, अध्ययनात् पराजयते।

---

१. मत्वर्थ='उसका यह' अथवा 'उसमें यह' इस अर्थ में ५।२।९४ से मतुप् प्रत्यय होता है, इस मतुप् प्रत्यय के अर्थ में अर्शआदिभ्योऽच् (५।२।१२७) से अच् प्रत्यय होता है। अच् प्रत्यय होने पर भी रूप वैसा ही रहता है, परन्तु अर्थ बदल जाता है।

कर्तृकरणयोस्तृतीया (२।३।१८)—कर्तृकरणयोः ७।२, तृतीया १।१॥ अनु०—**अनभिहिते**। अर्थ—अनभिहित कर्ता और करण में तृतीया विभक्ति होती है। जैसे—यज्ञदत्तेन वेदः पठितः, यज्ञदत्तेन भुक्तम्, दात्रेण लुनाति, परशुना छिनत्ति।

सहयुक्तेऽप्रधाने (२।३।१९)—सहयुक्ते ७।१, अप्रधाने ७।१॥ अनु०—**तृतीया**। अर्थ—सह के अर्थ वाले शब्द से युक्त अप्रधान में तृतीया विभक्ति होती है। सह शब्द का अर्थ है—साथ। दो अथवा दो से अधिक व्यक्तियों के सह कार्यकारी होने पर जो अप्रधान होगा, उससे तृतीया विभक्ति होती है। जैसे—पुत्रेण सह पिता आगतः, अमात्यैः सार्धं राजा गच्छति। यहां पिता का आगमन मुख्यतया कहना है, इसी प्रकार राजा का गमन मुख्यतया बताना इष्ट है। यदि पुत्र की आगमन क्रिया की प्रधानता कहनी होगी, तब 'पित्रा सह पुत्र आगतः' प्रयोग बनेगा। क्रिया का साक्षात् कर्ता प्रधान होगा, दूसरा उसका सहयोगी अप्रधान होगा।

येनाङ्गविकारः (२।३।२०)—येन ३।१, अङ्गविकारः १।१॥ अङ्गस्य विकारः=अङ्गविकारः। अङ्ग शब्द में मत्वर्थ में अच् प्रत्यय है[1]—अङ्गोऽस्यास्ति=अङ्ग जिसका है, उस शरीर का विकार। अनु०—**तृतीया**। अर्थ—जिस अङ्गवाची शब्द से अङ्गी=शरीर का विकार जाना जाये, उससे तृतीया विभक्ति होती है। जैसे—अक्ष्णा काणः, पादेन खञ्जः (=लंगड़ा)।

हेतौ (२।३।२३)—हेतौ ७।१॥ अनु०—**तृतीया**। फल को साधक हेतु कहते हैं। अर्थ—हेतुवाची शब्द से तृतीया विभक्ति होती है। जैसे—विद्यया यशः, धनेन कुलम्।

षष्ठी हेतुप्रयोगे (२।३।२६)—षष्ठी १।१, हेतुप्रयोगे ७।१॥ अर्थ—हेतु शब्द का साक्षात् प्रयोग होने पर हेतु (=फलसाधक) से षष्ठी विभक्ति होती है। जैसे—विद्याया हेतोर्यशः, अन्नस्य हेतोर्वसति।

अपादाने पञ्चमी (२।३।२८)—अपादाने ७।१, पञ्चमी १।१॥ अनु०—**अनभिहिते**। अर्थ—अनभिहित अपादान में पञ्चमी विभक्ति होती है। जैसे—ग्रामाद् आगच्छति, वृकेभ्यो बिभेति, अध्ययनात् पराजयते।

---

१. मत्वर्थ='उसका यह अथवा उसमें यह' इस अर्थ में ५।२।९४ से मतुप् प्रत्यय होता है, इस मतुप् प्रत्यय के अर्थ में अर्शआदिभ्योऽच् (५।२।१२७) से अच् प्रत्यय होता है। अच् प्रत्यय होने पर भी रूप वैसा ही रहता है, परन्तु अर्थ बदल जाता है।

सप्तम्यधिकरणे च (२।३।३६)—सप्तमी १।१, अधिकरणे ७।१, च अ० ॥ अनु०—अनभिहिते । अर्थ—अनभिहित अधिकरण में सप्तमी विभक्ति होती है । जैसे—कटे आस्ते, स्थाल्यां पचति ।

स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैश्च (२।३।३९)—स्वामी—प्रसूतैः ३।३, च अ० ॥ अनु०—सप्तमी, तथा सूत्र २।३।३८ से षष्ठी । अर्थ—स्वामिन् ईश्वर अधिपति दायाद साक्षिन् प्रतिभू प्रसूत इन शब्दों के योग में षष्ठी और सप्तमी विभक्ति होती है । जैसे—गवां स्वामी, गोषु स्वामी; गवामीश्वरः, गोष्वीश्वरः, गवामधिपतिः, गोष्वधिपतिः; धनस्य दायादः, धने दायादः (दायाद=उत्तराधिकारी); ऋणस्य साक्षी, ऋणे साक्षी (=ऋण देने लेने में साक्षी=प्रत्यक्ष द्रष्टा); ऋणस्य प्रतिभूः, ऋणे प्रतिभूः (प्रतिभू=जमानत देनेवाला); गवां प्रसूतः, गोषु प्रसूतः (=गौओं के मध्य में उत्पन्न हुआ)।

प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा (२।३।४६)—प्रातिपदिक—मात्रे ७।१, प्रथमा १।१ ॥ मात्र शब्द का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध है । अर्थ—प्रातिपदिकार्थमात्र में, लिङ्गमात्र में, परिमाणमात्र में, वचनमात्र में प्रथमा विभक्ति होती है । जैसे—

प्रातिपदिकार्थमात्र में—देवदत्तः ग्रामं गच्छति; देवदत्तेन ग्रामो गम्यते । पहले उदाहरण में देवदत्त 'गच्छति' क्रिया का कर्ता है; परन्तु उसके कर्तृत्व अंश को 'गच्छति' क्रिया द्वारा कहा जाता है, इसलिये देवदत्त शब्द में कर्तृत्व अंश के अभिहित हो जाने पर केवल देवदत्त का देवदत्तत्व ही कहना अवशिष्ट रहता है । इसलिये यहां प्रातिपदिकार्थमात्र देवदत्तत्व रूप अर्थ को प्रकट करने के लिये प्रथमा विभक्ति होती है । इसी प्रकार दूसरे उदाहरण में ग्राम कर्म है, परन्तु उसको 'गम्यते' [कर्मार्थक] क्रिया प्रकट कर देती है । अतः ग्राम के ग्रामत्वमात्र=प्रातिपदिकार्थमात्र को प्रकट करने के लिये इस सूत्र से प्रथमा विभक्ति होती है ।

कर्ता और कर्म के अभिहितत्व की व्याख्या अनभिहिते (२।३।१) सूत्र में (पूर्व पृष्ठ २३-२५) विस्तार से कर चुके हैं, वहां देखें ।

इसी प्रकार उच्चैः नीचैः आदि अव्ययों में प्रातिपदिकार्थमात्र (अपने अर्थ) को प्रकट करने के लिये प्रथमा विभक्ति आती है । अव्ययों में लिङ्ग संख्या का सम्बन्ध नहीं होता । अतः पद संज्ञा करने के लिये, जिससे पद संज्ञा को मानकर होनेवाले रुत्व आदि कार्य हो जावें, प्रथमा का एकवचन 'सु' ही आता है ।

लिङ्गमात्र में—कुमारी, वृक्षः, कुण्डम् । इन शब्दों में प्रातिपदिकार्थ के साथ स्त्रीत्व, पुंस्त्व और नपुंसकत्व अर्थ भी अधिक रहता है। अतः यहां लिङ्गमात्र जो प्रातिपदिकार्थ से विशिष्ट अर्थ हैं, उस को द्योतित करने के लिये प्रथमा विभक्ति आती है।

परिमाण (तोल) मात्र में—द्रोणः, खारी, आढकम् । यहां प्रातिपदिकार्थ के साथ परिमाण अर्थ विशेष विद्यमान है, अतः यहां परिमाण अर्थ में प्रथमा विभक्ति होती है। खारी=३२ सेर (लगभग ३० किलोग्राम), द्रोण=८ सेर (लगभग ७.५० किलो०), आढक=२ सेर (लगभग १ किलो० ८४० ग्राम) के बराबर होता है। देश काल के भेद से द्रोण आदि परिमाण में भिन्नता भी देखी जाती है।

वचनमात्र में—एकः, द्वौ, बहवः । इन शब्दों में अपने-अपने प्रातिपदिकार्थ के साथ वचन=संख्या एकत्व द्वित्व बहुत्व का भी संबन्ध है, अतः इनमें वचन=संख्या अर्थ में प्रथमा विभक्ति आती है। एक में एक संख्या होने से एकवचन ही आता है, द्वि शब्द में दो संख्या होने से द्विवचन ही आता है, और बहु शब्द में बहुत्व अर्थ विद्यमान होने से बहुवचन ही आता है।

सर्वनामसंज्ञक सर्वादिगण में, एक शब्द पढ़ा है। उसके दो अर्थ हैं—एक संख्या और दूसरा अन्य । एक से संख्या अर्थ में एकवचन ही होता है, परन्तु अन्य अर्थवाले एक शब्द से तीनों वचन होते हैं।

संबोधने च (२।३।४७)—संबोधने ७।१; च अ०॥ अनु०—**प्रथमा**। अर्थ—संबोधन में प्रथमा विभक्ति होती है। जैसे—हे पुरुष, हे पुरुषौ, हे पुरुषाः ।

सामन्त्रितम्—(२।३।४८)—सा १।१, आमन्त्रितम् १।१ ॥ अनु०—**प्रथमा**। अर्थ—संबोधन में प्रयुक्त प्रथमा विभक्ति आमन्त्रितसंज्ञक होती है।

एकवचनं सम्बुद्धिः (२।३।४९)—एकवचनम् १।१, सम्बुद्धिः १।१ ॥ अर्थ—संबोधन के एकवचन की संबुद्धि संज्ञा होती है।

षष्ठी शेषे (२।३।५०)—षष्ठी १।१, शेषे ७।१ ॥ अर्थ—कर्म कर्ता आदि से बचे हुये प्रातिपदिक से संबद्ध अर्थ में षष्ठी विभक्ति होती है। यह शेष बचा हुआ अर्थ, स्व-स्वामी, अवयव-अवयवी आदि अनेक प्रकार का है। जैसे—राज्ञः पुरुषः; यहां स्व-स्वामी संबन्ध है। पशोः पादः, यहां अवयव-अवयवी संबन्ध हैं। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझें।

व्याकरण-शास्त्र में आगम-विधान में षष्ठी का अवयव-अवयवी संबन्ध होता है। परन्तु जहां कोई संबन्ध नहीं जाना जाता, वहां पाणिनि ने षष्ठी का आदेश-आदेशी संबन्ध बताया है। सूत्र है—**षष्ठी स्थानेयोगा** (१।१।४८)। अर्थात् व्याकरणशास्त्र में षष्ठी (जिस का संबन्ध न जाना जाये वह) स्थाने=स्थान में इस संबन्ध की बोधक होती है। जैसे—**इको यण् अचि** (६।१।७४)=इकः=इक् के स्थान में यण् हो, अचि=अच् परे रहने पर, संहिता विषय में। **षष्ठी स्थानेयोगा** (१।१।४८) की व्याख्या देखो—प्रथम भाग पृष्ठ ९४ में।

चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि (२।३।६२)। चतुर्थ्यर्थे ७।१, बहुलम् १।१, छन्दसि ७।१॥ अनु०—**षष्ठी**। अर्थ—छन्द=वेद में चतुर्थी के अर्थ में षष्ठी विभक्ति बहुल=बहुधा होती है। जैसे—दार्वाघाटस्ते वनस्पतीनाम्। यहां वनस्पतिभ्यः (४।३) के अर्थ में षष्ठी हुई है।

षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या (२।३।६२ वा०)—षष्ठ्यर्थे ७।१, चतुर्थी १।१, वक्तव्या १।१॥ अर्थ—छन्द में षष्ठी के अर्थ में चतुर्थी भी बहुधा होती है। जैसे—या दतो धावति तस्यै श्यावदन्, याऽङ्क्ते तस्यै काणः। अर्थात् जो रजस्वला स्त्री दांतों को साफ करती है तस्यै=तस्याः उसकी काले दांतवाली सन्तान होती है, जो आंखों में अंजन लगाती है उसकी सन्तान काणी=मन्द दृष्टिवाली होती है।

यजेश्च करणे (२।३।६३)—यजेः ६।१, च अ०, करणे ७।१॥ अनु०—**षष्ठी बहुलम् छन्दसि**। अर्थ—छन्द में यज् धातु के करण में षष्ठी विभक्ति बहुल करके होती है। जैसे—सोमस्य यजति; सोमेन यजति।

कर्तृकर्मणोः कृति (२।३।६५)—कर्तृकर्मणोः ७।२, कृति ७।१॥ अनु०—**षष्ठी**। अर्थ—कृत्संज्ञक प्रत्ययान्तों के योग में [उन क्रियाओं के] कर्ता और कर्म में षष्ठी विभक्ति होती है। जैसे—भवतः शायिका (आप का सोने का पर्याय)। यहां शयन क्रिया का कर्ता भवत् है, उसमें षष्ठी विभक्ति हुई। इसी प्रकार—भवतः आसिका (=आप के बैठने का पर्याय)। कर्म में =अपां स्रष्टा (जलों का उत्पन्न करनेवाला), पुरां भेत्ता (=शत्रुओं के पुरों=नगरों को नष्ट करनेवाला)। यहां सृजन क्रिया का 'अप्' और भेदन क्रिया का 'पुर' कर्म है, उनमें षष्ठी विभक्ति होती है।

उभयप्राप्तौ कर्मणि (२।३।६६)—उभयप्राप्तौ ७।१, कर्मणि ७।१॥ अनु०—**षष्ठी कृति**। अर्थ=कृत्प्रत्ययान्तों के योग में जहां कर्ता और

कर्म दोनों में [पूर्व सूत्र से] षष्ठी प्राप्त हो, वहां कर्म में ही षष्ठी होती है। जैसे—आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपालकेन—जो ग्वाला नहीं है, उससे गौवों का दूहा जाना आश्चर्यजनक है।

विशेष व्याख्या—जहां अकर्मक धातुओं से भाव में कृत् प्रत्यय होगा वहां कर्ता में, और जहां सकर्मक धातुओं से कर्ता में कृत् प्रत्यय होगा वहां कर्म में पूर्व (२।३।६५) सूत्र से षष्ठी होगी। परन्तु जहां सकर्मक धातु से भाव (भावार्थ) में प्रत्यय होगा वहां भावप्रत्ययान्त कृदन्त के योग में पूर्व सूत्र (२।३।६५) से उस धातु के कर्ता और कर्म दोनों में षष्ठी प्राप्त होती है। उसका यह (२।३।६६) सूत्र नियमन करता है कि कर्म में ही षष्ठी हो। उपर्युक्त उदाहरण में दोहः (भावार्थक घञ्-प्रत्ययान्त) के योग में दोहन क्रिया के कर्ता 'अगोपालक' और कर्म 'गो' दोनों में षष्ठी प्राप्त होती है। इस सूत्र से कर्म में षष्ठी होती है, और अनभिहित कर्ता में कर्तृकरणयोस्तृतीया (२।३।१८) से तृतीया विभक्ति हो जाती है।



कृत्यानां कर्तरि वा (२।३।७१)—कृत्यानाम् ६।३, कर्तरि ७।१, वा अ० ॥ अनु०—षष्ठी। कृत्संज्ञक प्रत्ययों (३।१।९३ से ३।४।६६) के अन्तर्गत ही कृत्यसंज्ञक प्रत्यय (३।१।९५ से ३।१।१२३ तक) कहे गये हैं। इस कारण कृत्य प्रत्ययों की कृत् संज्ञा भी होती है। अतः कृत्यसंज्ञक (जिनकी कृत्संज्ञा भी है) प्रत्ययों के योग में कर्तृकर्मणोः कृति (२।३।६५) से कर्ता में षष्ठी विभक्ति प्राप्त होती है। उसके विषय में यह सूत्र है। अर्थ—कृत्य प्रत्ययान्तों के योग में कर्ता में विकल्प से षष्ठी विभक्ति होती है। जैसे—भवतः कटः कर्तव्यः, भवता कटः कर्तव्यः। जब कर्ता में षष्ठी न हो होगी, तब अनभिहित कर्ता में तृतीया विभक्ति हो जायेगी।

तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयान्यतरस्याम् (२।३।७२)—तुल्यार्थैः ३।३, अतुलोपमाभ्याम् ३।२, तृतीया १।१, अन्यतरस्याम् अ० ॥ अनु०—षष्ठी। अर्थ—तुला और उपमा शब्द को छोड़कर अन्य तुल्यार्थवाची शब्दों के योग योग में तृतीया विभक्ति विकल्प से होती है, पक्ष में षष्ठी विभक्ति होती है। जैसे—तुल्यो देवदत्तेन, तुल्यो देवदत्तस्य; सदृशो देवदत्तेन, सदृशो देवदत्तस्य।

चतुर्थी चाशिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः (२।३।७३)—चतुर्थी १।१, च अ०, आशिषि ७।१, आयुष्य—हितैः ३।३ ॥ अनु०—अन्यतरस्याम्। अर्थ—आशीर्वाद गम्यमान होने पर आयुष्य मद्र भद्र कुशल सुख अर्थ और हित शब्द तथा इनके पर्यायवाची शब्दों के योग में चतुर्थी

विभक्ति विकल्प से होती है। पक्ष में षष्ठी शेषे (२।३।५०) से षष्ठी विभक्ति होती है। जैसे—आयुष्यं देवदत्ताय देवदत्तस्य वा भूयात्; चिरं जीवितं देवदत्ताय देवदत्तस्य वा भूयात्; मद्रं देवदत्ताय देवदत्तस्य वा भूयात्; भद्रं देवदत्ताय देवदत्तस्य वा भूयात्; कुशलं देवदत्ताय देवदत्तस्य वा भूयात्, निरामयं देवदत्ताय देवदत्तस्य वा भूयात्; सुखं देवदत्ताय देवदत्तस्य वा भूयात्, शं देवदत्ताय देवदत्तस्य वा भूयात्; अर्थो देवदत्ताय देवदत्तस्य वा भूयात्; हितं देवदत्ताय देवदत्तस्य वा भूयात्॥

इति कारक-विभक्ति-प्रकरणम् ॥

तृतीय-प्रकरण

समास

समास शब्द का मूल अर्थ है—संक्षेप। समासेन ब्रवीति=संक्षेप से कहता है। व्यास शब्द का अर्थ है—फैलाव। व्यासेन ब्रवीति=विस्तार से कहता है।

व्याकरणशास्त्र की समास- संज्ञा में भी यही मूल अर्थ विद्यमान है। जिन पदों का समास होता है, उनका पृथक्-पृथक् पदत्व नष्ट हो जाता है, मिलकर एक पद बन जाता है। इस कारण जिन पदों में पृथक्-पृथक् विभक्तियां रहती हैं, समास हो जाने पर उन विभक्तियों की निवृत्ति होकर समुदाय से एक नई विभक्ति आती है। जैसे—राज्ञः पुरुषः=राजपुरुषः। यहां राजन् से परे वर्तमान 'ङस्' और पुरुष से परे वर्तमान 'सु' विभक्ति का लोप होकर नई विभक्ति प्रथम पुरुष का एकवचन 'सु' आया है। इसी प्रकार समास से पूर्व प्रत्येक पद का अपना-अपना स्वतन्त्र स्वर होता है, परन्तु समास हो जाने पर पृथक्-पृथक् स्वरों की निवृत्ति होकर समुदाय का एक स्वर हो जाता है। यथा—राज्ञःपुरुषः=राजपुरुषः। इस प्रकार व्याकरणशास्त्रीय समास में भी दो पदों का एक पद होना, अनेक (उदात्त) स्वरों का एक (उदात्त) स्वर हो जाना, संक्षेप करना ही है।

समास-प्रकरण को आरम्भ करने से पूर्व हम समास-सम्बन्धी कुछ सामान्य कार्य विधायक सूत्रों का निर्देश कर देना आवश्यक समझते हैं (विशेष कार्य समासान्त प्रत्यय और लिङ्ग का विधान समास-प्रकरण के अन्त में करेंगे)। यथा—

समर्थः पदविधिः (२।१।१)—समर्थः १।१ (षष्ठी के अर्थ में प्रथमा), पदविधिः १।१। पदस्य पदयोः पदानां वा विधिः=पदविधिः। अर्थ—पद-सम्बन्धी विधि समर्थों को होती है। समर्थता दो प्रकार की होती है—संगतार्थता=एकीभाव (जैसे—जल में जल मिलकर एक हो जाते हैं), और व्यपेक्षा=एक-दूसरे की अपेक्षा रखना (जैसे—लोहे और चुम्बक का एक-दूसरे के प्रति खिचाव होता है)।

यह परिभाषा सूत्र है। परिभाषा सूत्र चाहे किसी भी प्रकरण में पढ़े गये हों, उनके कार्य का क्षेत्र सारा शास्त्र होता है। जैसे दीपक कमरे के किसी भी कोने में क्यों न रखा हो, उसका प्रकाश पूरे कमरे में व्याप्त होकर सभी पदार्थों का ज्ञान कराता है। इसी प्रकार **समर्थः पदविधिः** सूत्र यद्यपि अष्टाध्यायी में समास-प्रकरण के आदि में पढ़ा गया है, परन्तु इसका कार्य-क्षेत्र सारे शास्त्र में आगे-पीछे सर्वत्र व्याप्त है।

इस सूत्र के नियम से समास भी उन्हीं पदों का होगा, जिनकी परस्पर में संबद्धता अथवा अपेक्षा=आकांक्षा होगी। यथा—अग्नेः तेजः=अग्नि-तेजः, यहां षष्ठी समास हो जायगा, क्योंकि अग्नि और तेज का परस्पर संबन्ध है, परन्तु 'अग्नेः तमः' यहां समास नहीं होगा, क्योंकि अग्नि और तम का कोई संबन्ध नहीं है, परस्पर विरोध है। इसी प्रकार राज्ञः भार्या=राजभार्या, यहां परस्पर अपेक्षा होने से समास हो जायगा, परन्तु 'पुरुषो राज्ञः भार्या देवदत्तस्य' यहां समीप में पठित होने पर भी 'राज्ञः भार्या' पदों का समास नहीं होगा, क्योंकि 'राज्ञः' पद 'पुरुषः' से सम्बद्ध है, और भार्या पद का सम्बन्ध देवदत्त के साथ है। इससे यह स्पष्ट समझ लेना चाहिये कि समास परस्पर समर्थ=संबन्ध रखनेवाले पदों का ही होगा।

सह सुपा (२।१।४)—सह-अ०। सुपा ३।१। अनु०—सुप् (२।१।२ से), समासः (२।१।३ से)। अर्थ—सुप् सुपा सह समासः। अर्थात् सुबन्त का सुबन्त के साथ समास होता है। यह अधिकार है।

इस नियम के अनुसार सुबन्त पदों का ही समास होगा। और विग्रह में जिन पदों का समास किया जाता है, उनका राज्ञः पुरुषः (राजन् ङस्+

पुरुष सु) अथवा पुरुषः राज्ञः (पुरुष सु+राजन् ङस्) दोनों प्रकार से निर्देश हो सकता है। इसलिये समास करने पर किस पद का प्रथम प्रयोग हो, इसके लिये सामान्य नियम (विशेष नियम समास प्रकरण के अन्त में देखें) यह है—

प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्[1]—(१।२।४३)—समास=समास-विधायक सूत्र (जिस सूत्र से समास किया जाये) में जो पद प्रथमा विभक्ति से निर्दिष्ट=उच्चरित हो, उसकी उपसर्जन संज्ञा होती है। जैसे—

आङ् मर्यादाभिविध्योः (२।१।१३) में आङ् प्रथमान्त है।

द्वितीया श्रितातीत—प्राप्तापन्नैः (२।१।२३) में द्वितीया (=द्वितीयान्त) का प्रथमा से निर्देश किया है।

विशेषणं विशेष्येण बहुलम् (२।१।५६) में विशेषण शब्द प्रथमान्त है।

षष्ठी (२।२।८) में षष्ठी (षष्ठ्यन्त) का प्रथमा से निर्देश है। इसी प्रकार सर्वत्र समझें।

उपसर्जनम् पूर्वम्[2] (२।२।३०) समास में जिसकी उपसर्जन संज्ञा की है, उसका पूर्व प्रयोग किया जाता है। अतः विग्रह चाहे राज्ञः पुरुषः करें, चाहे पुरुषः राज्ञः, षष्ठी (२।२।८) सूत्र से समास कर लेने पर उपसर्जन-संज्ञक षष्ठ्यन्त राज्ञः का ही पूर्व प्रयोग होगा।

शास्त्रीय कार्य करते समय विग्रह भी राजन्+ङस् पुरुष+सु अथवा पुरुष+सु राजन्+ङस् ऐसा प्रातिपदिक और विभक्ति का कच्चा रूप ही दर्शाना चाहिये, लौकिक विग्रह राज्ञः पुरुषः अथवा पुरुषः राज्ञः नहीं। लौकिक विग्रह-वाक्य तो लोक में प्रयोग के लिये युक्त होता है, शास्त्रीय कार्य के लिये नहीं।

कृत्तद्धितसमासाश्च[3] (१।२।४६)—से कृत्-तद्धित-प्रत्ययान्त और समास की प्रातिपदिक संज्ञा होती है। इस नियम के अनुसार राज्ञः पुरुषः राजन् ङस्+पुरुष सु) पदों का समास होकर 'राजन् ङस् पुरुष सु' इतने समस्त शब्दों की प्रातिपदिक संज्ञा होती है।

---

१. भाग १, पृष्ठ ८८ पर व्याख्यात। २. भाग १, पृष्ठ ८३ पर व्याख्यात।
३. भाग १, पृष्ठ ८३, ८८ पर व्याख्यात।

सुपो धातुप्रातिपदिकयोः (२।४।७१)—सुपः ६।१, धातुप्रातिपदिकयोः ६।२ ॥ अनु०—सूत्र २।४।५८ से लुक् । 'धातुप्रातिपदिकयोः' में षष्ठी अवयव-अवयवी संबन्ध में है—धातु और प्रातिपदिक का अवयव। अर्थ—धातुसंज्ञक और प्रातिपदिकसंज्ञक (समुदाय) का अवयव जो सुप्, उसका लुक् (अदर्शन=लोप) होता है । इस सूत्र से 'राजन् ङस् आर्य सु' प्रातिपदिकसंज्ञक समुदाय के अवयवरूप 'ङस्' और 'सु' का लुक् होता है । शेष रहा='राजन् पुरुष' ।

प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्[1] (१।१।६१)—से प्रत्यय के लोप=अदर्शन होने पर भी प्रत्ययलक्षण (=प्रत्यय को मानकर होनेवाला) कार्य हो जाता है । इस परिभाषा से 'ङस्' प्रत्यय को मानकर **सुप्तिङन्तम् पदम्**[2] (१।४।१४) से राजन् को पद संज्ञा हो जाती है । पद संज्ञा होने से—

नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य (८।२।७)—नलोपः १।१, प्रातिपदिकान्तस्य ६।१॥ अनु०—**पदस्य** (८।१।१६ से) । अर्थ—पदसंज्ञक प्रातिपदिक के अन्त में वर्तमान 'न' का लोप होता है । इससे न् का लोप होने पर 'राजपुरुष' बन गया । इसकी प्रातिपदिक संज्ञा होने से भाग १ पृष्ठ ५५-५६ में बताई गई पुरुषः की सिद्धि के समान 'राजपुरुष' से प्रथमा विभक्ति के एकवचन में 'सु' प्रत्यय आकर राजपुरुषः प्रयोग बनेगा ।

यह समास-प्रकरण का सामान्य कार्य है । इसके अनुसार—

१. दो या अधिक सुबन्तों का समास होगा ।

२. समास संज्ञा होकर दोनों सुबन्तों के समुदाय की प्रातिपदिक संज्ञा होगी ।

३. प्रातिपदिक संज्ञा होने पर प्रातिपदिक-संज्ञक समुदाय में पूर्व और उत्तर पद से परे विद्यमान विभक्तियों का लुक् होगा ।

४. पूर्वपद से उत्तर लोप हुई विभक्ति को प्रत्यय-लक्षण मानकर पूर्व की पद संज्ञा होगी, और पदसंज्ञा को मानकर होनेवाले—

नलोप—राज्ञः पुरुषः=राजपुरुषः ।

चवर्ग को कवर्ग—वाचाम् ईश्वरः=वागीश्वरः ।

झलों को जश्—जगतः ईशः=जगदीशः ।

---

१. भाग १, पृष्ठ ८३ पर व्याख्यात । २. भाग १, पृष्ठ ६६ पर व्याख्यात ।

३. भाग १, पृष्ठ ८६ पर व्याख्यात ।

आदि-आदि यथाप्राप्त विधियां कर लेनी चाहियें।

विग्रह-निदर्शन—समास का विग्रह-निदर्शन लोक में प्रयुक्त पदों के रूप में दर्शाना चाहिये। जैसे—राज्ञः पुरुषः=राजपुरुषः, वाचाम् ईश्वरः= वागीश्वरः। परन्तु समास करने के लिये सुबन्त शब्द का शास्त्रीय कच्चा रूप लिखना या दर्शाना चाहिये। जैसे—राजन् ङस्+पुरुष सु=राजपुरुषः; वाच् आम्+ईश्वर सु=वागीश्वरः।

अब समास-विधायक कतिपय प्रमुख सूत्र लिखते हैं—

प्राक्कडारात् समासः (२।१।३)—प्राक् १।१, कडारात् ५।१, समासः १।१॥ अर्थ—कडार शब्द (**कडाराः कर्मधारये** २।२।३८) से पूर्व तक समास का अधिकार है। अर्थात् २।२।३७ तक समास का विधान जानना चाहिये।

सह सुपा (२।१।४) इसी प्रकरण (पृष्ठ ३३) में व्याख्यात—सुबन्त के साथ सुबन्त का समास होता है।

अव्ययीभाव समास

अव्ययीभावः (२।१।५)—अव्ययीभावः १।१॥ इस सूत्र का २।१।२० तक अधिकार है। अर्थ—यहां से आगे जिस समास का विधान किया जायेगा, वह अव्ययीभाव-संज्ञक होता है।

विभाषाऽपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या (२।१।११)—विभाषा १।१, अपपरिबहिरञ्चवः १।३, पञ्चम्या ३।१॥ अनु०—सुप् सह सुपा अव्ययीभावः। अर्थ अप परि बहिर् और अञ्चु (से बना शब्द) ये सुबन्त पञ्चम्यन्त सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त होते हैं, और अव्ययीभाव-संज्ञक होते हैं। जैसे—अपत्रिगर्तं वृष्टो देवः, अपत्रिगर्तेभ्यः; परित्रिगर्तम्, परित्रिगर्तेभ्यः; बहिर्ग्रामम्, बहिर्ग्रामात्; प्राग्ग्रामम्, प्राग्ग्रामात्।

विशेष—इस सूत्र के **विभाषा** पद की अनुवृत्ति अगले प्रत्येक सूत्र के साथ संबद्ध होती है। विभाषा समास का विधान होने से पक्ष में विग्रह-वाक्य का भी लोक में प्रयोग होता है।

अव्ययीभाव समास की **अव्ययीभावश्च** (१।१।४०) से अव्यय संज्ञा की है। अव्यय संज्ञा होने से **अव्ययाद् आप्सुपः** (२।४।८२) सूत्र से समास से उत्पन्न विभक्ति का लोप प्राप्त होता है। परन्तु अकारान्त अव्ययीभाव के लिये विशेष नियम है—

नाव्ययीभावादतोऽम्त्वपञ्चम्याः (२।४।८३)—न अ०, अव्ययीभावात् ५।१, अतः ५।१, अम् १।१, तु अ०, अपञ्चम्याः ६।१॥ अनु०—**सुपः लुक् अव्ययात्**। अर्थ—ह्रस्व अकारान्त अव्ययीभावसंज्ञक अव्यय से परे सुप् का लुक् नहीं होता, किन्तु सुप् के स्थान में 'अम्' हो जाता है, पञ्चमी को छोड़कर।

'अप सु+त्रिगर्त भ्यस्' की प्रातिपदिक संज्ञा होकर '**सुपो धातुप्रातिपदिकयोः**' (२।४।७१) से 'सु-भ्यस्' का लोप हो जाने पर 'अपत्रिगर्त' 'अव्ययीभाव' समास से उत्पन्न 'सु' के स्थान में 'अम्' आदेश हो गया—'अपत्रिगर्त अम्' इस अवस्था में **अमि पूर्वः**[1] (६।१।१०३) से पूर्वरूप एकादेश होकर **अपत्रिगर्तम्** प्रयोग बनता है। इसी प्रकार अन्य विभक्ति वचनों में भी समझना चाहिये।

आङ् मर्यादाभिविध्योः (२।१।१२)—आङ् १।१, मर्यादाभिविध्योः ७।२॥ अनु०—**सुप् सह सुपा अव्ययीभावः विभाषा पञ्चम्याः**। अर्थ—मर्यादा और अभिविधि अर्थ में वर्तमान आङ् सुबन्त पञ्चम्यन्त सुबन्त के साथ समास को प्राप्त होता है। जैसे—आपाटलिपुत्रं वृष्टो देवः, आ पाटलिपुत्रात्; आकुमार यशः पाणिनेः, आ कुमारेभ्यः। पहला उदाहरण मर्यादा का है, दूसरा अभिविधि का। मर्यादा और अभिविधि का भेद पूर्व पृष्ठ १० पर स्पष्ट किया है। "आकुमारम्" का अर्थ है—कुमारों = बालकों तक, पाणिनि आचार्य का यश व्याप्त हो गया।

लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये (२।१।१३)—लक्षणेन ३।१, अभिप्रती १।२, आभिमुख्ये ७।१॥ अनु०—**सुप् सह सुपा अव्ययीभावः विभाषा**। अर्थ—आभिमुख्य = संमुखता अर्थ में वर्तमान अभि प्रति लक्षणवाची सुबन्त सुबन्त के साथ विभाषा अव्ययीभाव समास को प्राप्त होते हैं। जैसे—अभ्यग्नि शलभाः पतन्ति, अग्निम् अभि; प्रत्यग्नि शलभाः पतन्ति, अग्नि प्रति। अर्थात् अग्नि को लक्षित करके उसके सम्मुख शलभ = पतङ्ग गिरते हैं। अभ्यग्नि, प्रत्यग्नि में अव्ययीभाव की अव्यय संज्ञा होने से **अव्ययादाप्सुपः** (२।४।८२) से सुप् का लोप हो जाता है।

अनुर्यत्समया (२।१।१४)—अनुः १।१, यत्समया अ०। यस्य समया (=समीपम्) यत्समया। अनु०—**सुप् सह सुपा अव्ययीभावः विभाषा लक्षणेन**। अर्थ—अनु शब्द जिसकी समीपता को कहता है, उस लक्षणभूत सुबन्त के साथ विभाषा अव्ययीभाव समास को प्राप्त होता है। जैसे—

1. भाग १, पृष्ठ १०७ पर व्याख्यात।

अनुवनम् अशनिर्गतः, अनुवृक्षं विद्योतते विद्युत् । सामासाभाव पक्ष में 'अनु वनम्' दो पृथक् पद रहेंगे । अशनि = बिजली कहाँ पड़ी, इसका उत्तररूप वाक्य है—अनुवनमशनिर्गतः = वन के समीप अशनि गिरी । वृक्ष के समीप = वृक्ष को लक्षित करके बिजली चमक रही है ।

यस्य चायामः (२।१।१४)—यस्य ६।१, च अ०, आयामः १।१ ॥ अनु०—सुप् सह सुपा अव्ययीभावः विभाषा लक्षणेन अनु । अर्थ—अनु शब्द जिसके आयाम = लम्बाई को बताता है, उस लक्षणवाची सुबन्त के साथ विकल्प करके अव्ययीभाव समास को प्राप्त होता है । जैसे-अनुगङ्गं वाराणसी-वाराणसी की लम्बाई गङ्गा के अनु = अनुसार = साथ है, अर्थात् वाराणसी गङ्गा के साथ-साथ लम्बी बसी हुई है । इसी प्रकार—अनुगङ्गं पाटलिपुत्रम्, अनुयमुनं मथुरा । ये प्राचीन उदाहरण हैं । पुराने समय में नगर नदी या सड़क के साथ-साथ लम्बाई में बसते थे । इस प्रकार की बसावट से नैत्यिक कार्य स्नान सन्ध्यावन्दन आदि के लिये नदी किनारे या जङ्गल में जाकर उन्हें करने में सुगमता होती थी । मनुस्मृति में कहा है—

अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः ।
सावित्रीमप्यधीयीत गत्वारण्यं समाहितः ॥२।१०४॥

अर्थात्—जलों (नदी तालाब कूप) के समीप अथवा जंगल में जाकर गायत्री का जप करे ।

विशेष—अब यहां से आगे सुप् सह सुपा विभाषा इन सामान्य पदों की अनुवृत्ति प्रतिसूत्र नहीं दिखायेंगे । इनका सारे समास-प्रकरण में सम्बन्ध सर्वत्र समझ लेना चाहिये ।

तत्पुरुष समास

तत्पुरुषः (२।१।२१)—तत्पुरुषः १।१ ॥ अर्थ—'तत्पुरुषः' का २।२।२२ तक अधिकार है । यहां से आगे २।२।२२ तक जिस समास का विधान करेंगे, उसकी 'तत्पुरुष' संज्ञा होगी ।

द्विगुश्च (२।१।२२)—द्विगुः १।१, च अ० । अनु०—तत्पुरुषः । अर्थ—द्विगु समास तत्पुरुषसंज्ञक भी होता है ।

आगे **संख्यापूर्वो द्विगुः** (२।१।५१) से संख्यावाची सुबन्त जिसके पूर्व में हो, उसकी द्विगु संज्ञा का विधान करेंगे । **आकडारादेका संज्ञा** (१।४।१) सूत्र द्वारा नियम किया है कि कडाराः **कर्मधारये** (२।२।३८) तक एक ही

संज्ञा होती है। और विप्रतिषेधे परं कार्यम्[1] (१।४।२) सूत्र से दो संज्ञायें प्राप्त होने पर परसंज्ञा ही हो, यह नियम कर चुके हैं। अतः इस नियम से यहां भी तत्पुरुष अधिकार से तत्पुरुष, और संख्यापूर्वो द्विगुः (२।१।५१) से द्विगु संज्ञा प्राप्त होने पर केवल परे होनेवाली संज्ञा द्विगु ही प्राप्त होती है। अतः द्विगुश्च (२।१।२२) सूत्र द्वारा द्विगु समास की तत्पुरुष संज्ञा पुनः की है।

द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः (२।१।२३)—द्वितीया १।१, श्रिता—प्राप्तापन्नैः ३।३। ॥ अनुवृत्ति—तत्पुरुषः। अर्थ—द्वितीयान्त सुबन्त, श्रित अतीत पतित गत अत्यस्त प्राप्त आपन्न सुबन्तों के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त होता है और उस समास की तत्पुरुष संज्ञा होती है। जैसे—कष्टं श्रितः—कष्टश्रितः, नरकश्रितः; कान्तारम् अतीतः—कान्तारातीतः (कान्तार=जंगल); नरकं पतितः—नरकपतितः; ग्रामं गतः—ग्रामगतः; तरङ्गम् अत्यस्त—तरङ्गात्यस्तः (लहरों के प्रति या लहरों में फेंका गया), तुहिनात्यस्तः (तुहिन=शीत=हिम); सुखं प्राप्तः—सुखप्राप्तः, दुःखप्राप्तः; सुखम् आपन्नः—सुखापन्नः, दुःखापन्नः (आपन्नः=सब ओर से प्राप्त=घिरा हुआ)।

स्वयं क्तेन (२।१।२४)—स्वयम् अ०, क्तेन ३।१ ॥ अनु०—तत्पुरुषः। यद्यपि द्वितीया का अधिकार है, पुनरपि स्वयम् के अव्यय होने से द्वितीया का सम्बन्ध इस सूत्र में नहीं लगता। अर्थ—स्वयं अव्यय पद क्तान्त पद के साथ समास को विभाषा प्राप्त होता है, और वह तत्पुरुष संज्ञक होता है। जैसे—स्वयंधौतौ पादौ (=अपने आप धोये हुये पैर), स्वयंविलीनमाज्यम्[1] (=स्वयं पिघला हुआ आज्य[2])।

विशेष—'स्वयम्' के अव्यय होने से यहां 'राजपुरुष' के समान समास होने से पूर्वपद से उत्तर विभक्ति का लोप नहीं होता (क्योंकि अव्यय से

१. मैत्रायणी संहिता २।३।६॥ समास होने से 'स्वयंविलीनम्' अन्तोदात्त (६।१।२१७ से) है।

२. लोक में आज्य और घृत पर्यायवाची हैं, परन्तु उक्त वैदिक वाक्य में स्वयं (=साधारण गरमी से) पिघले हुये मक्खन को 'आज्य' कहा है। साधारणतया अग्नि पर गरम करके तैयार किया हुआ 'घृत' कहाता है। 'आज्यं वै देवानाम्, घृतं मनुष्याणाम्' वचनानुसार देवयज्ञ में आज्य का प्रयोग इष्ट है, और मानव-व्यवहार में घृत का व्यवहार होता है।

परे विभक्ति स्वभावतः नहीं रहती)। अतः समास का विभक्ति लोप कार्य यहां न होने पर भी पृथक्-पृथक् पदों के पृथक्-पृथक् स्वरों को हटाकर एक स्वर का विधान करना समास का प्रयोजन है। समासाभाव पक्ष में पदों का पृथक् स्वर रहेगा।

विशेष — यहां से आगे अनुवृत्ति और अर्थ में 'तत्पुरुषः' का निर्देश नहीं करेंगे। अधिकार होने से सर्वत्र 'तत्पुरुष समास' समझें।

खट्वा क्षेपे (२।१।२५)—खट्वा १।१; क्षेपे ७।१ ॥ अनु० — **द्वितीया क्तेन**। अर्थ — क्षेप = निन्दा जानी जाये तो द्वितीयान्त खट्वा शब्द से क्तान्त सुबन्त का समास होता है। जैसे — खट्वाम् आरूढः — खट्वारूढः। मूल अभिप्राय ब्रह्मचारी के लिये खाट पर सोने के नियम का भङ्ग करना है, परन्तु यह अनुचित मार्ग में प्रवृत्त होने का उपलक्षण है। इसलिये सभी अविनीत विमार्गगामी खट्वारूढ कहे जाते हैं।

विशेष — यद्यपि **विभाषा** का अधिकार है, परन्तु समास के अभाव में विग्रह-वाक्य 'खट्वाम् आरूढः' द्वारा निन्दा प्रतीत नहीं होती। समस्त पद से ही निन्दा अर्थ प्रतीत होता है, इसलिये यह नित्य समास है।

सामि (२।१।२७)—सामि अ० ॥ अनु० — **क्तेन**। यहां भी 'सामि' के अव्यय-संज्ञक होने से 'द्वितीया' का सम्बन्ध नहीं लगता। अर्थ — सामि अव्यय क्तान्त सुबन्त के साथ विभाषा समास को प्राप्त होता है। जैसे — सामिकृतम्, सामिभुक्तम्। 'सामि' अव्यय अर्ध का वाचक है। यहां भी सामि शब्द के अव्यय होने से समास पक्ष में एकस्वर होना ही प्रयोजन है।

तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन (२।१।२९)—तृतीया १।१, तत्कृतार्थेन ३।१, गुणवचनेन ३।१ ॥ तेन कृतः = तत्कृतः = तृतीयान्त पद से द्योत्य पदार्थ से किया गया; तत्कृतश्च अर्थश्च = तत्कृतार्थः, तेन। अर्थ — तृतीयान्त सुबन्त तत्कृत (= तृतीयान्त से किये गये) गुणवचन (= गुण-वाचक) शब्द के साथ और अर्थ शब्द के साथ विभाषा समास को प्राप्त होता है। जैसे — शङ्कुलया खण्डः — शङ्कुलाखण्डः (= शङ्कुला = सरोते या गड़ासे किया गया खण्ड), किरिणा काणः — किरिकाणः (= किरि = अक्षिरोग विशेष से किया गया काणापन = अल्पदृष्टिपना); धान्येन अर्थः — धान्यार्थः मम वर्तते (= मेरा धान्य से अर्थ = प्रयोजन है)।

पूर्वसदृशसमोनार्थकलहनिपुणमिश्रश्लक्ष्णैः (२।१।३०)—पूर्व—श्लक्ष्णैः ३।३ ॥ अनु० — तृतीया। अर्थ — तृतीयान्त सुबन्त पूर्व सदृश सम

ऊनार्थ (=ऊन=न्यून के वाचक) कलह निपुण मिश्र श्लक्ष्ण सुबन्तों के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होते हैं। जैसे—मासेन पूर्वः—मासपूर्वः, संवत्सरपूर्वः; मात्रा सदृशः—मातृसदृशः, पितृसदृशः; मात्रा समः—मातृसमः, पितृसमः; ऊनार्थ—माषेण ऊनम्—माषोनम्, माषेण विकलम्—माषविकलम्; असिना कलहः—असिकलहः, वाक्कलहः; वाचा निपुणः—वाङ्निपुणः आचारनिपुणः; गुडेन मिश्रः—गुडमिश्रः, तिलमिश्रः; आचारेण श्लक्ष्णः—आचारश्लक्ष्णः (=आचार से अच्छा)।

अन्नेन व्यञ्जनम् (२।१।३३)—अन्नेन ३।१, व्यञ्जनम् १।१॥ अनु०—**तृतीया**। अन्न=संस्कार्य (जिसको उत्तम बनाया जाये) भक्ष्य-पदार्थ, यथा ओदन आदि। व्यञ्जन=संस्कारक, यथा दूध दही दाल आदि। अर्थ—व्यञ्जनवाची तृतीयान्त सुबन्त अन्नवाची सुबन्त के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होता है। जैसे—दध्ना (उपसिक्ताः) ओदनाः—दध्योदनाः, क्षीरौदनाः।

चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः (२।१।३५)—चतुर्थी १।१, तदर्थार्थ—रक्षितैः ३।३॥ तस्मै अर्थः—तदर्थः=उसके (=चतुर्थ्यन्त के) लिये जो। अर्थ—चतुर्थ्यन्त सुबन्त तदर्थ अर्थ बलि हित सुख रक्षित शब्दों के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होता है। जैसे—यूपाय दारु—यूपदारु, कुण्डलहिरण्यम्; ब्राह्मणाय इदं—ब्राह्मणार्थं पयः; भूतेभ्यः बलिः—भूतबलिः, महाराजबलिः; गवे हितम्—गोहितम्, अश्वहितम्; गवे सुखम्—गोसुखम्, अश्वसुखम्; गवे रक्षितम्—गोरक्षितम्।

विशेष—(१) तदर्थ (चतुर्थ्यन्त के लिये जो) का समास जहाँ प्रकृति-विकृतिभाव हो, वहीं होता है। जैसे—यूप (=खम्बा) लकड़ी से बनता है, अतः दारु प्रकृति और यूप विकृति (=विकार) है। इसी प्रकार हिरण्य=सोना प्रकृति और कुण्डल उसका विकार है।

(२) अर्थ शब्द के साथ नित्य समास होता है। नित्य समास का उन्हीं पदों से विग्रह नहीं होता, जिनका समास होता है। यदि उन्हीं पदों से विग्रह हो जावे, तो नित्य समास नहीं हो सकता। इसी अभिप्राय को **अस्वपदविग्रहो नित्यसमासः** शब्दों द्वारा प्रकट किया जाता है। इसलिये नित्य समास का अर्थ बताने के लिये एक पद तो वही होता है जिसका समास होता है, और दूसरा उस अर्थ को प्रकट करनेवाला अन्य शब्द होता है। इसी कारण **ब्राह्मणार्थम्** का अर्थ **ब्राह्मणाय इदम्** रूप से दर्शाया जाता है।

(३)—अर्थ शब्दान्त जो समास होता है, उसका वाच्यानुसार लिङ्ग होता है। यथा—ब्राह्मणार्थं पयः, ब्राह्मणार्थो यवागूः, ब्राह्मणार्थः सूपः।

पञ्चमी भयेन (२।१।३६)—पञ्चमी १।१, भयेन ३।१॥ अर्थ—पञ्चम्यन्त सुबन्त 'भय' सुबन्त के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होता है। जैसे—वृकाद् भयम्—वृकभयम्, चौरभयम्।

सप्तमी शौण्डैः (२।१।३९)—सप्तमी १।१, शौण्डैः ३।३॥ बहुवचन से निर्देश गण के लिये किया है। अर्थ—सप्तम्यन्त सुबन्त शौण्डादि-सुबन्तों के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होता है। जैसे—अक्षेषु शौण्डः—अक्षशौण्डः, अक्षधूर्त्तः (=जुवा खेलने में चतुर वा धूर्त)।

क्तेनाहोरात्रावयवाः (२।१।४४)—क्तेन, ३।१, अहोरात्रावयवाः १।३॥ अनु०—सप्तमी। अर्थ—सप्तम्यन्त अहोरात्र (दिन-रात) के अवयववाचक सुबन्त क्तप्रत्ययान्त सुबन्त के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होते हैं। जैसे—पूर्वाह्णे कृतम्—पूर्वाह्णकृतम्, अपराह्णे कृतम्—अपराह्णकृतम्; पूर्वरात्रे भुक्तम्—पूर्वरात्रभुक्तम्, अपररात्रभुक्तम्।

क्षेपे (२।१।४८)—क्षेपे ७।१॥ अनु०—सप्तमी। अर्थ—क्षेप=निन्दा गम्यमान हो तो सप्तम्यन्त सुबन्त क्तान्त सुबन्त के साथ समास को प्राप्त होता है। जैसे—उदके विशीर्णं तव एतत् (=जल में फेंका गया), भस्मनिहुतं तव एतत् (=भस्म=राख, में आहुति दिया गया)। इसका सामान्य अर्थ क्रिया की निष्फलता प्रकट करना है, इससे निन्दा द्योतित होती है।

विशेष—(१) समास से ही निन्दा जानी जाती है। इसलिये यहां भी पूर्व सूत्र (२।१।३५) के समान विभाषा की अनुवृत्ति होने पर भी नित्य समास होता है।

(२) समास होने पर पूर्व पद की विभक्ति का लुक् प्राप्त होता है, परन्तु यहां 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' (६।३।१३) से सप्तमी विभक्ति का अलुक् होता है। यहां 'अलुग् उत्तरपदे' (६।३।१) से अलुक् और 'उत्तरपद' की तथा 'हलदन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम्' (६।३।८) से 'हलदन्तात्' और 'सप्तम्याः' की अनुवृत्ति है। अर्थ होगा—तत्पुरुष समास में कृदन्त उत्तरपद परे रहने पर हलन्त और अदन्त से परे सप्तमी का अलुक् बहुल करके होता है।

समानाधिकरण तत्पुरुष=कर्मधारय—इस प्रकरण का प्रथम सूत्र

'तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः' (२।१।४२) प्रथम भाग पृष्ठ ८८ पर व्याख्यात है; वहां देखें।

पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन (२।१।४८)—पूर्व—केवलाः १।३. समानाधिकरणेन ३।१ ॥ अर्थ—पूर्वकाल एक सर्व जरत् पुराण नव केवल ये सुबन्त शब्द समानाधिकरण सुबन्त के साथ समास को प्राप्त होते हैं, और वह तत्पुरुष समास होता है। पूर्वकाल शब्द से पूर्वकाल में वर्तमान सुबन्त लिया जाता है। पूर्व शब्द के साकाङ्क्ष होने से पूर्वकाल में वर्तमान शब्द का उत्तरकाल में वर्तमान शब्द के साथ समास होता है। अन्य शब्दों का स्वरूप का ग्रहण होता है। जैसे—स्नातश्च अनुलिप्तश्च—स्नातानुलिप्तः (=पहले स्नान किया, पीछे चन्दन आदि का लेप किया), कृष्टं च समीकृतं च—कृष्टसमीकृतं क्षेत्रम् (पहले हल चलाया, पीछे से सुहागा=लकड़ी का पाटा चलाकर बराबर किया गया खेत); एका चासौ शाटी च—एकशाटी (=अकेली धोती); एका चासौ भिक्षा च—एकभिक्षा। यहां पुंवत् कर्मधारयजातीयदेशीयेषु (६।३।४२) से 'एका' पूर्वपद को पुंवत्=पुंलिङ्ग के समान रूप हो जाता है; सर्वे च ते देवाश्च—सर्वदेवाः, सर्वमनुष्याः; जरंश्चासौ हस्ती च जरद्धस्ती, जरदश्वः (=बूढ़ा हाथी, बूढ़ा अश्व); पुराणं च तदन्नं च—पुराणान्नम्, पुराणावसथम् (=पुराना अन्न, पुराना घर); केवलं च तदन्नं च—केवलान्नम्, केवलपयः (=अकेला अन्न, अकेला दूध)।

तद्धितार्थ → विषय सप्तमी

तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च (२।१।५०)—तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे ७।१, च अ० ॥ अनु०—**दिक्संख्ये** (२।१।४९ से)। सप्तमी तीन प्रकार की होती है—विषय सप्तमी, पर सप्तमी, अभिधेय सप्तमी। तद्धितार्थ, उत्तरपद और समाहार के साथ इनका क्रमशः सम्बन्ध जानना चाहिये। अर्थ—तद्धितार्थ के विषय में, उत्तरपद के परे रहने पर, और समाहार वाच्य हो तो दिशावाची और संख्यावाची सुबन्त समानाधिकरण सुबन्त के साथ समास को प्राप्त होते हैं।

उत्तरपद → पर सप्तमी

तद्धितार्थ में विषय सप्तमी होने से तद्धितार्थ के विषय में प्रत्यय उत्पन्न होने से पूर्व ही समास हो जाता है, और पीछे प्रत्यय होता है। उत्तरपद-पूर्वपद संज्ञा समास होने पर होती है। अतः उत्तरपद परे रहने पर समास का विधान करने से तीन पदों का पहले बहुव्रीहि समास होता है, और तृतीय उत्तरपद के परे रहने पर पूर्व दो पदों का समानाधिकरण तत्पुरुष

समाहार → अभिधेय सप्तमी

समास होता है। अर्थात् त्रिपद बहुव्रीहि समास के अन्तर्गत प्रथम दो पदों का तत्पुरुष समास होता है। समाहार समास का वाच्य होता है। दिक् संख्या दोनों की अनुवृत्ति होने पर भी समाहार में संख्यावाची सुबन्त के साथ ही होता है। जैसे—

तद्धितार्थ विषय में—पूर्वस्यां शालायां भवः—पौर्वशालः, आपरशालः। यहां तत्र भवः (४।३।५३) से सप्तम्यन्त प्रातिपदिक से भवः = होने अर्थ में यथाविहित प्राग्दीव्यतोऽण् (४।१।८३) से अधिकृत अण् प्रत्यय की विवक्षा में समास होकर पश्चात् अण् प्रत्यय होता है। पूर्वा ङि शाला ङि—पूर्वाशाला अण्, पूर्वपद को पुंवत् कर्मधारय० (६।३।४१) से पुंवद्भाव पूर्वशाला अण्, यस्येति च (६।४।१४८, प्रथम भाग पृष्ठ १२६ पर व्याख्यात) सूत्र से आकार का लोप पूर्वशाल् अण् तद्धितेष्वचामादेः (७।२।११७) से आदिवृद्धि होकर पौर्वशालः बनता है। पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः (पुरोडाशः)—पञ्चकपालः, दशकपालः। यहां संस्कृतं भक्षाः (४।२।१५) से संस्कृत अर्थ की विवक्षा में सप्तम्यन्त पञ्चसु कपालेषु पदों का समास होता है, और इस समास की अगले २।१।५१ सूत्र से द्विगु संज्ञा होती है। समास होने के पश्चात् पूर्ववत् यथाविहित (४।१।८३ से) आधिकारिक अण् प्रत्यय होता है, और द्विगु संज्ञा होने से द्विगोर्लुगनपत्ये (४।१।८८) से प्रत्यय का लुक् = अदर्शन हो जाता है।

उत्तरपद परे रहने पर——पूर्वा शाला प्रिया यस्य——पूर्वशालाप्रियः, अपरशालाप्रियः। यहां पूर्वा शाला प्रिया तीन सुबन्तों का अनेकमन्यपदार्थे (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास होता है। उसके पश्चात् प्रिय उत्तरपद के परे रहने पर पूर्वा शाला दो पदों का तत्पुरुष समास होता है। बहुव्रीहि समास के अन्तर्गत दो पूर्व पदों का तत्पुरुष समास करने का प्रयोजन स्वर का वैशिष्ट्य बताना है। पञ्च गावः धनं यस्य—पञ्चगवधनः, दशगवधनः, यहां भी बहुव्रीहि के अन्तर्गत पञ्च गावः पदों का तत्पुरुष समास करने से 'पञ्चगो धन' इस अवस्था में गोरतद्धितलुकि (५।४।९२) से समासान्त टच् = अ प्रत्यय होता है। पञ्चगो अ धन = अव् आदेश होकर पञ्चगवधनः बन जाता है।

समाहार वाच्य होने पर—पञ्चानां पूलानां समाहारः = पञ्चपूली, दशपूली (= पांच वा दश पूलों का एक भार)। यहां उत्तर सूत्र से द्विगु संज्ञा होती है। अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियां भाष्यते = जिस द्विगु का उत्तर-

पद अकारान्त होता है,वह प्रायः स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होता है। अतः द्विगोः (४।१।२१) से स्त्रीलिङ्ग में ङीप्=ई प्रत्यय होता है। इसी प्रकार अष्टानामध्यायानां समाहारः—अष्टाध्यायी शब्द भी इसी सूत्र से समास होकर बनता है।

संख्यापूर्वो द्विगुः (२।१।५१)—संख्यापूर्वः १।१, द्विगुः १।१॥ अनु०—तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे। अर्थ—तद्धितार्थ विषय में उत्तरपद परे और समाहार में जो समास कहा है, उसमें संख्यावाची शब्द जिसके पूर्व में हो, उसकी द्विगु संज्ञा होती है। उदाहरण पूर्व सूत्र के—पञ्चकपालः, पञ्चगवधनः, पञ्चपूली आदि हैं।

आकडारादेका संज्ञा (१।४।१) और **विप्रतिषेधे परं कार्यम्** (१।४।२) का अधिकार वा नियमन होने से तत्पुरुष संज्ञा को बाधकर संख्यापूर्व की द्विगु संज्ञा ही प्राप्त होती है, इष्ट है कि द्विगु की तत्पुरुष संज्ञा भी हो, इसके लिये इसी प्रकरण में द्विगुश्च (२।१।२२) सूत्र से द्विगु की तत्पुरुष संज्ञा भी होती है। यह पूर्व (पृष्ठ ३८-३९ में) कह चुके हैं।

विशेषणं विशेष्येण बहुलम् (२।१।५६)—विशेषणम् १।१, विशेष्येण ३।१, बहुलम् १।१। अर्थ—विशेषणवाची सुबन्त का विशेष्यवाची समानाधिकरण सुबन्त के साथ बहुल करके समास होता है।

बहुल शब्द का अर्थ है—बहून् अर्थान् लाति आदत्ते तत्—जो बहुत अभिप्रायों को प्राप्त कराये, वह 'बहुल' होता है। पूर्वाचार्यों ने बहुल शब्द का अर्थ इस प्रकार स्पष्ट किया है—

क्वचित् प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद् विभाषा क्वचिदन्यदेव।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति॥

अर्थात्—कहीं कार्य का होना, कहीं न होना, कहीं विकल्प से होना, कहीं कहे हुये कार्य से अन्य कार्य भी हो जाना,यह चार प्रकार का 'बहुल' का अभिप्राय विधियों के विधानों पर विचार करके आचार्यों ने कहा है। इस कारण—

रक्तं च तद् उत्पलं (=कमलं) च—रक्तोत्पलम्, नीलोत्पलम्, यहां विकल्प से समास होता है। कृष्णसर्पः, यहां नित्य समास होता है। रामो जामदग्न्यः (=जमदग्नि का पुत्र परशुराम), यहां समास होता ही नहीं।

यह विशेषण-विशेष्य समास का मुख्य (=उत्सर्ग) सूत्र है। २।१।५२ से २।१।७१ तक के शेष सूत्र इसी सूत्र के वा बहुल शब्द के (=अन्य कार्य भी हो जाता है, इस अंश के) प्रपञ्चरूप हैं।

सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः (२।१।६०) सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः १।३, पूज्यमानैः ३।३॥ अनु० —समानाधिकरणेन। अर्थ —सत् महत् परम उत्तम उत्कृष्ट सुबन्त पूज्यमान (=आदर करने योग्य) वाचक समानाधिकरण सुबन्तों के साथ समास को प्राप्त होते हैं। जैसे—सन् चासौ पुरुषश्च—सत्पुरुषः; महान् चासौ पुरुषश्च—महापुरुषः; परमपुरुषः, उत्तमपुरुषः, उत्कृष्टपुरुषः। 'महापुरुषः' में **आन्महतः समानाधिकरण-जातीययोः** (६।३।४५) से समानाधिकरण उत्तरपद परे रहने पर महत् को आकारादेश होता है। यह 'आ' आदेश **अलोऽन्त्यस्य** (१।१।५१) के नियम से अन्त्य 'त्' के स्थान पर होता है। मह आ पुरुष सु =सन्धि होकर महापुरुषः बनता है।

किं क्षेपे (२।१।६३)—किम् १।१, क्षेपे ७।१॥ अनु० —समानाधिकरणेन। अर्थ—किम् सुबन्त क्षेप=निन्दा अर्थ गम्यमान होने पर समानाधिकरण सुबन्त के साथ समास को प्राप्त होता है। जैसे किंसखा योऽभिद्रुह्यति, किंराजा यो न रक्षति।

समानाधिकरण तत्पुरुष=कर्मधारय-प्रकरण समाप्त॥

पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे (२।२।१)—पूर्वापराधरोत्तरम् १।१, एकदेशिना ३।१, एकाधिकरणे ७।१॥ एक देश जिस का हो वह एकदेशी (=अवयवी) जिसका पूर्व आदि एक देश हो। एक ही जो अधिकरण (द्रव्य) हो वह एकाधिकरण। अर्थ—पूर्व अपर अधर उत्तर सुबन्त एक अधिकरणवाले एकदेशी (=अवयवी=समुदायी) सुबन्त के साथ समास को प्राप्त होते हैं और वह तत्पुरुष समास होता है। एकदेशी के साथ समास का विधान होने से पूर्व अपर, अधर उत्तर, एकदेशवाची सुबन्त समझने चाहियें। जैसे—पूर्वं कायस्य—पूर्वकायः; अपरकायः; अधरकायः; उत्तरकायः (=काय=शरीर का पूर्व अपर अधर उत्तर भाग)। यह सूत्र षष्ठी (२।२।८) समास का अपवाद है।

अर्धं नपुंसकम् (२।२।२)—अर्धम् १।१, नपुंसकम् १।१॥ अनु०—एकदेशिना, एकाधिकरणे। अर्थ—नपुंसकलिङ्ग अर्ध सुबन्त एकदेशवाची एकाधिकरण सुबन्त के साथ समास को प्राप्त होता है। बराबर दो विभाग

का वाचक अर्ध शब्द नपुंसकलिङ्गवाला होता है, और दो छोटे-बड़े भाग को कहनेवाला अर्ध शब्द पुंलिङ्ग होता है। जैसे—ग्रामस्यार्धम्—अर्धग्रामम्, अर्धनगरम्। ग्राम और नगर का ठीक आधा भाग। यह भी षष्ठी-समास का अपवाद है। पुंलिङ्ग अर्ध शब्द से षष्ठी-समास होता है—ग्रामार्धः =ग्राम का एक भाग।

कालाः परिमाणिना—(२।२।५)—कालाः १।३, परिमाणिना ३।१॥ परिमाणी=परिमाणवाला। अर्थ—[परिमाण का बोधक] कालवाची सुबन्त परिमाणी (—जिसका परिमाण बताया जाय उस) सुबन्त के साथ समास को प्राप्त होता है। जैसे—मासो जातस्य—मासजातः, संवत्सरजातः। जातः=उत्पन्न हुआ बालक। यह भी षष्ठी समास का अपवाद है।

नञ् (२।२।६)—नञ् १।१॥ अर्थ—नञ् (अव्यय) समर्थ सुबन्त के साथ समास को प्राप्त होता है। जैसे—न ब्राह्मणः—अब्राह्मणः, अवृषलः। यहां नञ् के न् का लोप **नलोपो नञः** (६।३।७२) से होता है, 'अ' मात्र शेष रहता है। न अश्वः—अनश्वः, यहां अजादि उत्तरपद परे न् का लोप हो जाने पर अवशिष्ट 'अ' से परे **तस्मान्नुडचि** (६।३।७३) से नुट् का आगम होकर अ न् अश्वः=अनश्वः बनता है।

विशेष—नञ् समास में नञ् का अर्थ केवल प्रतिषेधमात्र ही इष्ट नहीं होता, अपितु जिसके साथ नञ् का समास होता है, उसका प्रतिषेध करते हुये तत्सदृश अन्य व्यक्ति का बोधक हो जाता है। अतएव महाभाष्यकार कहते हैं—**नञ्युक्तम् इवयुक्तं वा यत्किंचिदिह दृश्यते तत्र अन्यस्मिंस्तत्सदृशे कार्यं विज्ञायते, तथा ह्यर्थो गम्यते। 'अब्राह्मणमानय' इत्युक्ते नासौ लोष्ठमानीय कृती भवति [अर्थाद् ब्राह्मणभिन्नो ब्राह्मणसदृशः पुरुष एव आनीयते]**। महाभाष्य ३।१।१२ आदि बहुत स्थानों पर यह बात कही है।

इसका अभिप्राय यह है कि—नञ् और इव से युक्त जिस पद का प्रयोग किया जाता है, वहां तत्सदृश अन्य में कार्य जाना जाता है और इसी प्रकार का ही अर्थ प्रतीत होता है। 'अब्राह्मण को लाओ' ऐसा कहने पर मिट्टी का ढेला लेकर भृत्य कृतकार्य नहीं होता, अर्थात् वह ब्राह्मण सदृश अन्य पुरुष ही को लाता है।

यह नियम वैदिक ग्रन्थों के वास्तविक अभिप्राय को जानने में अत्यन्त सहायक है। उपनिषदों में कहा है—**असतः सदजायत**। इसका यह अर्थ कभी नहीं हो सकता कि अभाव से भाव की उत्पत्ति हुई। इसका अभिप्राय

है कि सद्=स्थूल जगत् सत्-सदृश किसी सूक्ष्म पदार्थ से उत्पन्न हुआ है। वह असद् प्रकृति है। 'असत्' शब्द में दो प्रकार का समास होता है—न सत्—असत्। इस नञ्तत्पुरुष समासवाले 'असत्' शब्द में अष्टा० ६।२।२ के नियम से पूर्वपद-प्रकृतिस्वर होता है। दूसरा असत् शब्द—न विद्यते सत् यस्मिन्—असत्। इस बहुव्रीहि समास में अष्टा० ६।२।१७२ के नियम से 'असत्' अन्तोदात्त होता है। वैदिक ग्रन्थों के निश्चित अभिप्राय को जानने में स्वरशास्त्र ही महत्वपूर्ण साधन है। **असद् वा इदमग्र आसीत्,** यह तै० उ० का पाठ तैत्तिरीय आरण्यक प्रपा० ८ अनु० ७ में आता है। वहां 'असत्' आद्युदात्त है। अतः यहां सत्-सदृश असत् सूक्ष्म (पदार्थ) प्रकृति ही अभीष्ट है।

षष्ठी (२।२।८)—षष्ठी १।१॥ अर्थ—षष्ठयन्त सुबन्त समर्थ सुबन्त के साथ समास को प्राप्त होता है। जैसे—राज्ञः पुरुषः—राजपुरुषः, ब्राह्मणकम्बलः।

याजकादिभिश्च (२।२।९)—याजकादिभिः ३।३, च अ० ॥ अनु०—**षष्ठी**। अर्थ—षष्ठयन्त सुबन्त का याजकादिगण में पठित शब्दों के साथ समास होता है। यहां **तृजकाभ्यां कर्तरि** (२।२।१५) से षष्ठी-समास का निषेध प्राप्त होता है, उसकी पुनः प्राप्ति कराई है। जैसे—क्षत्रियस्य याजकः—क्षत्रिययाजकः, ब्राह्मणपूजकः।

न निर्धारणे (२।२।१०)—न अ०, निर्धारणे ७।१॥ अनु०—**षष्ठी**। समुदाय में से गुण जाति और क्रिया के द्वारा एक भाग को पृथक् करने को 'निर्धारण' कहते हैं। **यतश्च निर्धारणम्** (२।३।४१) सूत्र से जिस समुदाय में से निर्धारण किया जाता है, उसमें षष्ठी और सप्तमो विभक्ति होती है। अर्थ—निर्धारण में जो षष्ठी विभक्ति होती है, उसका समर्थ सुबन्त के साथ समास नहीं होता। जैसे—गवां कृष्णा सम्पन्नक्षीरतमा; मनुष्याणां क्षत्रियः शूरतमः; अध्वगानां धावन् शीघ्रतमः। यहां 'गवां कृष्णा' में गुण से, 'मनुष्याणां क्षत्रियः' यहां जाति से, और 'अध्वगानां धावन्' (=मार्ग चलनेवालों में दौड़नेवाला) यहां क्रिया से पृथक्करण किया गया है।

कर्मणि च (२।२।१४)—कर्मणि ७।१, च अ०॥ अनु०—**षष्ठी न**। अर्थ—कर्म में जो षष्ठी उसका समर्थ सुबन्त के साथ समास नहीं होता। यहां **उभयप्राप्तौ कर्मणि** (२।३।६६) से विहित षष्ठी के समास का निषेध किया है। जैसे—आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपालकेन; रोचते मे मोदकस्य भोजनं

बालेन । यहां 'गवां दोहः' और मोदकस्य भोजनम्' का समास नहीं होता।

तृजकाभ्यां कर्तरि (२।२।१५)—तृजकाभ्याम् ३।२, कर्तरि ७।१ ॥ अनु०—षष्ठी न कर्मणि । अर्थ—कर्त्ता में जो तृच् और अक (=ण्वुल् ण्वुच् आदि) उन प्रत्ययान्त शब्दों के साथ कर्म में विहित षष्ठी का समास नहीं होता। जैसे—पुरां भेत्ता, अपां स्रष्टा, कूपस्य खनकः, यवानां लावकः । यहां कर्तृकर्मणोः कृति (२।३।६५) से कर्म पुर् अप् कूप और यव शब्दों में षष्ठी विभक्ति होती है।

कर्तरि च (२।२।१६)—कर्तरि ७।१, च अ० ॥ अनु०—षष्ठी न तृजकाभ्याम् । अर्थ—कर्ता में जो षष्ठी उसका अक प्रत्ययान्त के साथ समास नहीं होता। जैसे—भवतः शायिका, भवतः आसिका (=आपके सोने या बैठने का पर्याय है) । यहां 'शायिका-आसिका' में भाव में पर्यायार्हणोत्पत्तिषु ण्वुच् (३।३।१११) से ण्वुच् (=अक) प्रत्यय होता है, और कर्ता 'भवत्' में कर्तृकर्मणोः कृति (२।३।६५) से षष्ठी होती है।

कुगतिप्रादयः (२।२।१८)—कुगतिप्रादयः १।३ ॥ अनु०—नित्यम् (२।२।१७ से) । अर्थ—कु गतिसंज्ञक और प्रादि शब्दों का समर्थ शब्द के साथ नित्य समास होता है। जैसे—

'कु' का निन्दार्थ में—कुपुरुषः, कुधान्यम् । गतिसंज्ञक का—ऊरीकृतम्, उररीकृतम् [=स्वीकृतमित्यर्थः] । यहां ऊर्यादिच्विडाचश्च (१।४।६०) सूत्र से ऊरी उररी आदि शब्दों की क्रिया (कृत् आदि) के योग में गति संज्ञा होती है। प्रादि का—भिन्न-भिन्न प्रादि शब्दों का भिन्न-भिन्न अर्थ में भिन्न-भिन्न विभक्तियों के साथ समास होता है। जैसे—

'दुस्' का निन्दा अर्थ में—प्रथमान्त के साथ—दुष्पुरुषः, दुर्धान्यम् । 'सु अति' का पूजार्थ में प्रथमान्त के साथ—सुपुरुषः, अतिपुरुषः । 'प्र' आदि का गत अर्थ में प्रथमान्त के साथ—प्रगतः आचार्यः—प्राचार्यः (=महाविद्यालय का प्रधान आचार्य (=प्रिंसिपल), प्रान्तेवासी (=स्नातकीय श्रेणी में पढ़नेवाला छात्र) । 'अति' आदि का क्रान्त (=उल्लंघन करना) अर्थ में द्वितीया के साथ—अतिक्रान्तः खट्वाम्—अतिखट्वः, अतिमालः (=जिसे सोने के लिये खट्वा=खाट की परवाह नहीं, जिसे माला=आदर-चिह्न की परवाह नहीं) । निस् आदि का निष्क्रान्त (=निकलना) अर्थ में पञ्चमी के साथ—निष्क्रान्तः कौशाम्ब्याः—निष्कौशाम्बिः, निर्वाराणसिः (=कौशाम्बी और वाराणसी नगरी से निकला हुआ व्यक्ति) ।

विशेष—(१) इस सूत्र में 'सुपा' की अनुवृत्ति होने पर भी उसका संबन्ध नहीं होता। अतः तिङन्त के साथ भी गति का समास हो जाता है। जैसे—ऊरीकरोति, उररीकरोति।

(२) क्रान्त आदि अर्थों में समास करने पर—

एकविभक्ति चापूर्वनिपाते (१।२।४४)। अनु०—समासे उपसर्जनम्। अर्थ—समास में एकविभक्ति = नियतविभक्त्यन्त शब्द की उपसर्जन संज्ञा होती है, पूर्वनिपात कार्य को छोड़कर। अर्थात् इस सूत्र से जिसकी उपसर्जन संज्ञा होती है, उसका पूर्वनिपात = पूर्व प्रयोग नहीं होता। जैसे—निष्क्रान्तः कौशाम्ब्याः, निष्क्रान्तं कौशाम्ब्याः, निष्क्रान्तेन कौशाम्ब्याः आदि में 'निष्क्रान्त' शब्द में तो प्रथमा द्वितीया तृतीया आदि विभक्तियां देखी जाती हैं, परन्तु 'कौशाम्बी' शब्द से सर्वत्र एक = नियत पञ्चमी विभक्ति (= कौशाम्ब्याः) ही देखी जाती है। इसी प्रकार 'अतिक्रान्तः खट्वाम्' आदि में खट्वा आदि से द्वितीया विभक्ति ही होती है। अतः नियतविभक्त्यन्त कौशाम्बी, वाराणसी, खट्वा, माला की उपसर्जन संज्ञा होती है। उपसर्जन संज्ञा होने से—

गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य (१।२।४८)—गोस्त्रियोः ६।२; उपसर्जनस्य ६।१ ॥ अनु०—ह्रस्वः प्रातिपदिकस्य (१।२।४७ से)। अर्थ—उपसर्जनसंज्ञक गोशब्दान्त और स्त्रीप्रत्ययान्त प्रातिपदिक को ह्रस्व हो जाता है। इससे उपसर्जनसंज्ञक कौशाम्बी, खट्वा आदि में स्त्रीप्रत्यय 'ई' 'आ' को ह्रस्व होकर निष्कौशाम्बिः, अतिखट्वः आदि रूप बनते हैं।

उपपदमतिङ् (२।२।१९)—उपपदम् १।१; अतिङ् १।१ ॥ अनु०—नित्यम्। अर्थ—तिङन्त-भिन्न उपपदसंज्ञक समर्थ शब्द के साथ समास को प्राप्त होता है। जैसे—कुम्भं करोति—कुम्भकारः, नगरकारः।

उपपदसंज्ञा—तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्[1] (३।१।९२) से तृतीयाध्याय में सप्तमी से निर्दिष्ट शब्द की उपपद संज्ञा की है। जैसे—कर्मण्यण् (३।२।१) में कर्मणि सप्तमी से निर्दिष्ट पद है, इसकी उपपद संज्ञा होती है। कर्म उपपद होने पर धातु से अण् प्रत्यय होता है। यथा—कुम्भ अम् कृ अण् = कुम्भ अम् कृ अ = कुम्भ अम् कार् अ (= कार), इस अवस्था में 'कुम्भ अम् कार' का इस सूत्र से समास होता है। समास होकर 'कुम्भ' से आगे प्रयुक्त 'अम्' का लुक् हो जाता है।

१. प्रथम भाग, पृष्ठ ६१ में व्याख्यात।

प्रथमान्त = बहुव्रीहि

यह उपपदसमास 'कार' कृदन्त को प्रातिपदिक संज्ञा और सुप् विभक्ति लाने से पूर्व हो हो जाता है, अतः सूत्रार्थ में तृतीयान्त सुपर पद का सम्बन्ध नहीं होता।

इस सूत्र और पूर्व सूत्र में अनुवृत्ति से आनेवाले सुप् सुपा शब्द का सम्बन्ध नहीं होता; इस अर्थ का ज्ञापन (=निर्देश) इसी (२।२।१९) सूत्र में अतिङ् ग्रहण से होता है। अतिङ् से तिङन्त के समास का निषेध किया है। समास-प्रकरण में सुप् सुपा की अनुवृत्ति होने से तिङन्त को समास प्राप्त ही नहीं होता, पुनः निषेध करना व्यर्थ है। अतः इस तिङ् के निषेध से ज्ञापित होता है कि इन सूत्रों में सुप् सुपा का सम्बन्ध नहीं लगता।

बहुव्रीहि समास

शेषो बहुव्रीहिः (२।२।२३)।—शेषः १।१, बहुव्रीहिः १।१॥ अनु० **सुप् समासः**। अर्थ—ऊपर विहित समास से शेष समास बहुव्रीहि-संज्ञक होता है। पूर्व प्रकरण में द्वितीयान्त, तृतीयान्त, चतुर्थ्यन्त, पञ्चम्यन्त, षष्ठ्यन्त, सप्तम्यन्त शब्दों का समास कह दिया है। प्रथमान्त का समास नहीं कहा, सो शेष ग्रहण से प्रथमान्तों का बहुव्रीहि समास होगा।

अनेकमन्यपदार्थे (२।२।२४)।—अनेकम् १।१, अन्यपदार्थे ७।१॥ अनु० **सुप् समासः बहुव्रीहिः**। अर्थ—अन्यपद के अर्थ में वर्तमान अनेक सुबन्त समास को प्राप्त होते हैं, और वह समास बहुव्रीहि-संज्ञक होता है। जैसे—लम्बौ कर्णौ यस्य स लम्बकर्णः (=गदहा), रक्तं वासः यस्य—रक्तवासाः, महान् रथः यस्य—महारथः। यहां दो पदों का समास है। पूर्व २।१।५० सूत्र में उदाहृत पञ्च गावः धनं यस्य—पञ्चगवधनः, पञ्चनापितप्रियः में तीन पदों का समास होता है।

महारथः में भी **आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः** (६।३।४५ द्र०—पूर्व पृष्ठ ४६) से आत्व आदेश होता है। यह बहुव्रीहि-संज्ञक 'महारथ' संज्ञावाची शब्द है। जो अकेला व्यक्ति दस हजार धनुषधारियों से लड़ने में समर्थ होता है वह 'महारथ' कहलाता है।[1] आजकल महारथी शब्द का प्रयोग होने लगा है, वह गलत प्रयोग है।

---

१. एको दशसहस्राणि योधयेद् यस्तु धन्विनाम् ।
अस्त्रशस्त्रप्रवीणश्च महारथ इति स्मृतः ॥

अस्त्र=फेंक कर मारनेवाले बाण शक्ति आदि, शस्त्र=हाथ में लेकर मारने वाले तलवार आदि।

तत्र तेनेदमिति सरूपे (२।२।२७)—तत्र अ०, तेन ३।१, इदम् १।१, इति अ०, सरूपे १।२॥ अनु०—बहुव्रीहिः अनेकम् अन्यपदार्थे। यहाँ 'तत्र' से सप्तम्यन्त और 'तेन' से तृतीयान्त सुबन्त का ग्रहण होता है। अर्थ—सरूप (=समान रूपवाले) सप्तम्यन्त और तृतीयान्त अनेक सुबन्तों का अन्य-पदार्थ में बहुव्रीहि समास होता है। जैसे—

सप्तम्यन्त सरूपों का—केशेषु केशेषु च गृहीत्वा इदं युद्धं प्रवृत्तम्—केशाकेशि, कचाकचि। यहाँ केशेषु-केशेषु समान पदों का युद्ध अर्थ में समास होता है। इसका अर्थ है एक-दूसरे के केशों को पकड़ कर लड़ते हैं। यहाँ समास होने से सुप् का लुक् होकर 'केश-केश' से **इच् कर्मव्यतिहारे** (५।४।१२७) सूत्र से 'इच्' प्रत्यय समासान्त होता है। इच् के परे पूर्व की **यचि भम्**[1] (१।४।१८) से 'भ' संज्ञा होकर **यस्येति च**[2] (६।४।१४८) से अकार का लोप, और **अन्येषामपि दृश्यते** (६।३।१३६) से पूर्वपद को दीर्घ होकर 'केशा-केशि'; 'कचाकचि' (कच=केश) शब्द बनते है। **तिष्ठद्गु-प्रभृतीनि च** (२।१।१६) अव्ययीभाव समास विधायक सूत्र के तिष्ठद्गु आदि गण में '**इच् कर्मव्यतिहारे**' गण सूत्र के पाठ से इच्प्रत्ययान्त की अव्ययीभाव संज्ञा, और **अव्ययीभावश्च** (१।१।४०) से अव्यय संज्ञा होकर सुप् का लुक् हो जाता है। **तृतीयान्त सरूपों का**—दण्डैश्च दण्डैश्च इदं युद्धं प्रवृत्तम्—दण्डादण्डि, मुसलामुसलि। यहाँ पर भी सब कार्य पूर्ववत् समझना चाहिये।

तेन सहेति तुल्ययोगे (२।२।२८)—तेन ३।१, सह अ०, इति अ०, तुल्ययोगे ७।१॥ अनु०—बहुव्रीहिः अनेकम् अन्यपदार्थे। अर्थ—तुल्ययोग में वर्तमान सह शब्द का तृतीयान्त सुबन्त के साथ समास होता है। जैसे—सह पुत्रेण आगतः—सपुत्रः, सह कर्मणा वर्तते—सकर्मकः। यहां पूर्व उदाहरण में आगमन क्रिया का पुत्र और पिता के साथ समान रूप से सम्बन्ध है, इस को 'सह' पद बताता है। इसी प्रकार दूसरे उदाहरण में सह शब्द कर्म और क्रिया दोनों के समान सम्बन्ध को प्रकट करता है।

सपुत्र आदि में पूर्वपद 'सह' के स्थान में **वोपसर्जनस्य** (६।३।८०) से उपसर्जन-संज्ञक सह शब्द को 'स' आदेश विकल्प से होता है। अतः 'सपुत्रः, सहपुत्रः' दोनों रूप बनते हैं।

---

१. प्रथम भाग, पृष्ठ ६० पर व्याख्यात।

२. प्रथम भाग, पृष्ठ १२६ पर व्याख्यात।

द्वन्द्व समास

चार्थे द्वन्द्वः (२।२।२९)—चार्थे ७।१, द्वन्द्वः १।१॥ अनु०—**अनेकम्** समासः। 'च' के समाहार, (इकट्ठा करना), और इतरेतरयोग (=परस्पर एक-दूसरे के साथ सम्बन्ध रखना), अर्थ में ही समास होता है। अर्थ—'च' के अर्थ में अनेक सुबन्त समास को प्राप्त होते हैं, और वह द्वन्द्व-संज्ञक होता है। जैसे—समाहार में—पाणि च पादौ च=पाणिपादम्, शिरोग्रीवम्। यहाँ द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम् (२।४।२) से समाहार में एकवचन होता है। सूत्र की व्याख्या इसी प्रकरण में आगे की जायगी। इतरेतरयोग में—प्लक्षश्च न्यग्रोधश्च=प्लक्षन्यग्रोधौ; धवश्च खदिरश्च पलाशश्च—धवखदिरपलाशाः। इतरेतरयोग में दो पदों के समास में द्विवचन, और बहुत पदों के समास में बहुवचन होता है।

पूर्वनिपात-प्रकरण

किस समास में किस पद का पूर्व प्रयोग किया जाता है, इसका विधान इस प्रकरण में करते हैं—

उपसर्जनं पूर्वम् (२।२।३०)—सूत्र की व्याख्या और उपसर्जन संज्ञा इस प्रकरण के आरम्भ (पृष्ठ ३४) में कर दी है। तदनुसार पूर्व व्याख्यात सूत्रों में जो पद प्रथमा विभक्ति से निर्दिष्ट होने के कारण उपसर्जनसंज्ञक होते हैं, उनका संक्षिप्त निदर्शन (पृष्ठ ३४ में) करा दिया है।

राजदन्तादिषु परम् (२।२।३१)—राजदन्तादिषु ७।३, परम् १।१॥ अनु०—**उपसर्जनम्**। अर्थ—राजदन्तादि (गण-पठित) शब्दों में उपसर्जन का पर प्रयोग होता है। जैसे—दन्तानां राजा=राजदन्तः; रोगाणां राजा राजरोगः, माषाणां राजा—राजमाषः। इन में **षष्ठी** (२।२।८) से षष्ठी-तत्पुरुष समास होता है। षष्ठी के प्रथमा-निर्दिष्ट होने से पूर्वसूत्र से दन्त आदि शब्दों का पूर्व प्रयोग प्राप्त होता है; प्रस्तुत सूत्र से दन्तादि पदों का पर प्रयोग हो जाता है।

द्वन्द्वे घि (२।२।३२)—द्वन्द्वे ७।१, घि १।१॥ अनु०—**पूर्वम्**। अर्थ—द्वन्द्व समास में घि-संज्ञक शब्द का पूर्व प्रयोग होता है। जैसे—पटुश्च गुप्तश्च=पटुगुप्तौ; पटुश्च गुप्तश्च शुक्लश्च—पटुगुप्तशुक्लाः, पटुशुक्ल-गुप्ताः। इस सूत्र से एक शब्द का नियमतः पूर्वप्रयोग होता है, शेषों में कोई नियम नहीं होता। चार्थे द्वन्द्वः (२।२।२९) सूत्र में अनेकम् प्रथमान्त की अनुवृत्ति आने से सभी पद, जिनका द्वन्द्व समास होता है, उपसर्जन-

संज्ञक हैं। अतः यह तथा अगले सूत्र, द्वन्द्व-समास में किसका पूर्व प्रयोग करना चाहिये, इसकी व्यवस्था करते हैं।

अजाद्यदन्तम् (२।२।३३)—अजाद्यदन्तम् १।१॥ अच् आदिर्यस्य स अजादिः, अत् अन्ते यस्य स अदन्तः, अजादिश्च अदन्तश्च = अजाद्यदन्तम्। अनु०—**द्वन्द्वे पूर्वम्**। अर्थ—द्वन्द्व समास में जो पद अजादि और ह्रस्व अकारान्त हो, उसका पूर्व प्रयोग होता है। जैसे—उष्ट्राश्च खराश्च = उष्ट्रखरम्, उष्ट्रशशकम्। अनेक अजादि अदन्त हों तो अनियम होता है—अश्वरथेन्द्राः, इन्द्ररथाश्वाः।

द्वन्द्व-समास में यदि एक पद घि-संज्ञक हो, और दूसरा अजादि अदन्त हो, तो उनमें **विप्रतिषेधे परं कार्यम्** (१।४।२) के नियम से पर सूत्र (२।२।३३) का नियम लगेगा। जैसे—इन्द्रश्च अग्निश्च—इन्द्राग्नी इन्द्रवायू।

अल्पाच्तरम् (२।२।३४)—अल्पाच्तरम् १।१॥ अनु०—**द्वन्द्वे पूर्वम्**। अर्थ—द्वन्द्व समास में जिसमें सबसे कम अच् हों, उसका पूर्व प्रयोग होता है। जैसे—धवाश्च खदिराश्च पलाशाश्च—धवखदिरपलाशाः। अनेक अल्पाच्तर हों, तो किसी का भी पूर्व प्रयोग किया जा सकता है। जैसे—शङ्खदुन्दुभिवीणाः, वीणादुन्दुभिशङ्खाः।

ऋतु और नक्षत्रवाची समान अक्षरोंवाले शब्दों में प्रवृत्ति क्रम से प्रयोग होता है। जैसे—हेमन्तशिशिरवसन्ताः; चित्रास्वाती। असमानाक्षरों में अल्पाच्तर का पूर्व प्रयोग होगा। जैसे—ग्रीष्मवसन्तौ।

अभ्यर्हित=पूजित का पूर्व प्रयोग होता है—मातापितरौ। धर्मशास्त्रों में दश पिताओं के बराबर एक माता को बताया है। अतः माता पिता से अभ्यर्हित है। वासुदेवार्जुनौ।

भ्राताओं में ज्येष्ठ का पूर्व प्रयोग होता है। जैसे—रामलक्ष्मणौ, युधिष्ठिरार्जुनौ।

संख्यावाची शब्दों के द्वन्द्व में छोटी संख्या का पूर्व प्रयोग होता है। जैसे—चतुर्दश, नवतिशतम्। नवति (नब्बे) संख्या सौ संख्या से छोटी है।

सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ (२।२।३५)—सप्तमी-विशेषणे १।२, बहुव्रीहि ७।१॥ अनु०—**पूर्वम्**। अर्थ—बहुव्रीहि समास में सप्तम्यन्त और विशेषण-वाची शब्द का पूर्व प्रयोग होता है। जैसे—

सप्तम्यन्त का—कण्ठे स्थितः कालो यस्य—कण्ठेकालः (काल=

काला तिल का निशान), उरसिलोमः। यहां 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्योत्तरपदलोपश्च वक्तव्यः' (अर्थ—सप्तम्यन्त और उपमानवाची पूर्वपद का अन्य पदों के साथ बहुव्रीहि समास होता है, और उत्तरपद का लोप हो जाता है), इस वार्तिक (२।२।२४) से 'कण्ठे स्थितः', इन तीन पदों का समास होता है और उत्तरपद 'स्थित' का लोप हो जाता है। अमूर्धमस्तकात् स्वाङ्गादकामे (६।३।११; अर्थ—मूर्धा और मस्तक को छोड़कर अन्य हलन्त अदन्त स्वाङ्गवाची शब्दों से सप्तमी का अलुक् होता है, काम शब्द भिन्न उत्तरपद परे रहने पर), इस सूत्र से सप्तमी का अलुक् हो जाता है।

विशेषण का—चित्राः गावः यस्य—चित्रगुः, रक्तवासाः। 'चित्रगु' में गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य (१।२।४८) से गो शब्द को ह्रस्व होता है। एच इग्घ्रस्वादेशे (१।१।४७), से ए ओ ऐ औ को, ह्रस्व प्राप्त होने पर इ उ ह्रस्व होते हैं। अतः चित्रगु में 'ओ' को 'उ' ह्रस्व हो गया।

निष्ठा (२।२।३६)—निष्ठा १।१॥ अनु० **बहुव्रीहौ पूर्वम्**। अर्थ—बहुव्रीहि समास में निष्ठाप्रत्ययान्त शब्द का पूर्व प्रयोग होता है। जैसे—कटः कृतो येन—कृतकटः, अवमुक्ते उपानहौ येन—अवमुक्तोपानत्कः।

पूर्वनिपात-प्रकरण समाप्त॥

समासान्त प्रत्यय

समासान्ताः (५।४।६८)—समासान्ताः १।३॥ अनु०—**प्रातिपदिकात्**। अर्थ—'समासान्ताः' यह अधिकार है। पाद की समाप्ति पर्यन्त। सूत्र में अन्त शब्द अवयववाची है, अतः सूत्र का अभिप्राय होगा—इस अधिकार में विहित प्रत्यय समास के अन्त = अवयव होते हैं। अन्य प्रत्यय जिस प्रकृति से उत्पन्न होते हैं उसका अङ्ग नहीं बनते। परन्तु इस अधिकार में विहित प्रत्यय समासरूप प्रातिपदिक से होते हैं और उसके अङ्ग बन जाते हैं, अर्थात् समास के ग्रहण से उनका ग्रहण होता है। अव्ययीभाव द्विगु तत्पुरुष द्वन्द्व बहुव्रीहि संज्ञकों से कहा कार्य इस प्रकरण में विहित प्रत्ययसहित समुदाय को होता है। यथा—द्वयोः पुरोः समाहारः—द्विपुरी, त्रिपुरी। यहां 'द्विपुर्' से ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे (५।४।७४) से अ प्रत्यय समासान्त होता है। द्विपुर्+अ=द्विपुर, समासान्त कहने से 'अ' प्रत्यय समास द्विपुर का अवयव बन जाता है, अतः पूरे समुदाय की द्विगु संज्ञा होती है। और उसे अकारान्त द्विगु मानकर द्विगोः (४।१।२१) से ङीप् हो जाता है।

न पूजनात् (५।४।६९)—न अ०, पूजनात् ५।१ ॥ अनु०—**समासान्ताः**। अर्थ—जिस शब्द को जो समासान्त प्रत्यय कहा है, वह पूजनवाची शब्द से परे होने पर नहीं होता। जैसे—राजन् से टच् प्रत्यय ५।४।९१ से, और गो शब्द से ५।४।९२ से विधान करेंगे।¹ वह राजन् या गो शब्द यदि पूजन अर्थबोधक शब्द से परे हों, तो समासान्त प्रत्यय नहीं होगा। जैसे—सुराजा, अतिराजा; सुगौः, अतिगौः। यहां **स्वती पूजायाम्** (२।२।१८) वार्तिक से समास होता है।

किमः क्षेपे (५।४।७०)—किमः ५।१, क्षेपे ७।१ ॥ अनु०—**न समासान्ताः**। अर्थ—क्षेपे=निन्दा अर्थ में वर्तमान 'किम्' शब्द से परे विद्यमान शब्द से समासान्त प्रत्यय नहीं होता। जैसे—किंराजा यो न रक्षति (=वह क्या राजा जो प्रजा को रक्षा ही नहीं करता;) किंसखा योऽभिद्रुह्यति (=वह क्या मित्र है, जो द्रोह करता है), यहां ५।४।९१ से टच् समासान्त प्राप्त होता है,¹ उसका निषेध कर दिया। किंगौर्यो न वहति (=वह क्या बैल है जो बोझा नहीं उठाता), यहां ५।४।९२ से प्राप्त,¹ टच् का निषेध जानना चाहिये।

नञस्तत्पुरुषात् (५।४।७१)—नञः ५।१, तत्पुरुषात् ५।१॥ अनु०—**न समासान्ताः**। अर्थ—नञ् तत्पुरुष समास से परे भी समासान्त प्रत्यय नहीं होते। जैसे—अराजा, असखा, अगौः।

ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे (५।४।७४)—ऋक्पूरब्धूःपथाम् ६।३, अ अविभक्त्यन्त, अनक्षे ७।१ ॥ अर्थ—ऋच् पुर् अप् धुर् पथिन् ये शब्द जिनके अन्त में हैं, उनसे परे समासान्त अ प्रत्यय होता है, अक्षवाचक धुर् से नहीं होता। जैसे—अर्धा चासौ ऋक्—अर्धर्चः, बह्वय ऋचो यस्मिन्—बह्वृचः; द्विपुरी, त्रिपुरी, लवस्य पूः—लवपुरम्; द्वीपम्, अन्तरीपम् (यहां **द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्** ६।३।९६ से अप् को ईत् प्राप्त है, तब **आदेः परस्य** १।१।५३ के नियम से अप् के आदि अकार को ईत् होता है—द्वि अप् = द्वि ईप् = द्वीप् + अ (प्रत्यय) = द्वीपम्; राजधुरा, महाधुरा; राजपथः, जलपथः, यहां **नस्तद्धिते** ६।४।१४४ से असंज्ञक भान्त शब्द के टि भाग का लोप होता है—राजन् पथिन् + अ = राजन् पथ् अ = राजपथः।

तत्पुरुषस्याङ्गुलेः संख्याव्ययादेः (५।४।८६)—तत्पुरुषस्य ६।१,

१. सूत्र और सूत्रार्थ आगे इसी प्रकरण में देखें। यहां संकेत करना ही प्रयोजन है।

अङ्गुलेः ६।१, संख्याव्ययादेः ६।१।। अनु०—अच् (५।४।७५ से)। अर्थ—संख्या और अव्यय जिसके आदि में हैं, ऐसे अङ्गुलि शब्दान्त तत्पुरुष से अच् समासान्त प्रत्यय होता है। जैसे—संख्यादि से—द्वे अङ्गुली प्रमाणमस्य द्व्यङ्गुलः, त्र्यङ्गुलः। यहां प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः (५।२।३७) से विहित प्रमाणरूप-तद्धितार्थ में (पृष्ठ ४३ में) पूर्व पठित तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च (२।१।५०) सूत्र से द्विगु समास होकर मात्रच् प्रत्यय होता है। उस का प्रमाणे लो द्विगोर्नित्यम् (वा० ५।२।३७) से लुक् हो जाता है। तत्पश्चात् 'द्वि अङ्गुलि' से अच् समासान्त प्रत्यय होने पर यस्येति च (६।४।१४८) से इकार का लोप हो जाता है। अव्ययादि से—निर्गतमङ्गुलिभ्यः—निरङ्गुलम्, अतिक्रान्तोऽङ्गुली:—अत्यङ्गुलम्। यहां कुगतिप्रादयः (२।२।१८) से समास होकर अच् प्रत्यय होता है।

अहःसर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः (५।४।८७)—अहः—पुण्यात् ५।१, च अ०, रात्रेः ५।१।। अनु०—तत्पुरुषः, संख्याव्ययादेः। अर्थ—अहन् सर्व एकदेश संख्यात पुण्य शब्द से परे और संख्यादि तथा अव्ययादि रात्रि शब्दान्त तत्पुरुष से अच् समासान्त प्रत्यय होता है। जैसे—अहश्च रात्रिश्च—अहोरात्रम् (यहां दोनों का तत्पुरुष समास सम्भव नहीं है, अतः विधान-सामर्थ्य से द्वन्द्व समास में अच् हुआ है); सर्वा च रात्रिश्च—सर्वरात्रः (पूर्वकालैकसर्व० २।१।४८ से समास); एकदेश में—पूर्वं रात्रेः—पूर्वरात्रम्, अपररात्रम् (पूर्वापराधरोत्तर० २।२।१ से समास); संख्याता रात्रिः—संख्यातरात्रम्; पुण्या रात्रिः—पुण्यरात्रम् (दोनों में विशेषणं विशेष्येण बहुलम् २।१।५६ से समास); द्वे रात्री समाहृते—द्विरात्रम्, त्रिरात्रम् (तद्धितार्थोत्तर० २।१।५० से समाहार में समास); अतिक्रान्तो रात्रिम्—अतिरात्रः, निष्क्रान्तो रात्रेः—नीरात्रः (कुगतिप्रादयः २।२।१८ से समास)।

अह्नोऽह्न एतेभ्यः (५।४।८८)—अह्नः ६।१, अह्नः १।१, एतेभ्यः ५।३।। अहन् शब्दान्त तत्पुरुष से (राजाहःसखिभ्यष्टच् ५।४।९१ से) टच् प्रत्यय का विधान करेंगे, उसी विषय में इस आदेश का विधान जानना चाहिये। अर्थात् यह अह्न आदेश टच् का अपवाद है। अर्थ—एतेभ्यः=अहन् सर्व एकदेश संख्यात पुण्य तथा संख्या और अव्यय से परे अहन् शब्द को 'अह्न' आदेश होता है। अहन् से परे अहन् का समास सम्भव नहीं है, अतः अहन् का उदाहरण नहीं दिया जायेगा। जैसे—सर्वाह्णः; पूर्वाह्णः, अपराह्णः; संख्याताह्नः; (पुण्य शब्द से अह्न आदेश का ५।४।९०

से निषेध करेंगे); द्वयोरह्नोर्भवः—द्व्यह्नः; त्र्यह्नः (तद्धितार्थ में समास); प्रत्यह्नः, निरह्नः। सर्वत्र समास उन्हीं सूत्रों से जानना चाहिये, जिनका निर्देश पूर्व (५।४।८७) सूत्र के रात्र्यन्त उदाहरणों में दर्शाया है।

न संख्यादेः समाहारे (५।४।८९)—न अ०, संख्यादेः ५।१, समाहारे ७।१॥ अनु०—अह्नः, अह्नः। अर्थ—संख्यादि तत्पुरुष के समाहार में वर्तमान अहन् को अह्न आदेश नहीं होता। जैसे—द्वे अहनी समाहृते—द्व्यहः, त्र्यहः। अहन् से परे यहाँ अगले ५।४।९१ सूत्र से 'टच्' प्रत्यय होता है।

उत्तमैकाभ्यां च (५।४।९०)—उत्तमैकाभ्याम् ५।२, च अ०॥ अनु०—अह्नः, अह्नः। 'उत्तम' शब्द व्याकरणशास्त्र में तीन या तीन से अधिक के समुदाय के अन्त में होनेवाले शब्द को कहता है। इस नियम से यहाँ अह्नः सर्वैकदेशसंख्यातपुण्यात्० (५।४।८७) में पठित शब्दों में अन्तिम 'पुण्य' शब्द का ग्रहण इष्ट है। अर्थ—पुण्य और एक शब्द से परे अहन् को अह्न आदेश नहीं होता। सूत्र ५।४।८८ से प्राप्त अह्न आदेश का इस सूत्र से निषेध किया है। जैसे—पुण्याहः, एकाहः। यहां भी अहन् शब्द से अगले ५।४।९१ सूत्र से टच् प्रत्यय होगा।

राजाहःसखिभ्यष्टच् (५।४।९१)—राजाहःसखिभ्यः ५।३, टच् १।१॥ अर्थ—राजन् अहन् सखि शब्दान्त तत्पुरुष से टच् समासान्त प्रत्यय होता है। टच् प्रत्यय के परे 'भ' संज्ञा होने से नस्तद्धिते (६।४।१४४) से टि का लोप होता है। जैसे—महांश्चासौ राजा च—महाराजः, मद्रराजः, परमाहः, उत्तमाहः; राज्ञः सखा—राजसखः, ब्राह्मणसखः। इस सूत्र से विहित टच् का ५।४।६९,७०,७१ से निषेध होता है (सूत्र-व्याख्या पृष्ठ ५६ पर देखें) और ५।४।८८ से अह्न का आदेश टच् के अपवादरूप में होता है।

गोरतद्धितलुकि (५।४।९२)—गोः ५।१, अतद्धितलुकि ७।१॥ अनु०—टच्। अर्थ—गोशब्दान्त तत्पुरुष से तद्धितलुक् के विषय को छोड़कर अन्यत्र टच् समासान्त प्रत्यय होता है। जैसे—परमगवः, उत्तमगवः; पञ्चगवम्, दशगवम्; पञ्चगवधनः, दशगवधनः। इस सूत्र से प्राप्त टच् का ५।४।६९, ७०,७१ से निषेध होता है (द्र०—पृष्ठ ५६)।

नावो द्विगोः (५।४।९९)—नावः ५।१, द्विगोः ५।१॥ अनु० टच्। अर्थ—नौ शब्द जिसके अन्त में है, ऐसे द्विगु से टच् समासान्त प्रत्यय होता

है। जैसे—द्वे नावौ समाहृते—द्विनावम्, त्रिनावम्; द्विर्नावधनः, त्रिनावधनः। यहां तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च (२।१।५०) सूत्र से क्रमशः समाहार और उत्तरपद परे रहने पर द्विगु समास होता है। टच् के 'अ' परे रहने पर 'नौ' के 'औ' को 'आव्' आदेश हो जाता है।

द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात् समाहारे (५।४।१०६)—द्वन्द्वात् ५।१, चुदषहान्तात् ५।१, समाहारे ७।१ ॥ अनु०—टच्। अर्थ—चु=चवर्ग द् ष् ह् जिसके अन्त में हैं, ऐसे समाहार द्वन्द्व समास से टच् समासान्त प्रत्यय होता है। जैसे—वाक् च त्वक् च—वाक्त्वचम्, इट् (इष्) च ऊर्क् (ऊर्ज्) च—इडूर्जम् (इष्=अन्न, ऊर्ज्=बल); समिच्च दृषच्च—समिद्दृषदम्, संपद्विपदम्; वाक् च विप्रुट् (विप्रुष्=थूक के छींटे) च—वाग्विप्रुषम्, छत्रं च उपानहौ (उपानह्=जूते) च—छत्रोपानहम्।

बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच् (५।४।११३)—बहुव्रीहौ ७।१, सक्थ्यक्ष्णोः ६।२ (पञ्चमी के अर्थ में षष्ठी), स्वाङ्गात् ५।१, षच् १।१॥ अर्थ—बहुव्रीहि में स्वाङ्गवाची सक्थि और अक्षि जिसके अन्त में हैं, उससे षच् समासान्त प्रत्यय होता है। जैसे—दीर्घं सक्थि यस्य—दीर्घसक्थः; लोहिते अक्षिणी यस्य—लोहिताक्षः, विशालाक्षः। यहां षच् (=अ) प्रत्यय परे भ संज्ञा होने से यस्येति च (६।४।१४८) से टि=इन् भाग का लोप होता है। षच् के षित् होने से स्त्रीलिंग में षिद्गौरादिभ्यश्च (४।१।४१) से ङीष् प्रत्यय होकर दीर्घसक्थी और विशालाक्षी शब्द निष्पन्न होते हैं।

'बहुव्रीहौ' की अनुवृत्ति पाद के अन्त तक जाती है।

इच् कर्मव्यतिहारे (५।४।१२७)—इच् १।१, कर्मव्यतिहारे ७।१॥ अनु०—बहुव्रीहौ। अर्थ—कर्म के व्यतिहार (=अदला-बदली) में वर्तमान बहुव्रीहि से इच् प्रत्यय होता है। जैसे—केशेषु केशेषु गृहीत्वा इदं युद्धं प्रवृत्तं—केशाकेशि, कचाकचि; दण्डैश्च दण्डैश्च गृहीत्वा इदं युद्धं प्रवृत्तं—दण्डादण्डि। देखो—तत्र तेनेदमिति सरूपे (२।२।२७) समास-विधायक सूत्र (पृष्ठ ५२)।

पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः (५।४।१३८)—पादस्य ६।१, लोपः १।१, अहस्त्यादिभ्यः ५।३॥ अनु०—बहुव्रीहौ, उपमानात् (५।४।१३७ से)। अर्थ—बहुव्रीहि में उपमानवाची शब्द से परे पाद शब्द को लोपादेश रूप समासान्त कार्य होता है, यदि हस्ति आदि शब्दों से परे पाद शब्द न हो तो। लोपादेश अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) परिभाषा के नियमानुसार पाद

के अन्त्य अकार को होता है। जैसे—व्याघ्र इव पादौ यस्य—व्याघ्रपात्, सिंहपात्।

संख्यासुपूर्वस्य (५।४।१४०)—संख्यासुपूर्वस्य ६।१॥ अनु०—पादस्य लोपः बहुव्रीहौ। अर्थ—संख्या और सु जिस के पूर्व में है, ऐसे पादशब्दान्त बहुव्रीहि के पाद शब्द का लोप होता है। जैसे—द्वौ पादौ अस्याः—द्विपाद् द्विपदी; त्रिपाद् त्रिपदी। यहां द्विपाद् शब्द से पादोऽन्यतरस्याम् (४।१।८) से स्त्रीलिङ्ग में विकल्प से ङीप् (=ई) प्रत्यय होता है। उस के परे यचि भम् (१।४।१८) से 'भ' संज्ञा होकर भ-प्रकरण में पादः पत् (६।४।१३०) से 'पद्' आदेश होता है। ऋचा अर्थ में टाबृचि (४।१।९) से टाप् (=आ) होकर द्विपदा त्रिपदा, चतुष्पदा ऋक् प्रयोग बनते हैं। सुपूर्व का—सुपाद्, सुपदी।

सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः (५।४।१५०)—सुहृद्दुर्हृदौ १।२, मित्रामित्रयोः ७।२॥ अनु०—बहुव्रीहौ। अर्थ—बहुव्रीहि समास में सुहृद् और दुर्हृद् शब्द क्रमशः मित्र और अमित्र अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। यहां हृदय शब्द को 'हृद्' आदेश रूप समासान्त का विधान किया है। जैसे—सुष्ठु हृदयं यस्य—सुहृत् मित्रम्; दुष्ठु हृदयं यस्य—दुर्हृत् अमित्रम्।

शेषाद् विभाषा (५।४।१५४)—शेषात् ५।१, विभाषा १।१॥ अनु०—बहुव्रीहौ कप् (५।४।१५१ से)। अर्थ—जिस बहुव्रीहि से कोई समासान्त (प्रत्यय वा कार्य) नहीं कहा, उससे विकल्प से कप् प्रत्यय समासान्त होता है। जैसे—वीरः पुरुषः यस्मिन् ग्रामे—वीरपुरुषकः ग्रामः, वीरपुरुषः; प्राप्तोदकः, प्राप्तोदकः; बहुखट्वाकः, बहुखट्वकः (आपोऽन्यतरस्याम् ७।४।१५ से विकल्प से ह्रस्व होता है), बहुखट्वः (यहां गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य १।२।४८ से ह्रस्व होता है। द्र०—पृष्ठ ५०)।

इति समासान्त-विधिः॥

एकवचन-प्रकरण

समास के साथ कुछ विषय में एकवचन का भी विशेष सम्बन्ध है। अतः हम एकवचन के विधायक कतिपय प्रमुख सूत्रों का यहां निर्देश करते हैं—

द्विगुरेकवचनम् (२।४।१)—द्विगुः १।१, एकवचनम् १।१॥ एकवचन शब्द यहां शास्त्रीय संज्ञा के रूप में प्रयुक्त नहीं हुआ है। इसका अर्थ है—एक अर्थ का वाचक। द्विगु भी यहां समाहार-विषयक लिया गया है। अर्थ—समाहार-विषयक द्विगु एक अर्थ का वाचक होता है। एक अर्थ के

वाचकत्व का विधान करने से समास से एकवचन ही होता है। जैसे—पञ्च पूलाः समाहृताः—पञ्चपूली, दशपूली, अष्टाध्यायी (विशेष द्र०—तद्धितार्थोत्तर० २।१।५० की व्याख्या पृष्ठ ४३-४४ में)।

द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम् (२।४।२)—द्वन्द्वः १।१, च० अ०, प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम् ६।३ ॥ अनु०—एकवचनम्। अङ्ग शब्द का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध है[1]—प्राण्यङ्ग, तूर्याङ्ग, सेनाङ्ग। अर्थ—प्राणियों के अङ्गवाचक, तूर्य (=वाद्यों) के अङ्गवाचक, और सेना के अङ्गवाचक शब्दों का द्वन्द्व समास एक अर्थ का वाचक होता है, अर्थात् इनसे एकवचन होता है। जैसे—पाणिपादम्, शिरोग्रीवम्; मार्दङ्गिकवैणविकम् (=मृदङ्ग और वीणा के बजानेवाले); पाणविकतबलवादकम् (=पणव और तबल—तबला[2] के वादक); रथिकाश्वारोहम्, रथिकपादातम्।

विशेष—द्वन्द्व समास दो प्रकार का होता है—समाहार, और दूसरा इतरेतरयोग। समाहार का वाच्य एक होता ही है, पुनः इस प्रकरण को लिखने का अभिप्राय यह है कि जहां-जहां एकवचन का विधान किया है, वहां-वहां समाहार में ही समास हो, अन्यार्थ में न हो।

जिनसे एकवचन का विधान किया है, वह समास इस प्रकरण के अन्त में पढ़े गये स नपुंसकम् (२।४।१७) से नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त होता है।

जातिरप्राणिनाम् (२।४।६)—जातिः १।१, अप्राणिनाम् ६।३ ॥ अनु०—एकवचनम्, द्वन्द्वः। अर्थ—प्राणियों को छोड़कर अन्य जातिवाचक शब्दों का द्वन्द्व एक अर्थ का वाचक होता है। जैसे—आरा च शस्त्री च—आराशस्त्रि (=आरी और छुरी), धाना च शष्कुली च—धानाशष्कुलि (=धाना=भूंजे हुए अन्न और पूड़ी)। यहां २।४।१७ से नपुंसकलिङ्ग का विधान होने से **ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य** (१।२।४७) से ह्रस्व हो जाता है।

विशिष्टलिङ्गो नदी देशोऽग्रामाः (२।४।७)—विशिष्टलिङ्गः १।१, नदी १।१, देशः १।१, अग्रामाः १।३ ॥ अनु०—एकवचनम्, द्वन्द्वः। अर्थ—

---

१. द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसंबध्यते (=द्वन्द्व के अन्त में सुना गया पद सब के साथ सम्बद्ध होता है)। यथा—देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्राः भुञ्जते। यहां भोजन क्रिया का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध होता है।

२. तवल पुराना वाद्य है। संस्कृत में प्रयुक्त 'तलव' में ल व का विपर्यय होकर तवल=तबला। 'आनन्दाय तवलम्'। यजुः ३०।२०॥

विभिन्न लिङ्गवाले नदीवाचक और (ग्रामों को छोड़कर) देशवाचक शब्दों का द्वन्द्व एकार्थ का वाचक होता है। जैसे नदी—उद्ध्यश्च इरावती च—उद्ध्येरावति, गङ्गा च शोणं च—गङ्गाशोणम्; देश—कुरवश्च कुरुक्षेत्रं च—कुरुकुरुक्षेत्रम्, कुरुकुरुजाङ्गलम्।

क्षुद्रजन्तवः (२।४।८)—क्षुद्रजन्तवः १।३॥ अनु०—एकवचनम्, द्वन्द्वः। अर्थ—छोटे जन्तुओं के वाचक शब्दों का द्वन्द्व एकार्थ का वाचक होता है। जैसे—यूकाश्च लिक्षाश्च—यूकालिक्षम् (=जूएं और लीखें), दंशमशकम् (=डांस=बड़ी जाति के मच्छर और साधारण मच्छर)।

येषां च विरोधः शाश्वतिकः (२।४।९)—येषाम् ६।३, च अ०; विरोधः १।१, शाश्वतिकः १।१॥ अनु०—एकवचनम्, द्वन्द्वः। अर्थ—जिन प्राणियों का शाश्वतिक (=नैत्यिक=स्वाभाविक) वैर होता है, उनका द्वन्द्व एकार्थ का वाचक होता है। जैसे—मार्जारमूषकम्, श्वशृगालम्, अहिनकुलम्।

न दधिपयआदीनि (२।४।१४)—न अ०, दधिपयआदीनि १।३॥ अनु०—एकवचनम्, द्वन्द्वः। अर्थ—दधिपयस् आदि द्वन्द्व समास एकार्थ के वाचक नहीं होते। जैसे—दधिपयसी, ब्रह्मप्रजापती, श्रद्धामेधे।

समास-प्रकरण सम्बन्धी लिङ्ग-विधायक सूत्र अगले प्रकरण में देखें॥

इति समास-प्रकरणम्॥

चतुर्थ-प्रकरण

लिङ्ग-विधान

संस्कृत-भाषा के प्रयोग के लिये शब्दों के लिङ्गों का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। लिङ्ग-बोधक तीन प्रकरण हैं—समास सम्बन्धी, स्त्रीप्रत्यय, और लिङ्गानुशासन में पठित। यहां तीनों प्रकरणों के लिङ्गबोधक कुछ सूत्रों का निर्देश करते हैं—

समास-लिङ्ग

पाणिपादम्

स नपुंसकम् (२।४।१७)—सः १।१, नपुंसकम् १।१॥ अनु०—एकवचनम्। अर्थ—जिसके एकार्थ-वाचकत्व का विधान किया है, वह नपुंसक लिङ्गवाला होता है। जैसे—पाणिपादम्, अहिनकुलम्, गङ्गाशोणम् आदि।

अष्टाध्यायी **अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियां भाष्यते**—अकारान्त शब्द जिसके उत्तरपद में होता है, ऐसा समाहार में विहित द्विगु समास स्त्री-लिङ्ग में प्रयुक्त होता है। जैसे—पञ्चपूली, दशपूली, अष्टाध्यायी। यहां **द्विगोः** (४।१।२१) से ङीप् होता है।

पञ्चपात्रम् **पात्रादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः**—पात्र आदि शब्द जिसके अन्त में हों, वह द्विगु स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त नहीं होता। जैसे—पञ्चपात्रम्, चतुर्युगम्, षण्मासम्। यह पूर्व नियम के प्रायिकत्व के बोधन के लिये है। अर्थात् जहां अकारान्त उत्तरपद होने पर भी नपुंसकलिङ्ग देखा जावे, उन्हें पात्रादिगण में समझ लेना चाहिये।

अनुगङ्गम् **अव्ययीभावश्च** (२।४।१८)—अव्ययीभावः १।१, च अ०॥ अनु०—नपुंसकम्। अर्थ—अव्ययीभाव समास नपुंसकलिङ्गवाला होता है। यद्यपि अव्ययीभाव समास की **अव्ययीभावश्च** (१।१।४४) सूत्र से अव्यय संज्ञा का विधान कर चुके हैं, और अव्यय से सुबादि विभक्तियों का लुक् होता है, अर्थात् प्रयोग नहीं होता, पुनरपि उसके नपुंसकलिङ्गत्व का विधान अनुगङ्गम् आदि शब्दों में **ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य** (१।२।४७) से ह्रस्वत्व विधान के लिये है।

तत्पुरुषोऽनञ्कर्मधारयः (२।४।१९)—तत्पुरुषः १।१, अनञ्कर्मधारयः

१।१ ॥ अनु०—नपुंसकम् । अर्थ—नञ् और कर्मधारय को छोड़कर तत्पुरुष समास नपुंसकलिङ्ग होता है । यह अधिकार सूत्र है । इसका अगले सूत्रों में सर्वत्र सम्बन्ध जानना चाहिये ।

छाया बाहुल्ये (२।४।२२)—छाया १।१, बाहुल्ये ७।१ ॥ अनु०—नपुंसकम्, तत्पुरुषोऽनञ्कर्मधारयः । अर्थ—बाहुल्य (=आधिक्य) अर्थ जाना जाये तो नञ् और कर्मधारय को छोड़कर छायान्त तत्पुरुष नपुंसकलिङ्ग होता है । जैसे—इक्षूणां छाया—इक्षुच्छायम्, शलभच्छायम् (=टिड्डियों की छाया) ।

विभाषा सेनासुराच्छायाशालानिशानाम् (२।४।२५)—विभाषा १।१, सेना—निशानाम् ६।३॥ अनु०—नपुंसकम्, तत्पुरुषोऽनञ्कर्मधारयः । अर्थ—नञ् और कर्मधारय को छोड़कर सेना सुरा छाया शाला निशा शब्द जिसके अन्त में हों, वह तत्पुरुष विभाषा नपुंसकलिङ्ग होता है । जैसे—क्षत्रियसेना, क्षत्रियसेनम्; यवसुरा, यवसुरम् (=जौ की शराब); कुडयच्छाया, कुडयच्छायम् (=कोने या टूटे-फूटे घर की छाया); गोशाला, गोशालम्; श्वनिशा, श्वनिशम् ।

परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः (२।४।२६)—परवत् अ०, लिङ्गम् १।१, द्वन्द्वतत्पुरुषयोः ६।२॥ अर्थ—द्वन्द्व और तत्पुरुष समास का लिङ्ग परवत्=उत्तरपद के समान होता है, अर्थात् उत्तरपद का जो लिङ्ग होता है, वही पूरे समास का लिङ्ग होता है । जैसे—कुक्कुटश्च मयूरी च—कुक्कुटमयूर्यौ, मयूरी च कुक्कुटश्च—मयूरीकुक्कुटौ; अर्धं पिप्पल्याः—अर्धपिप्पली, राजभार्या, कष्टश्रितः, कष्टश्रिता, कष्टश्रितम् ।

रात्राह्नाहाः पुंसि (२।४।२९)—रात्राह्नाहाः १।३, पुंसि ७।१॥ अर्थ—रात्र अह्न और अह (समासान्त कार्य किये गये शब्द) जिन के अन्त में होते हैं वह तत्पुरुष पुंल्लिङ्ग में प्रयुक्त होता है । जैसे—द्विरात्रः, त्रिरात्रः, अपराह्णः, मध्याह्नः, द्वयहः, त्र्यहः ।

अर्धर्चाः पुंसि च (२।४।३१)—अर्धर्चाः १।३, पुंसि ७।१, च अ० ॥ अनु०—नपुंसकम् । अर्थ—अर्धर्च आदि गणपठित शब्द पुंल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं । जैसे—अर्धर्चः, अर्धर्चम्; यूथः, यूथम् ।

स्त्री-प्रत्यय

अष्टाध्यायी में पुंल्लिङ्ग शब्दों से स्त्रीलिङ्ग शब्द बनाने के जो नियम दिये हैं उनमें प्रमुख सूत्र इस प्रकार हैं—

स्त्रियाम् (४।१।३)—स्त्रियाम् ७।१॥ यह अधिकार सूत्र है। इसका अधिकार ४।१।८१ तक है। ङ्याप्प्रातिपदिकात् (४।१।१) सूत्र से ङी आप् और प्रातिपदिकात् तीनों का अधिकार होने पर भी इस प्रकरण में केवल 'प्रातिपदिक' का संबन्ध ही लगता है, क्योंकि ङी और आप् का विधान तो इसी प्रकरण से किया जायेगा।

अजाद्यतष्टाप् (४।१।४)—अजाद्यतः ५।१, टाप् १।१॥ अनु०—स्त्रियाम्। अर्थ—अजादि गण में पठित प्रातिपदिकों से, और अकारान्त प्रातिपदिकों से स्त्रीलिङ्ग में टाप् प्रत्यय होता है। जैसे—

अजादि से—अज—अजा, चटक—चटका, बाल—बाला। अज, चटक, बाल शब्द अकारान्त हो हैं, फिर भी इनका ग्रहण उत्तर सूत्रों द्वारा विहित अपवाद प्रत्ययों को बाध कर पुनः टाप् का विधान करने के लिये है। अज चटक जातिवाचक शब्द होने से यहां **जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्** (४।१।६३) से ङीष् प्रत्यय, और बाल शब्द के प्रथमवयोवाचक होने से **वयसि प्रथमे** (४।१।२०) से ङीप् प्रत्यय प्राप्त होता है। इसी प्रकार अजादि गण में अन्य शब्दों का पाठ भी अपवाद प्रत्ययों के बाधन के लिये समझना चाहिये।

अकारान्त से—खट्व—खट्वा, देवदत्त—देवदत्ता।

ऋन्नेभ्यो ङीप् (४।१।५)—ऋन्नेभ्यः ५।३, ङीप् १।१॥ अनु०—प्रातिपदिकात्, स्त्रियाम्। अर्थ—ऋकारान्त और नकारान्त प्रातिपदिकों से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय होता है। जैसे—कर्तृ—कर्त्री, हर्त्री; दण्डिन्—दण्डिनी; छत्रिन्—छत्रिणी।

पादोऽन्यतरस्याम् (४।१।८)—पादः ५।१, अन्यतरस्याम् अ०॥ अनु०—प्रातिपदिकात्, स्त्रियाम्, ङीप्। यहां 'पाद' शब्द से अ० ५।४।१३८ से १४० सूत्र तक विहित लोपरूप समासान्त होकर बना रूप (द्र०—पूर्व पृष्ठ ५९-६०) लिया जाता है। अर्थ—पाद् शब्द जिसके अन्त में है, उस प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में विकल्प से ङीप् प्रत्यय होता है। जैसे—व्याघ्रपात्, व्याघ्रपदी; द्विपात्, द्विपदी। 'पाद्' को 'पद्' आदेश पादः पत् (६।४।१३०) सूत्र से होता है। द्र०—पूर्व पृष्ठ ६०।

टाबृचि (४।१।९)—टाप् १।१, ऋचि ७।१॥ अनु०—प्राति०, स्त्रियाम्, पादः। अर्थ—पाद् अन्त वाले प्रातिपदिक से ऋक् रूप स्त्रीलिङ्ग अर्थ कहना हो, तो टाप् प्रत्यय होता है। जैसे—द्वौ पादौ अस्याम् ऋचि—

त्रिपदा गायत्री

द्विपदा, त्रिपदा, चतुष्पदी ऋक्। ऋक् उन मन्त्रों को कहते हैं, जो पादबद्ध हों, अर्थात् पद्यरूप हों।

न षट्स्वस्रादिभ्यः (४।१।१०)—न अ०, षट्स्वस्रादिभ्यः ५।३॥ अनु०—प्राति०, स्त्रियाम्। अर्थ—षट्संज्ञकों (षकारान्त नकारान्तों) और स्वस्रादि गण में पठित प्रातिपदिकों से स्त्रीलिंग में जो प्रत्यय प्राप्त होता है, वह नहीं होता। जैसे—

षट्-संज्ञकों से—पञ्च सप्त अष्ट। यहां पञ्चन् सप्तन् अष्टन् आदि से नान्त होने के कारण पूर्वोक्त ४।१।५ से ङीप् प्राप्त होता है। षट्-संज्ञकों से परे षड्भ्यो लुक्[1] (७।१।२२) से जस् शस् का लोप हो जाने पर प्रत्यय-लक्षण से पदसंज्ञा होकर नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य[2] (८।२।७) से न् का लोप होता है। तत्पश्चात् अकारान्त होने से अजाद्यतष्टाप् (४।१।४) से टाप् प्राप्त होता है। उसकी भी निवृत्ति करने के लिये ही 'ङीप्' की अनुवृत्ति होने पर भी इस सूत्र में उसका सम्बन्ध न जोड़कर सामान्यरूप से 'स्त्रीलिङ्ग में प्राप्त' प्रत्ययमात्र का निषेध किया है।

स्वस्रादि से—स्वसृ मातृ दुहितृ। यहां ऋकारान्त होने से ऋन्नेभ्यो ङीप् (४।१।५) से ङीप् प्राप्त होता है वह नहीं होता।

वयसि प्रथमे (४।१।२०)—वयसि ७।१, प्रथमे ७।१॥ अनु०—प्राति०, स्त्रियाम्, अतः, ङीप्। अर्थ—प्रथम वयः=अवस्था अर्थ में वर्तमान अकारान्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिंग में ङीप् प्रत्यय होता है। जैसे—कुमार—कुमारी, किशोर—किशोरी।

विशेष—'वयः' शब्द अवस्था का वाचक शब्द है, और 'आयु' शब्द पूर्णजीवन का। अतः तुम्हारी क्या अवस्था है, इसके लिये—तव किं वयः? प्रश्न युक्त होता है, न कि तव किम् आयुः? हिन्दी में 'वयः' अर्थ में 'आयु' शब्द का प्रयोग भ्रममूलक है। हिन्दी में भी 'वयः' शब्द का प्रयोग करना चाहिये। बंगाली उड़िया आदि कई प्रान्तीय भाषाओं में 'वयः' का ही प्रयोग होता है।

द्विगोः (४।१।२१)—द्विगोः ५।१॥ अनु०—प्राति०, स्त्रियाम्, अतः, ङीप्। अर्थ—अकारान्त द्विगु-संज्ञक प्रातिपदिक से स्त्रीलिंग में ङीप् प्रत्यय होता है। जैसे—पञ्चपूली, दशपूली। यहां पूर्व (पृष्ठ ४४-४५ में) निर्दिष्ट

१. प्रथम भाग, पृष्ठ १३८ पर व्याख्यात।

२. प्रथम भाग, पृष्ठ १२२ पर व्याख्यात।

'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियां भाष्यते' से अकारान्त द्विगु का स्त्रीलिंग में प्रयोग होता है। यह समाहार द्विगु-विषयक है, यह भी पूर्व (पृष्ठ ४४-४५ में) कह चुके हैं।

ङीप् **पत्युर्नो यज्ञसंयोगे** (४।१।३३)—पत्युः ६।१, नः १।१, यज्ञसंयोगे ७।१॥ अनु०—प्राति०, स्त्रियाम्, ङीप्। अर्थ—पति शब्द से स्त्रीलिंग में ङीप् प्रत्यय होता है, और उसको न् आदेश हो जाता है, यदि यज्ञसंयोग जाना जाये। 'पति' शब्द का मूल अर्थ है—पालक। इसी अर्थ को लेकर अर्थात् पालिका अर्थ में ङीप् प्रत्यय और नकार का आदेश कहा है। नकारादेश **अलोऽन्त्यस्य** (१।१।५१) के नियम से अन्त्य इकार को होता है। पति ई—पत् न् ई=पत्नी।

विशेष—यज्ञसंयोग का अर्थ है—यज्ञेन=शुभकर्मणा संयोगः। यज्ञ शब्द शुभ कर्ममात्र का वाचक है। शतपथ १।७।१।५ में कहा है—यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म। अत एव प्रत्येक शुभ कर्म यज्ञ दान आदि के समय पति-पत्नी के गठबन्धन का भारतीयों में रिवाज है। निन्दित कर्म चोरी आदि प्रायः अकेले एकान्त में ही किये जाते हैं। अतः इस प्रकार के कार्यों में परस्पर पति-पत्नी=पालक-पालिका का भाव होता ही नहीं।

ङीष् **षिद्गौरादिभ्यश्च** (४।१।४१)—षिद्गौरादिभ्यः ५।३, च० अ०॥ अनु०—प्राति०, स्त्रियाम् ङीष् (४।१।४० से)। अर्थ—षित् प्रत्ययान्त और गौरादि शब्दों से स्त्रीलिंग में ङीष् प्रत्यय होता है। जैसे—षित् से—नर्तक—नर्तकी, खनकी, (यहां शिल्पिनि ष्वुन् ३।१।१४५ से ष्वुन्)। गौरादि से—गौर—गौरी, हय—हयी (=घोड़ी), गवय—गवयी (=नील गाय)।

ङीष् **वोतो गुणवचनात्** (४।१।४४)—वा अ०, उतः ५।१, गुणवचनात् ५।१॥ अनु०—प्राति०, स्त्रियाम्, ङीष्। अर्थ—उकारान्त गुणवाचक शब्द से स्त्रीलिंग में विकल्प से ङीष् प्रत्यय होता है। जैसे—पटुः पट्वी, ब्राह्मणी, मृदुः मृद्वी, लघुः लघ्वी।

पुंयोगादाख्यायाम् (४।१।४८)—पुंयोगात् ५।१, आख्यायाम् ७।१॥ अनु०—प्राति०, स्त्रियाम्, ङीष्। अर्थ—पुरुष के संयोग से, जो शब्द

१. प्रायः व्याख्याकार इस सूत्र से पति को 'न्' आदेश का ही विधान करते हैं। पत् नान्त बन जाने पर ऋन्नेभ्यो ङीप् (४।१।५) से ङीप् प्रत्यय का विधान मानते हैं।

स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त हो, उससे ङीष् प्रत्यय होता है। जैसे—गणकस्य (गणक की) स्त्री = गणकी, महामात्री।

जातेरस्त्रीविषयादयोपधात् (४।१।६३)—जातेः ५।१, अस्त्रीविषयात् ५।१, अयोपधात् ५।१॥ अनु०—प्राति०, स्त्रियाम्, ङीष्। अर्थ—जो यकार उपधावाला और जो नित्य स्त्रीलिङ्ग नहीं है, ऐसे जातिवाचक शब्द से, स्त्रीलिङ्ग में ङीष् प्रत्यय होता है। जैसे—ब्राह्मण—ब्राह्मणी, सूकर—सूकरी, वृषल—वृषली।

ऊङुतः (४।१।६६)—ऊङ् १।१, उतः ५।१॥ अनु०—प्राति०, स्त्रियाम्। अर्थ—उकारान्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में ऊङ् प्रत्यय होता है। जैसे—ब्रह्मबन्धु—ब्रह्मबन्धूः, वीरबन्धूः।

यूनस्तिः (४।१।७७)—यूनः ५।१, तिः १।१॥ अनु०—प्राति०, स्त्रियाम्, तद्धिताः (४।१।७६ से)। अर्थ—युवन् शब्द से स्त्रीलिङ्ग में ति प्रत्यय होता है, और वह तद्धित-संज्ञक होता है। तद्धित संज्ञा करने से ति प्रत्ययान्त की प्रातिपदिक संज्ञा होकर सुप् प्रत्ययों की उत्पत्ति होती है। जैसे—युवतिः। ति परे युवन् को स्वादिष्वसर्वनामस्थाने (१।४।१७) से पद संज्ञा होती है, और नलोपः प्राति० (८।२।७) से न् का लोप होता है।

लिङ्गानुशासनस्थ लिङ्ग विधि

विशेष—यह प्रकरण पढ़ना आवश्यक नहीं है। लिङ्गों का सामान्य ज्ञान कराने के लिये यह प्रकरण लिखा है।

अथ लिङ्गम्—अब लिङ्ग का अधिकार किया जाता है।

स्त्री-लिङ्ग

स्त्री—यह अधिकार सूत्र है। आगे जिन शब्दों का लिङ्ग बताया जायेगा, वे स्त्रीलिङ्ग होंगे।

ऋकारान्ता मातृदुहितृस्वसृयातृननान्दरः—ऋकारान्त मातृ दुहितृ स्वसृ यातृ ननान्दृ ये पांच शब्द स्त्रीलिङ्ग होते हैं। तिसृ चतसृ स्त्रीलिङ्ग तो हैं, परन्तु स्वतन्त्र शब्द नहीं हैं। ये त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ (७।२।९९) से त्रि चतुर् शब्द के स्थान पर स्त्रीलिङ्ग में आदेश कहे गये हैं।

क्तिन्नन्तः—क्तिन् प्रत्ययान्त शब्द स्त्रीलिङ्ग होते हैं। स्त्रियां क्तिन् (३।३।९४) से क्तिन् प्रत्यय स्त्रीलिङ्ग में कर्तृ-भिन्न कारक और भाव में होता है। जैसे—भूतिः पचितः इष्टिः।

ईकारान्तश्च—'ई' प्रत्ययान्त शब्द स्त्रीलिङ्ग होते हैं। अवितृस्तृतन्त्रिभ्य ईः; लक्षेर्मुट् च (उणादि ४३।१५८, १६०) से ई प्रत्यय होता है। जैसे—अवीः, तरीः, स्तरीः, तन्त्रीः, लक्ष्मीः।

ऊङाबन्तश्च—ऊङ् और आप् प्रत्ययान्त शब्द स्त्रीलिङ्ग में होते हैं। जैसे—ब्रह्मबन्धूः, वीरबन्धूः (ऊङुतः ४।१।६६ से ऊङ्), प्रजा, विद्या (अजाद्यतष्टाप् ४।१।४ से टाप्)।

तलन्तः—तल् प्रत्ययान्त शब्द स्त्रीलिङ्ग होते हैं। जैसे—ग्रामता, जनता (ग्रामजनबन्धुभ्यस्तल् ४।२।४२ से समूह अर्थ में तल्), अश्वता, गोता (तस्य भावस्त्वतलौ ५।१।११९ से भाव में तल्)।

भूमिविद्युत्सरिल्लतावनिताभिधानानि—भूमि, विद्युत्, सरित्, लता, वनिता इन के वाचक शब्द स्त्रीलिङ्ग होते हैं। जैसे—भूमिः, भूः, विद्युत्, सौदामिनी, स्तनयित्नुः, सरित्, निम्नगा, नदी, लता, वल्ली, वीरुध, वनिता, योषित्।

प्रावृड्विप्रुड्रुट्त्विषः—प्रावृष् (=वर्षा), विप्रुष् (=छींटे), रुष् (=कोप), त्विष् (=तेज) ये शब्द स्त्रीलिङ्ग होते हैं।

प्रतिपद्विपदापत्संपच्छरत्संसत्परिषदुषःसंवित्क्षुत्पुन्मुत्समिधः—प्रतिपद्, विपद्, आपद्, संपद्, शरद्, संसद्, परिषद्, उषस्, संविद्, क्षुध्, पुध्, मुध्, समिध् ये शब्द स्त्रीलिङ्ग होते हैं।

अप्सुमनस्समासिकतावर्षाणां बहुत्वं च—अप्, सुमनस्, समा, सिकता, वर्षा ये शब्द स्त्रीलिङ्ग होते हैं, और प्रायः इनका बहुवचन में प्रयोग होता है। जैसे—आपः (=जल), सुमनसः (=मालती की एक जाति), समाः (=वर्ष), सिकताः (बालू), वर्षाः (बरसातें)।

स्रक्त्वग्ज्योग्वाग्यवागूनौस्फिजः—स्रज् (माला), त्वक्, ज्योग्, वाच्, यवागू, नौ, स्फिज् (कूल्हे की हड्डी), ये शब्द स्त्रीलिङ्ग होते हैं।

चुल्लिवेणिखार्यश्च—चुल्लि (=चूल्हा), वेणि (=स्त्रियों की चोटी), खारी (=३२ सेर परिमाण) ये शब्द स्त्रीलिङ्ग होते हैं।

ताराधाराज्योत्स्नादयश्च—तारा, धारा, ज्योत्स्ना आदि शब्द स्त्रीलिङ्ग होते हैं।

पुंल्लिङ्ग

पुमान्—यह अधिकार सूत्र है। यहां से आगे पठित शब्द पुंल्लिङ्ग होंगे।

घञबन्तः—घञ् और अप् प्रत्ययान्त शब्द पुंल्लिंग होते हैं। जैसे—घञन्त—पाकः, त्यागः, रागः (अ० ३।३।१६-५६, १२०-१२४ तक); अप् प्रत्ययान्त—करः, गरः, स्तरः (अ० ३।३।५७-८७ तक)।

घाजन्तः—घ और अच् प्रत्ययान्त शब्द पुंलिंग होते हैं। जैसे—घ प्रत्ययान्त—विस्तरः, गोचरः (अ० ३।३।११८, ११९, १२५); अच् प्रत्ययान्त—चयः, जयः (अ० ३।३।५६)।

भयलिङ्गभगपदानि नपुंसके—भय (अच् प्रत्ययान्त), लिंग (घञ् प्रत्ययान्त), भग पद (घ प्रत्ययान्त) शब्द नपुंसक लिंग होते हैं। पूर्व सूत्र से पुंल्लिंगता प्राप्त होती थी।

नङन्तः—नङ् प्रत्ययान्त शब्द पुंल्लिंग होते हैं। यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ् (अ० ३।३।९०)—यज्ञः, (याच्ञा के लिये अगला सूत्र देखें), यत्नः, विश्नः, प्रश्नः, रक्षणः।

याच्ञा स्त्रियाम्—नङ्-प्रत्ययान्त याच्ञा के लिये अगला सूत्र देखें), यत्नः, विश्नः, प्रश्नः, रक्षणः।

याच्ञा स्त्रियाम्—नङ्-प्रत्ययान्त याच्ञा शब्द स्त्रीलिंग होता है। लोक में 'याञ्चा' ऐसा अशुद्ध उच्चारण किया जाता है।

क्यन्तो घुः—कि प्रत्ययान्त घुसंज्ञक धातु (से निष्पन्न शब्द) पुंल्लिंग होते हैं। जैसे—विधिः, निधिः, आधिः, व्याधिः, उदधिः। उपसर्गे घोः किः, कर्मण्यधिकरणे च—(३।३।९२, ९३) से—कि प्रत्यय कर्तृ-भिन्न कारक और भाव में होता है।

इषुधिः स्त्री च—इषुधि शब्द स्त्रीलिंग और पुंल्लिंग दोनों में होता है। इयम् इषुधिः, अयम् इषुधिः (तरकस)।

उकारान्तः—उकारान्त शब्द पुंल्लिंग होते हैं। जैसे—इक्षुः प्रभुः विभुः।

धेनुरज्जुकुहुसरयुतनुरेणुप्रियङ्गवः स्त्रियाम्—धेनु रज्जु कुहु सरयु तनु रेणु प्रियङ्गु शब्द स्त्रीलिंग में प्रयुक्त होते हैं।

श्मश्रुजानुवसुस्वाद्वश्रुजतुत्रपुतालूनि नपुंसके—श्मश्रु (मूंछ), जानु (जंघा), वसु (धन), स्वादु, अश्रु (आंसू), जतु (लाख), त्रपु (सीसा धातु), तालु ये शब्द नपुंसकलिंग में प्रयुक्त होते हैं।

दारुकसेरुजत्रुवस्तुमस्तूनि नपुंसके—दारु (लकड़ी), कसेरु (फल विशेष), जत्रु, वस्तु, मस्तु शब्द नपुंसक लिंग में प्रयुक्त होते हैं।

कोपधः—ककारोपध अकारान्त शब्द पुंल्लिंग होते हैं। जैसे—स्तबकः (गुच्छा), कल्कः (अधकुटा पदार्थ)।

टोपधः—टकारोपध अकारान्त शब्द पुंलिंग होते हैं। जैसे—घटः पटः।

किरीटमुकुटललाटवटवीटशृङ्गाटकराटलोष्टानि नपुंसके—किरीट मुकुट ललाट वट वीट शृङ्गाट कराट लोष्ट शब्द नपुंसक लिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं।

णोपधः—णकारोपध अकारान्त शब्द पुंलिंग होते हैं। जैसे—गुणः गणः पाषाणः।

ऋणलवणपर्णतोरणरणोष्णानि नपुंसके—ऋण लवण पर्ण तोरण रण उष्ण ये शब्द नपुंसक लिंग में प्रयुक्त होते हैं।

थोपधः—थकारोपध अकारान्त शब्द पुंलिंग होते हैं। जैसे—रथः नीथः आवसथः।

काष्ठपृष्ठसिक्थोक्थानि नपुंसके—काष्ठ पृष्ठ सिक्थ उक्थ (सभी थक् प्रत्ययान्त) ये शब्द नपुंसक लिंग में प्रयुक्त होते हैं।

नोपधः[1]—नकारोपध अकारान्त पुंलिंग होते हैं। जैसे—इनः (राजा), फेनः।

पोपधः—पकारोपध अकारान्त पुंलिंग होते हैं। जैसे—यूपः सूपः दीपः।

मोपधः—मकारोपध अकारान्त पुंलिंग होते हैं। जैसे—सोमः भीमः भीष्मः होमः।

योपधः—यकारोपध अकारान्त पुंलिंग होते हैं। जैसे—समयः हयः।

रोपधः—रेफोपध अकारान्त पुंलिंग होते हैं। जैसे—क्षुरः अङ्कुरः।

षोपधः—षकारोपध अकारान्त पुंलिंग होते हैं। जैसे—वृषः वृक्षः।

सोपधः—सकारोपध अकारान्त पुंलिंग होते हैं। जैसे—वत्सः वायसः महानसः (रसोई घर)।

रश्मिदिवसाभिधानानि—रश्मि और दिवस के वाचक शब्द पुंलिंग होते हैं। जैसे—रश्मिः मयूखः, दिवसः घस्रः।

दिनाहनी नपुंसके—दिवस-वाचक दिन अहन् शब्द नपुंसक लिंग में प्रयुक्त होते हैं।

ऋषिराशिदृतिग्रन्थिक्रिमिध्वनिबलिकौलिमौलिरविकविकपिमुनयः—ऋषि

1. यहां से आगे उत्सर्ग सूत्र ही लिखे हैं।

राशि कृमि (=मशक) ग्रन्थि क्रिमि ध्वनि वलि कौलि मौलि कवि कपि मुनि ये शब्द पुंल्लिङ्ग होते हैं।

स्तनरव्यतिथिकुक्षिवस्तिपाण्यञ्जलयः—अस्थि—अतिथि कुक्षि (=पेट) बस्ति (=मूत्रस्थान) पाणि अञ्जलि ये शब्द पुंलिङ्ग होते हैं।

नपुंसकलिङ्गम्

नपुंसकम्—यह अधिकार सूत्र है। आगे पठित शब्द नपुंसकलिङ्ग होते हैं।

भावे ल्युडन्तः—भाव में विहित ल्युट् प्रत्ययान्त शब्द नपुंसकलिंग होते हैं। जैसे—हसनम् मरणम् जीवनम्। ल्युट् च (अ॰ ३।३।११५) आदि से भाव में ल्युट् होता है।

निष्ठा च—भाव में विहित क्त-प्रत्ययान्त नपुंसकलिंग होते हैं। जैसे—हसितम् गीतम् चिन्तितम्।

द्वन्द्वैकत्वम्; अनञ्कर्मधारयः छाया, परवत्—आदि सूत्रों से, उन्हीं लिङ्ग-नियमों का वर्णन किया है, जिनका अष्टाध्यायी के सूत्रों द्वारा इस प्रकरण के आदि में विधान कर चुके हैं।

इसुसन्तः—इस् उस् अन्त वाले शब्द नपुंसकलिङ्ग होते हैं। जैसे—हविः, धनुः।

मुखनयनलोहवनमांसरुधिरकार्मुकविवरजलहलधनान्नाभिधानानि—मुख आदि अर्थों के वाचक शब्द नपुंसकलिङ्ग होते हैं। जैसे—मुखम् आननम्, नयनम् लोचनम्, लोहम् कालम्, अयः वनम् गहनम्, मांसम् आमिषम्, रुधिरम् रोहितम्, रक्तम्, कार्मुकम्, शरासनम्, विवरम्, बिलम्, जलम्, वारि, हलम्, लाङ्गलम्, धनम्, द्रविणम्, अन्नम्, अशनम्।

मन्द्वचकोऽकर्तरि—कर्ता-भिन्न अर्थ में विहित मन् (मनिन्—उणादि) प्रत्ययान्त दो अच् वाला शब्द नपुंसकलिंग होता है। जैसे—चर्म वर्म कर्म।

ब्रह्मन् पुंसि च—ब्रह्मन् (मन्नन्त) पुंल्लिंग और नपुंसकलिंग होता है।

असन्तो द्व्यचकः—अस् (असुन्—उणादि) प्रत्ययान्त दो अच् वाला शब्द नपुंसकलिंग होता है। जैसे—यशः मनः तपः।

त्रान्तः—त्र अन्त वाले नपुंसक लिंग होते हैं। जैसे पात्रम् छत्रम्।

यात्रामात्राभस्त्रादंष्ट्रावरत्राः स्त्रियामेव—यात्रा मात्रा भस्त्रा दंष्ट्रा वरत्रा ये त्रान्त स्त्रीलिंग में ही प्रयुक्त होते हैं।

फलजातिः—फलों के जातिवाचक शब्द नपुंसकलिंग ही होते हैं। जैसे—आमलकम्, बदरम्।

अविशिष्ट लिङ्ग

अविशिष्टलिंगम्—यह अधिकार सूत्र है। यहां से आगे कहे गये शब्द अविशिष्ट लिंग[1] वाले होते हैं, अर्थात् तीनों लिंगों में समान होते हैं।

अव्ययं कतियुष्मदस्मदः—अव्यय कति युष्मद् अस्मद् शब्द तीनों लिंगों में समान होते हैं।

ष्णान्ता संख्या—षकारान्त नकारान्त संख्यावाची शब्द तीनों लिंगों में समान होते हैं। जैसे—षट् पुरुषाः, षट् स्त्रियः, षट् फलानि। इसी प्रकार पञ्च, सप्त, अष्ट, नव, दश।

गुणवचनं च—गुणवाचक शब्द विशेष लिंग से रहित अर्थात् त्रिलिंग होते हैं। अभिधेय के समान उनका लिंग होता है। जैसे—शुक्लः पटः, शुक्ला शाटी, शुक्लं वस्त्रम्।

कृत्याश्च—कृत्यप्रत्ययान्त भी त्रिलिंग होते हैं। कर्तव्यः, कर्तव्या, कर्तव्यम्। कृत्य संज्ञा अ० ३।१।९५ से [illegible] सूत्र तक विहित प्रत्ययों की कही गई है। चकार से सामान्य विहित कृत्प्रत्ययान्तों का भी ग्रहण जानना चाहिए। जैसे—कारकः कारिका कारकम्, कुम्भकारः कुम्भकारी कुम्भकारं कुलम्।

करणाधिकरणयोर्ल्युट्—करणाधिकरण में (अ० ३।३।११७ से) विहित ल्युट् प्रत्ययान्त शब्द भी त्रिलिंग होते हैं। जैसे—इध्मप्रव्रश्चनः, इध्मप्रव्रश्चनी, इध्मप्रव्रश्चनम्; गोदोहनी, गोदोहनम्।

सर्वादीनि सर्वनामानि—सर्वनामसंज्ञक सर्वादि शब्द भी त्रिलिंग होते हैं। जैसे—सर्वः सर्वा सर्वम्॥

इति लिंगप्रकरणम्॥

---

१. इसके दो अर्थ हैं—लिङ्ग विशेष के कार्य से शून्य, जैसे अव्यय आदि। और विशेषलिङ्ग से रहित अर्थात् त्रिलिङ्ग। अगले दो सूत्रों में प्रथम अर्थ का संबंध होता है, और आगे के सूत्रों में द्वितीयार्थ का संबंध जानना चाहिये।

पञ्चम-प्रकरण

नामिक = सुबन्त

नाम = प्रातिपदिक संज्ञाओं के सात विभक्तियों और तीन वचनों में कैसे रूप बनते हैं, इसका बोध इस प्रकरण में कराया जायेगा।

नाम शब्दों के सुबन्त रूपों का कुछ ज्ञान प्रथम भाग पाठ संख्या ७, ८, ६, २४, ३४ में कराया जा चुका है। इन पाठों में सुगण् वाच् पुरुष धन विद्या अग्नि वायु मति धेनु कुमारी सर्व शब्दों के रूपों की सिद्धि-प्रकार दर्शा दिये हैं। नाम शब्दों के रूपों के परिज्ञान के लिये यह प्रकरण साधारणतया पर्याप्त है, पुनरपि हम इस भाग में उक्त शब्दों तथा अन्य कुछ शब्दों के रूपों का क्रमशः परिज्ञान करायेंगे।

इसी प्रकार नाम शब्दों के सुबन्त रूपों के साधक अष्टाध्यायी में जो दो प्रकरण (अ० ७ पाद १ तथा ३ में) हैं, उनकी व्याख्या भी प्रथम भाग पाठ ३२, ३३ में की जा चुकी है। इसलिये छात्रों को प्रथम भाग में दिये गये सुबन्त-सम्बन्धी पाठों को इस प्रकरण के पढ़ने से पूर्व पुनः उपस्थित कर लेना चाहिये।

अब हम नाम शब्दों के रूपों का निदर्शन अजन्त हलन्त के क्रम से कराते हैं। जितने शब्दों के रूपों का ज्ञान वा सूत्रों की व्याख्या प्रथम भाग में दी गई है, उन्हें हम यहां संक्षेप से लिखेंगे, और शेष शब्दों वा सूत्रों की पूरी व्याख्या की जायेगी।

अकारान्त पुंलिङ्ग 'पुरुष' शब्द

नाम शब्दों से सुप् विभक्तियां लाने के लिये सब से प्रथम प्रातिपदिक संज्ञा करनी होती है। उसके निम्न दो सूत्र हैं—

अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् (१।२।४५)—अर्थ—धातु और प्रत्यय को छोड़कर जो भी अर्थवान् (= सार्थक) शब्द है, वह प्रातिपदिक-संज्ञक होता है। जैसे—पुरुष, धन, वन।

कृत्तद्धितसमासाश्च (१।२।४६)—अर्थ—कृत-प्रत्ययान्त, तद्धित-

प्रत्ययान्त और समास को प्रातिपदिक संज्ञा होती है। जैसे—कृदन्त—कर्तृ, कारक; तद्धितान्त—औपगवः, गार्ग्यः; समास—राजपुरुषः, कष्टश्रितः।

विशेष—जो शब्द कृत् अथवा तद्धित प्रत्यय से साक्षात् निष्पन्न नहीं होते हैं, परन्तु हैं अर्थवान्, ऐसे शब्दों की पूर्वोक्त अर्थवदधातु॰ सूत्र से प्रातिपदिक संज्ञा होती है।

यहाँ 'पुरुष' शब्द की अर्थवान् होने से प्रातिपदिक संज्ञा होकर—

स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्भिस्ङेभ्याम्भ्यस्ङसिभ्याम्भ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप् (४।१।२) ङ्यन्त, आबन्त और प्रातिपदिक से 'सु' आदि इक्कीस प्रत्यय[1] होते हैं।

सुपः (१।४।१०२)—'सुप्' प्रत्याहार के जो तीन-तीन वचन हैं, वे क्रमशः एकवचन, द्विवचन और बहुवचन संज्ञक होते हैं।

विभक्तिश्च (१।४।१०३)—तिङ् और सुप् के जो तीन-तीन वचन हैं, वे विभक्ति-संज्ञक होते हैं। अब यथाक्रम विभक्तियों के रूप लिखते हैं—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	सु	औ	जस्	पञ्चमी	ङसि	भ्याम्	भ्यस्
द्वितीया	अम्	औट्	शस्	षष्ठी	ङस्	ओस्	आम्
तृतीया	टा	भ्याम्	भिस्	सप्तमी	ङि	ओस्	सुप्
चतुर्थी	ङे	भ्याम्	भ्यस्				

इस प्रकार सातों विभक्तियों के अलग-अलग रूप जान लेना चाहिये।

प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा (२।३।४६)—से प्रातिपदिकार्थ में प्रथमा विभक्ति प्राप्त हुई—सु, औ, जस्। इन तीनों में से कौनसा वचन हो, इसके लिये—

द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने (१।४।२२)—दो पदार्थों के कहने की इच्छा

---

१. इन्हीं प्रत्ययों के आदि 'सु' से लेकर अन्त्य 'प्' पर्यन्त का नाम 'सुप्' प्रत्याहार है।

हो तो द्विवचन, और एक पदार्थ के कहने की इच्छा हो तो एकवचन हो। जैसे—पुरुष—सु—पुरुष—औ।

बहुषु बहुवचनम् (१।४।२१)—बहुत पदार्थों के कहने की इच्छा हो तो बहुवचन हो। जैसे—पुरुष—जस्।

प्रथमा विभक्ति के एक वचन में 'पुरुष—सु' होकर—

उपदेशेऽजनुनासिक इत् (१।३।२)—जो उपदेश में अनुनासिक अच् है, वह इत्संज्ञक हो। इस सूत्र से 'सु' के उकार की इत्-संज्ञा होकर—

तस्य लोपः (१।३।९)—जिसकी इत्संज्ञा हुई हो, उसका लोप हो। इससे उ का लोप होकर—'पुरुष—स्' इस अवस्था में—

सुप्तिङन्तं पदम् (१।४।१४)—जिसके अन्त में सुप् वा तिङ् हो उस समुदाय की पद संज्ञा हो। इससे 'पुरुष—स्' की पद संज्ञा होकर—

ससजुषो रुः (८।२।६६)—सकारान्त पद और सजुष् शब्द के स् और ष् को रु आदेश हो। इससे 'पुरुष—रु' इस अवस्था में रु के उकार की पूर्ववत् इत्संज्ञा होकर लोप हो गया—पुरुष—र्।

विरामोऽवसानम् (१।४।१०९)—वक्ता की उक्ति का जो विराम अर्थात् ठहरना है, उसकी अवसान संज्ञा हो। इससे 'पुरुष—र्' के रेफ की अवसान संज्ञा हुई। अवसान संज्ञा का फल—

खरवसानयोर्विसर्जनीयः (८।३।१५)—रेफ से परे खर् प्रत्याहार हो, और अवसान में रेफ को विसर्जनीय आदेश हो। इससे रेफ के स्थान में विसर्जनीय होके—पुरुषः रूप बन गया।

प्रथमा विभक्ति के द्विवचन में 'पुरुष—औ', इस अवस्था में—

वृद्धिरेचि—(६।१।८५)—अवर्ण से एच् परे रहने पर पूर्व पर के स्थान पर वृद्धिरूप एकादेश हो। इससे पुरुष के अन्त्य अ और औ के स्थान पर प्राप्त हुई वृद्धि का बाधक है—

प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (६।१।९८)—अक् से प्रथमा और द्वितीया विभक्ति का अच् परे रहने पर दोनों के स्थान में पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश हो। इससे पूर्व अकार का सवर्णी दीर्घ एकादेश आ की प्राप्ति होने पर—

नादिचि (६।१।१००)—अवर्ण से इच् परे रहने पर पूर्वसवर्ण दीर्घ नहीं होता। इससे पूर्वसवर्ण दीर्घ के निषेध होने पर पूर्वप्राप्त वृद्धिरेचि (६।१।८५) से वृद्धि हो जाती है। 'अ-औ' दोनों के स्थान पर स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) के नियम से औ वृद्धि होकर—पुरुषौ बना।

प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में 'पुरुष—जस्' इस अवस्था में—

चुटू—(१।३।७)—जो प्रत्यय के आदि में चवर्ग और टवर्ग हों, तो उनकी इत्संज्ञा हो। इससे जकार की इत्संज्ञा होकर तस्य लोपः (१।३।९) से लोप हो गया। 'पुरुष – अस्' इस अवस्था में 'स्' की हलन्त्यम् (१।३।३) से इत्संज्ञा प्राप्त होने पर—

न विभक्तौ तुस्माः (१।३।४)—जो विभक्तियों के अन्त में तवर्ग, स् और म् हैं, उनकी इत्संज्ञा न हो। इससे 'पुरुष —अस्' यहां अन्त के सकार की इत्संज्ञा न हुई। तब पूर्वोक्त **प्रथमयोः पूर्वसवर्णः** (६।१।९८) से पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश होकर—पुरुषास्। पुनः सकार को रुत्व और विसर्जनीय होकर—पुरुषाः बना।

द्वितीया[1] विभक्ति का एकवचन—'पुरुष – अम्'। इस अवस्था में प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (६।१।९८) से प्राप्त पूर्वसवर्ण दीर्घ को बाधकर—

अमि पूर्वः (६।१।१०३) अक् प्रत्याहार से अम् का अच् परे हो, तो पूर्व पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश हो। इससे पूर्वरूप एकादेश होकर—पुरुषम्।

द्वितीया का द्विवचन—'पुरुष –औट्'। यहां टकार की इत्संज्ञा और लोप होकर प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (६।१।९२)—से प्रथमा द्वितीया विभक्ति के अच् परे रहने पर पूर्वसवर्ण दीर्घ आदेश प्राप्त होता है (जैसे—अग्नि औ = अग्नी)। इस पूर्वसवर्ण दीर्घ की प्राप्ति को **नादिचि** (६।१।१००)—अवर्ण से इजादि प्रत्यय परे रहने पर पूर्वसवर्ण दीर्घ नहीं होता। इससे दीर्घ का निषेध होने पर अकार औकार को पूर्ववत् वृद्धि एकादेश होकर—पुरुषौ।

द्वितीया का बहुवचन—'पुरुष—शस्', इस अवस्था में—

लशक्वतद्धिते (१।३।८)—तद्धित से अन्यत्र प्रत्यय के आदि में जो लकार शकार और कवर्ग हैं, उनकी इत्संज्ञा हो। इत्संज्ञक शकार का लोप होकर 'पुरुष—अस्'—इस अवस्था में पूर्व पर के स्थान में पूर्ववत् पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश होकर—पुरुषास्। पुनः—

तस्माच्छसो नः पुंसि (६।१।९९)—पुंलिङ्ग विषय में किये गये तस्मात्=पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश से परे शस् प्रत्यय के सकार को नकार आदेश हो। इससे स् को न् होकर—पुरुषान्।

---

1. द्वितीया विभक्ति 'कर्मणि द्वितीया' (२।३।२) से कर्म कारक में होती है।

तृतीया[1] विभक्ति का एकवचन—'पुरुष—टा' इस अवस्था में 'टा' के टकार की चुटू (१।३।७) से इत्संज्ञा और लोप होकर—

यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादिप्रत्ययेऽङ्गम् (१।४।१३)—जिस धातु वा प्रातिपदिक से परे प्रत्यय का विधान करें, उस धातु वा प्रातिपदिक का आद्यक्षर जिस समुदाय के आदि में हो, उस समुदाय की प्रत्यय परे रहने पर अङ्ग संज्ञा होती है। इससे 'टा' प्रत्यय के परे पूर्व 'पुरुष' की अङ्ग संज्ञा होकर—

टाङसिङसामिनात्स्याः (७।१।१२)—अदन्त अङ्ग से परे 'टा, ङसि' ङस्' के स्थान में 'इन, आत्, स्य' ये तीन आदेश हों। इससे टा को 'इन' होकर 'पुरुष—इन'। अब पूर्व पर 'अ इ' इन अचों में स्थान में—

आद् गुणः (६।१।८४)—अवर्ण से अच् परे रहने पर पूर्व पर के स्थान में गुणरूप एकादेश हो। इससे 'अ इ' के स्थान में गुण प्राप्त होने पर—स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) से दोनों का सदृशतम 'ए' गुण एकादेश होकर—पुरुषेन। पुनः—

अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि (८।४।२)—समान=एकपद में अट् प्रत्याहार, कवर्ग, पवर्ग, आङ् और नुम् इनके व्यवधान में भी, रेफ और षकार से परे नकार हो, तो उसके स्थान में णकारादेश हो। इससे न को णकार होकर—पुरुषेण।

तृतीया का द्विवचन—'पुरुष—भ्याम्', इस अवस्था में—

सुपि च (७।३।१०२)—यञादि सुप् परे हो तो अकारान्त अङ्ग को दीर्घ हो। इससे दीर्घ होकर, पुरुषाभ्याम्।

तृतीया का बहुवचन—'पुरुष—भिस्' इस अवस्था में—

अतो भिस ऐस् (७।१।९)—अकारान्त अङ्ग से परे भिस् हो, तो उसको ऐस् आदेश हो। 'भिस्' आदेश में अनेक अल् होने से अनेकाल्शित् सर्वस्य (१।१।५४, द्र०—व्याख्या भाग १, पृष्ठ ९६) सूत्र से सम्पूर्ण भिस् के स्थान में ऐस् होकर—'पुरुष ऐस्'। पुनः पूर्ववत् वृद्धि, रुत्व और विसर्जनीय होकर—पुरुषैः।

बहुलं छन्दसि (अ० ७।१।१०)—वैदिक प्रयोगों में भिस् के स्थान

---

१. तृतीया विभक्ति 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' (२।३।१८) से होती है।

२. टा, ङसि, ङस् इन प्रत्ययों के आदि ट् और ङ् की इत्संज्ञा और लोप करके अथवा विना इत्संज्ञा वा लोप के इन आत् स्य आदेश किये जा सकते हैं।

में 'ऐस्' आदेश बहुल करके होता है। अर्थात् कभी होता है, कभी नहीं होता इस कारण—पुरुषेभिः पुरुषैः; देवेभिः, देवैः; कर्णेभिः, कर्णैः दोनों प्रकार के रूप वेद में उपलब्ध होते हैं। इसी प्रकार, सब अकारान्त शब्दों के वेद में दो-दो रूप होंगे।

चतुर्थी[1] विभक्ति का एकवचन—'पुरुष—ङे'। इस अवस्था में—

ङेर्यः (७।१।१३)—जो अकारान्त अङ्ग, से परे 'ङे' हो, तो उसके स्थान में 'य' आदेश हो। इससे य होकर—'पुरुष—य'। पुनः सुपि च (७।३।१०२) से दीर्घ होकर—पुरुषाय।

चतुर्थी का द्विवचन—'पुरुष—भ्याम्', इस अवस्था में, पूर्ववत् (७।३।१०२) से दीर्घ होकर—पुरुषाभ्याम्।

चतुर्थी का बहुवचन—'पुरुष—भ्यस्', इस अवस्था में—

बहुवचने झल्येत् (७।३।१०३)—बहुवचन में झलादि सुप् परे हों, तो अकारान्त अङ्ग को एकार आदेश हो। 'पुरुष भ्यस्' इस अवस्था में सुपि च (७।३।१०२) से 'दीर्घ' भी प्राप्त होता है, और बहुवचने झल्येत् (७।३।१०३) से 'एत्' भी। अङ्ग के अन्त्य एक अकार के स्थान में दो आदेश नहीं हो सकते, अतः विप्रतिषेधे परं कार्यम् (१।४।२) से पर को 'एत्' आदेश होता है। इससे 'पुरुषे—भ्यस्' होकर पूर्ववत् रुत्व और विसर्जनीय होकर—पुरुषेभ्यः।

पञ्चमी[2] विभक्ति का एकवचन—'पुरुष—ङसि', यहां ङसि के स्थान में पूर्वोक्त टाङसिङसाम्० (७।१।१२) सूत्र से 'आत्' और सवर्ण दीर्घादेश होकर—पुरुषात्।

पञ्चमी का द्विवचन—'पुरुष—भ्याम्', पूर्ववत् दीर्घ होकर—पुरुषाभ्याम्।

पञ्चमी का बहुवचन—'पुरुष—भ्यस्', पूर्ववत् ए होकर—पुरुषेभ्यः।

षष्ठी[3] विभक्ति का एकवचन—'पुरुष—ङस्', यहां ङस् के स्थान में पूर्वोक्त टाङसिङसाम्० (७।१।१२) सूत्र से 'स्य' आदेश होकर—पुरुषस्य।

षष्ठी का द्विवचन—'पुरुष—ओस्', इस अवस्था में—

१. चतुर्थी विभक्ति 'चतुर्थी सम्प्रदाने' (२।३।१३) से होती है।
२. पञ्चमी विभक्ति 'अपादाने पञ्चमी' (२।३।२८) से होती है।
३. षष्ठी विभक्ति 'षष्ठी शेषे' (२।३।५०) से शेष सम्बन्ध में होती है।

ओसि च (७।३।१०४) — ओस् विभक्ति परे हो, तो अकारान्त अङ्ग को एकार आदेश हो। इससे पुरुष के अन्त्य अकार को एकार होकर— 'पुरुषे—ओस्' हुआ। एकार को **एचोऽयवायावः** (६।१।७५) से अय् और सकार को रुत्व और विसर्जनीय होकर—**पुरुषयोः**।

षष्ठी का बहुवचन—'पुरुष—आम्', इस अवस्था में—

ह्रस्वनद्यापो नुट् (७।१।५४)—ह्रस्व स्वर, नदीसंज्ञक=ईकारान्त ऊकारान्त और आबन्त (=टाप् आदि स्त्री प्रत्ययान्त) से परे आम् को नुट् का आगम हो। नुट् में टकार के इत्संज्ञक होने से **आद्यन्तौ टकितौ** (१।१।४५) नियम से नुट् आम् के आदि में होकर—पुरुष—नुट्—आम्', इस अवस्था में उकार और टकार की इत्संज्ञा और लोप होकर—'पुरुष—न्—आम्=पुरुष नाम्' पुनः—

नामि (६।४।३)—नाम् अर्थात् षष्ठी का बहुवचन नुट् सहित आम् परे हो, तो अजन्त अङ्ग को दीर्घादेश हो। इससे दीर्घ होकर—पुरुषानाम्। यहाँ नकार को पूर्ववत् अट्कुप्वाङ्नुम्० (८।४।२) से णकार होके—**पुरुषाणाम्**।

सप्तमी[1] **विभक्ति** का एकवचन—'पुरुष ङि', ङ् को इत्संज्ञा और लोप होकर अकार और इकार के स्थान में पूर्ववत् गुण एकादेश, एकार होकर—**पुरुषे**।

सप्तमी का द्विवचन—'पुरुष—ओस्'। पूर्ववत् अन्त्य अकार को एकार, एकार को अय्, और स् को रुत्व, विसर्जनीय होकर—**पुरुषयोः**।

सप्तमी का बहुवचन—'पुरुष—सुप्'। अन्त्य हल् पकार की इत्संज्ञा और लोप होकर—'पुरुष—सु'। पुनः **बहुवचने झल्येत्** (७।३।१०३) से पूर्ववत् एकार होकर—'पुरुषे सु' इस अवस्था में—

आदेशप्रत्यययोः (८।३।५९)—इण् प्रत्याहार और कवर्ग से परे आदेश और प्रत्यय के सकार को मूर्धन्य अर्थात् षकार आदेश हो। इससे षकार होकर—**पुरुषेषु**।

सम्बोधने च (२।३।४७)—सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति हो। इससे प्रथमा विभक्ति आकर **सामन्त्रितम्** (२।३।४८) से उसकी आमन्त्रित संज्ञा होती है। और **एकवचनं सम्बुद्धिः** (२।३।४९) में आमन्त्रित प्रथमा विभक्ति के एकवचन की सम्बुद्धि संज्ञा होती है।

१. सप्तमी विभक्ति 'सप्तम्यधिकरणे च' (२।३।३६) से होती है।

संबोधन एकवचन में पुरुष—सु। उकार की इत्संज्ञा होके 'पुरुष—स्' इस अवस्था में—

एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः (६।१।६७)—एङन्त और ह्रस्वान्त प्रातिपदिक से परे सम्बुद्धि का जो हल् हो, उसका लोप हो। संबोधन अर्थ दिखलाने के लिये 'हे, है, अङ्ग, भोस्, भो' इत्यादिक शब्द भी संबोधन प्रथमान्त शब्द के साथ प्रयुक्त होते हैं। हे पुरुष, हे पुरुषौ, हे पुरुषाः; अथवा—पुरुष, पुरुषौ, पुरुषाः[१]।

पुरुष के समान रूपवाले अन्य शब्द—इसी प्रकार परमेश्वर, शिव, कृष्ण, वृक्ष, घट, पट, ग्रन्थ, वेद, न्याय, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, व्यवहार, परमार्थ इत्यादि अकरान्त पुंलिग शब्दों के भी रूप जानने चाहियें।

अकारान्त नपुंसकलिंग 'धन' शब्द

"धन" शब्द को पूर्ववत् प्रातिपदिक संज्ञा आदि कार्य होकर 'धन—सु' इस अवस्था में—स्वमोर्नपुंसकात् (७।१।२३) सूत्र से सु और अम् का लुक् प्राप्त होता है। उसे बाध कर—

अतोऽम् (७।१।२४)—अकारान्त अङ्ग से परे सु और अम् विभक्तियों के स्थान में अम् आदेश हो। इससे 'अम्' होकर 'धन—अम्'। पूर्ववत् (= 'पुरुषम्' के सदृश) पूर्वरूप एकादेश होकर—धनम्। धन—औ—

नपुंसकाच्च (७।१।१९)—अकारान्त नपुंसकलिङ्ग से परे औङ्[२] (=औ औट्) हो, तो उसके स्थान में शी आदेश हो। 'धन—शी, श् की इत्संज्ञा होके—धन—ई। इस अवस्था में 'आद् गुणः' (६।१।८४) सूत्र से गुण होके—धने। धन—जस्—

जश्शसोः शिः (७।१।२०)—नपुंसकलिङ्ग प्रातिपदिक से परे जस् और शस् विभक्ति हों, तो उनके स्थान में शि आदेश हो। धन—शि।

शि सर्वनामस्थानम् (१।१।४१)—शि सर्वनामस्थानसंज्ञक हो। शकार की इत्संज्ञा होके धन—इ। इस अवस्था में पूर्ववत् गुण प्राप्त हुआ, उसको बाधके—

---

१. पुरुष शब्द के सब रूप इस प्रकार होंगे—पुरुषः, पुरुषौ, पुरुषाः; पुरुषम्, पुरुषौ, पुरुषान्; पुरुषेण, पुरुषाभ्याम्, पुरुषैः; पुरुषाय, पुरुषाभ्याम्, पुरुषेभ्यः; पुरुषात्, पुरुषाभ्याम्, पुरुषेभ्यः; पुरुषस्य, पुरुषयोः, पुरुषाणाम्; पुरुषे, पुरुषयोः, पुरुषेषु; हे पुरुष, हे पुरुषौ, हे पुरुषाः।

२. 'औङ्' यह प्रथमा और द्वितीया विभक्ति के द्विवचन की प्राचीन आचार्यों की संज्ञा है।

नपुंसकस्य झलचः (७।१।७२) — सर्वनामस्थान परे हो, तो झलन्त और अजन्त नपुंसकलिङ्ग को नुम् का आगम हो। इससे नुम् होकर धन + नुम् + इ। यहां मकार और उकार की इत्संज्ञा होके 'धन + न् + इ' ऐसा हुआ। इस अवस्था में—

सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ (६।४।८) — संबुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान परे हो, तो नकारान्त अङ्ग को उपधा को दीर्घ हो। इससे धन शब्द के अन्त को दीर्घ होके—धनानि।

द्वितीया विभक्ति में — 'धन + अम्', यहां अम् विभक्ति का लुक् नहीं होता है, किन्तु उसके स्थान में पूर्ववत् अम् आदेश होके प्रथमा-विभक्ति के तुल्य — धनम्, धने, धनानि।

तृतीया विभक्ति से लेके सब विभक्तियों में पुरुष शब्द के समान इसके प्रयोग समझने चाहियें। जैसे — धनेन, धनाभ्याम्, धनैः; धनाय, धनाभ्याम्, धनेभ्यः; धनात्, धनाभ्याम्, धनेभ्यः; धनस्य, धनयोः, धनानाम्; धने, धनयोः, धनेषु।

संबोधन चेतन ही में घट सकता है। इसलिये इसके संबोधन में प्रयोग नहीं बनते।[1]

धन शब्द के समान रूपवाले नपुंसकलिंग शब्द — वस्त्र, शास्त्र, पात्र, बल, वन, जल, सलिल, गृह इत्यादि।

अकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द कोई भी नहीं है। क्योंकि स्त्रीलिंग में अकारान्त से टाप् वा ङीप् आदि प्रत्यय हो जाते हैं।

जो अकारान्त धर्म शब्द पुंल्लिंग और नपुंसकलिंग में है, उसके रूप भी पुरुष और धन इन दोनों शब्दों के समान जानने चाहियें।

---

१. संबोधन का प्रयोजन स्वाभिमुख करना है। अतः संबोधन का प्रयोग चेतन पदार्थों के लिये ही होता है। परन्तु महाभाष्य ३।१।२६ के 'अचेतनेष्वपि चेतनवदुपचारः' अर्थात् अचेतन पदार्थों में भी चेतन के सदृश व्यवहार होता है, इस नियम के अनुसार अचेतन पदार्थों के लिये भी संबोधन का गौणप्रयोग होता है। उस अवस्था में धन शब्द के 'हे धन, हे धने, हे धनानि' प्रयोग समझने चाहियें। ग्रन्थकार ने उपर्युक्त महाभाष्य के नियम को मानकर 'अग्नि' शब्द के संबोधन के रूप आगे दर्शाये हैं, अतः स्पष्ट है कि यह मत ग्रन्थकार को भी इष्ट है।

आकारान्त 'सोमपा' शब्द

'सोम' ओषधियों के रस को कहते हैं। उसको जो पिये वा उसकी रक्षा करे, उसका नाम 'सोमपा' है। यह 'सोमपा' शब्द विशेष्य के अनुसार तीनों लिंगों में होता है। जैसे—सोमपाः पण्डितः, सोमपाः स्त्री, सोमपं कुलम्।

उनमें से प्रथम, पुंल्लिंग—

'सोमपा—सु', इत्संज्ञा और विसर्जनीय होके—सोमपाः। सोमपा—औ, वृद्धि एकादेश होके—सोमपौ। सोमपा—जस्, जकार की इत्संज्ञा और लोप तथा सकार को विसर्जनीय और दीर्घ एकादेश होके—सोमपाः।

यहां एकवचन और बहुवचन में भेद तभी प्रतीत होगा, जब कि इसके साथ विशेष्यवाची का निर्देश किया जायेगा। जैसे—सोमपाः पण्डितः, सोमपाः पण्डिताः।

'सोमपा—अम्', पूर्वसवर्ण एकादेश होके—सोमपाम्। सोमपौ पूर्ववत्।
सोमपा—शस्; इस अवस्था में—

यचि भम् (१।४।१८)—यकारादि अजादि सर्वनामस्थान-भिन्न स्वादि प्रत्यय परे हों, तो पूर्व की भसंज्ञा हो। भसंज्ञा होकर भस्य (६।४।१२६) के प्रकरण में—

आतो धातोः (६।४।१४०)—भसंज्ञक आकारान्त धातु का लोप हो। जो आदेश सामान्य रूप से विधान किया जाता है, वह 'अलोऽन्त्यस्य' (१।१।५१) इस परिभाषा के बल से अन्त्य वर्ण के स्थान में समझना होता है। सोमपा शब्द में 'पा' आकारान्त धातु है। इसके अन्त्य आकार का लोप होके—सोमपः।

तृतीया में—सोमपा, सोमपाभ्याम्, सोमपाभिः।
चतुर्थी में—सोमपे, सोमपाभ्याम्, सोमपाभ्यः।
पञ्चमी में—सोमपः, सोमपाभ्याम्, सोमपाभ्यः।
षष्ठी में—सोमपः, सोमपोः, सोमपाम्।
सप्तमी में—सोमपि, सोमपोः, सोमपासु।

---

१. षुञ् अभिषवे धातु से 'सूयते इति सोमः' कर्म में मन् प्रत्यय होता है। अभिषव का अर्थ है—कूटकर निचोड़कर रस निकालना। 'सोम' एक ओषधि विशेष का नाम भी है।

२. यहां प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (६।१।९८) से पूर्वसवर्ण दीर्घादेश की प्राप्ति होती है, उसका 'दीर्घाज्जसि च' (६।१।१०१) से निषेध होता है। तत्पश्चात् वृद्धि एकादेश होता है। [द्र०—पूर्व पृष्ठ ७६]

संबोधन में कुछ विशेष नहीं—हे सोमपाः, हे सोमपौ, हे सोमपाः।

स्त्रीलिंग में भी सोमपा शब्द के प्रयोग पुल्लिंग जैसे ही होते हैं। नपुंसकलिंग में कुछ विशेषता है। सोमपा—सु, इस अवस्था में—

ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य (१।२।४७)—नपुंसकलिंग में वर्तमान जो अजन्त प्रातिपदिक है, उसको ह्रस्वादेश हो। इससे ह्रस्व होकर—सोमप शब्द बन जाता है। अब सब विभक्तियों में इसके रूप धन शब्द के समान समझने चाहियें। जैसे—

सोमपम्, सोमपे, सोमपानि। सोमपम्, सोमपे, सोमपानि। सोमपेन, सोमपाभ्याम्, सोमपैः। सोमपाय, सोमपाभ्याम्, सोमपेभ्यः। सोमपात्, सोमपाभ्याम्, सोमपेभ्यः। सोमपस्य, सोमपयोः, सोमपानाम्। सोमपे, सोमपयोः, सोमपेषु।

सोमपा के समान रूपवाले शब्द—गोजा, प्रथमजा, गोपा, कूपखा, दधिक्रा, आज्यपा, कीलालपा इत्यादि शब्दों के प्रयोग भी तीनों लिंगों में सोमपा के समान समझने चाहियें।

आकारान्त स्त्रीलिङ्ग 'कन्या' शब्द

'कन्या—सु' इस अवस्था में—

हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल् (६।१।६६)—हलन्त दीर्घ ङी (=ङीप्, ङीष्, ङीन्) और आप् (=टाप्, डाप्, चाप्) ये जिनके अन्त में हों, उनसे परे सु, ति, सि इनका जो अपृक्त[1] हल् उसका लोप हो। लोप होकर—कन्या। 'कन्या—औ' इस अवस्था में—

औङ आपः (७।१।१८)—जो आबन्त अंग से परे औङ्[2] हो, तो उसको शी आदेश हो। शकार की इत्संज्ञा और गुण होकर—कन्ये। कन्या—जस्, जकार की इत्संज्ञा, सवर्ण दीर्घ[3] एकादेश, रुत्व, विसर्जनीय होकर—कन्याः। कन्या—अम्, पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश होकर—कन्याम्। कन्या—औट्, पूर्ववत्—कन्ये। कन्या—शस्, शकार की इत्संज्ञा, पूर्वसवर्णदीर्घ

१. अपृक्त एकाल् प्रत्ययः (१।२।४१), सूत्र से एकवर्ण प्रत्यय की अपृक्त संज्ञा होती है। सु ति सि प्रत्ययों में उ इ इ की इत्संज्ञा होने पर प्रत्यय स् त् स् एकाल् ही रहता है।

२. औङ् यह प्रथमा और द्वितीया के द्विवचन की पूर्वाचार्यों की संज्ञा है।

३. यहां 'दीर्घाज्जसि च' (६।१।१०१) से पूर्वसवर्ण दीर्घ (६।१।६८) का प्रतिषेध होकर 'अकः सवर्णे दीर्घः' (६।१।६७) से सवर्णदीर्घादेश होता है।

रुत्व और विसर्जनीय होकर कन्याः । कन्या—टा, इस अवस्था में—

आङि चापः (७।३।१०५)—आबन्त अंग से परे टा और ओस विभक्ति हो, तो उसको एकार हो । इससे कन्ये—टा । टकार की इत्संज्ञा होकर—'कन्ये—आ', इस अवस्था में अय् आदेश होकर—कन्यया । कन्याभ्याम्, कन्याभिः । कन्या—ङे, इस अवस्था में—

याडापः (७।३।११३) आबन्त अंग से परे ङित् प्रत्यय को याट् का आगम हो । इससे कन्या—याट्—ङे होकर, टकार ङकार की इत्संज्ञा और लोप तथा वृद्धि एकादेश होकर—कन्यायै । कन्याभ्याम्, कन्याभ्यः । कन्यायाः, कन्याभ्याम्, कन्याभ्यः । कन्यायाः । कन्या—ओस्, यहां एकार आदेश, अय्, रुत्व और विसर्जनीय होकर—कन्ययोः । कन्या—आम्, ह्रस्वनद्यापो नुट् (७।१।५४) से नुट् होकर—कन्यानाम् । कन्या—ङि, इस अवस्था में याट् का आगम होकर—

ङेराम्नद्याम्नीभ्यः (७।३।११६)—नदीसंज्ञक, आबन्त, और नी इन अंगों से परे ङि के स्थान में आम् आदेश हो । इससे कन्या—या—आम्, दीर्घ एकादेश होकर—कन्यायाम् । कन्ययोः, कन्यासु ।

संबोधन में इतना विशेष है कि—कन्या—सु—

सम्बुद्धौ च (७।३।१०६)—सम्बुद्धि परे हो, तो आबन्त अंग को एकार आदेश हो । इससे कन्ये सु, पूर्ववत् एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः (६।१।६७) सूत्र से सकार का लोप होकर—हे कन्ये, हे कन्ये, हे कन्याः[1] ।

कन्या के समान रूपवाले आकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द—प्रज्ञा, जाया, छाया, माया, मेधा, अजा इत्यादि शब्दों के प्रयोग जानने चाहियें ।

इकारान्त पुंलिङ्ग 'अग्नि' शब्द

अग्नि—सु, पूर्ववत् सब कार्य होकर—अग्निः । अग्नि—औ, यहां प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (६।१।९८) से पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश ईकार होकर—अग्नी । अग्नि—जस्, इस अवस्था में जकार की इत्संज्ञा होकर—

जसि च (७।३।१०९)—जस् प्रत्यय के परे पूर्व ह्रस्वान्त अंग हो, तो उसको गुण हो । इससे इकार को एकार गुण, और एकार को अय् आदेश होकर—अग्नयः ।

---

१. कन्या, कन्ये, कन्याः । कन्याम्, कन्ये, कन्याः । कन्यया, कन्याभ्याम्, कन्याभिः । कन्यायै, कन्याभ्याम्, कन्याभ्यः । कन्यायाः, कन्याभ्याम्, कन्याभ्यः । कन्यायाः, कन्ययोः, कन्यानाम् । कन्यायाम्, कन्ययोः, कन्यासु । हे कन्ये, हे कन्ये, हे कन्याः ।

अग्नि+अम्, यहाँ अमि पूर्वः (६।१।१०३) सूत्र से पूर्वरूप होकर—अग्निम्। अग्नि+औ, पूर्ववत् पूर्वसवर्ण दीर्घ—अग्नी। अग्नि+शस्, पूर्वसवर्ण दीर्घ और सकार को नकारादेश होकर—अग्नीन्। अग्नि+टा, इस अवस्था में—

शेषो घ्यसखि (१।४।७)—शेष अर्थात् जिनकी नदी संज्ञा न हो, ऐसे जो ह्रस्व इकारान्त उकारान्त शब्द हैं, उनकी घिसंज्ञा हो, सखि शब्द को छोड़कर। इससे अग्नि शब्द की घिसंज्ञा होकर—

आङो नास्त्रियाम् (७।३।११९)—घिसंज्ञक अंग से परे 'आङ्'[1] अर्थात् टा विभक्ति हो, तो उसके स्थान में 'ना' आदेश हो, स्त्रीलिंग में न हो। इससे ना होकर—अग्निना। अग्निभ्याम्, अग्निभिः। अग्नि+ङे—

घेर्ङिति (७।३।१११)—ङित् प्रत्यय परे हों, तो घिसंज्ञक अंग को गुणादेश हो। पुनः उस ए को अय् आदेश होकर—अग्नये। अग्निभ्याम्, अग्निभ्यः। अग्नि+ङसि, यहां ङकार की इत्संज्ञा और इकार को गुण होकर अग्ने+अस्, इस अवस्था में—

ङसिङसोश्च (६।१।१०६)—एङ् से परे ङसि और ङस् सम्बन्धी अकार हो, तो पूर्व पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश हो। इससे—अग्नेः। अग्निभ्याम्, अग्निभ्यः। अग्नेः। अग्नि+ओस् यहां इको यणचि (६।१।७४) से यण् आदेश होकर—अग्न्योः। अग्नि+आम् यहां 'पुरुषाणाम्' के समान नुट् और दीर्घ होकर—अग्नीनाम् सिद्ध हुआ। अग्नि+ङि, इस अवस्था में—

औदच्च घेः (७।३।११८)—घिसंज्ञक इकारान्त शब्द से परे ङि विभक्ति हो, तो उसके स्थान में औकार, और घिसंज्ञक शब्द के इकार उकार को अकारादेश हो। इससे अग्न+औ। वृद्धि एकादेश होकर—अग्नौ। अग्न्योः, अग्निषु। संबोधन=अग्नि+सु, यहां संबुद्धिसंज्ञा होकर—

ह्रस्वस्य गुणः (७।३।१०८)—संबुद्धि परे हो, तो ह्रस्वान्त अंग को गुण हो। इससे गुण होकर—एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः (६।१।६९) सूत्र से सकार का लोप हुआ—हे अग्ने। हे अग्नी, हे अग्नयः।

अग्नि के समान रूपवाले पुल्लिङ्ग इकारान्त शब्द—वह्नि, रवि, कवि, भूपति इत्यादि शब्दों के रूप जानने चाहियें।

'पति' शब्द में इतना विशेष है—

१. 'आङ्' यह पूर्वाचार्यों का तृतीया एकवचन का प्रत्यय है।

पतिः समास एव (१।४।८)—पति शब्द समास ही में घिसंज्ञक हो। इससे समास से अन्यत्र पति शब्द को घिसंज्ञक के कार्य नहीं होते। अतः पति + आ = पत्या, पत्ये—ङसि, यहां 'पत्यस्' इस अवस्था में—

ख्यत्यात्परस्य (६।१।१०८)—जो ख्य और त्य इनसे परे ङसि और ङस् सम्बन्धी अकार हो, तो उसको उकार आदेश हो। इससे पत्युस्=पत्युः। पति—ङि, ङि को औकार[1] आदेश हो गया—पत्यौ।

पति शब्द को वेद में कुछ विशेष कार्य होता है—

षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा (१।४।९)—षष्ठी विभक्ति से युक्त जो पति शब्द, उसकी घिसंज्ञा वेद में विकल्प करके हो। घिसंज्ञा होने से—भर्तानां पतये नमः। घि संज्ञा के अभाव में—भर्तानां पत्ये नमः।

'सखि' शब्द के रूप 'पति' के समान होते हैं। परन्तु 'सु' परे यह विशेष है—सखि—सु—

अनङ् सौ (७।१।९३)—संबुद्धिभिन्न सु विभक्ति परे हो, तो सखि शब्द को अनङ् आदेश हो। अनङ् आदेश के अन्तिम (अ, ङ्) इनकी इत् संज्ञा और लोप, तथा ङिच्च (१।१।५२) से अन्त्य इकार के स्थान में 'अन्' होकर सखन्—सु।

सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ (६।४।८)—संबुद्धि-भिन्न सर्वनामस्थान परे हो, तो नकारान्त अङ्ग को दीर्घ हो। इससे दीर्घ होकर सखान्—सु। पुनः हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्० (६।१।६६) सूत्र से स का लोप, और—

नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य (८।२।७)—प्रातिपदिकान्त पद के नकार का लोप हो। इस सूत्र से नकार का लोप होके सखा। सखि—औ, इस अवस्था में—

सख्युरसंबुद्धौ (७।१।९२)—असंबुद्धि में जो सखि शब्द, उससे परे जो सर्वनामस्थान, वह णित् हो। इससे णित् होकर—

अचो ञ्णिति (७।२।११५)—ञित् और णित् प्रत्यय परे हों, तो अजन्त अङ्ग को वृद्धि हो। इससे सखे—औ, यहां वृद्धि 'ऐ' और ऐकार को आय् आदेश होकर—सखायौ। इसी प्रकार जस्, अम्, औट् में वृद्धि होकर—सखायः, सखायम्, सखायौ। आगे पति के समान—सखीन्, सख्या, सख्ये, सख्युः, सख्युः, सख्यौ इत्यादि।

---

१. औद् अच्च घेः (७।३।११८) सूत्र के 'औत्' अंश से औकारादेश होता है। घि-संज्ञा का प्रतिषेध होने से 'अच्च घेः' अंश से अकारादेश प्रवृत्त नहीं होता।

इकारान्त नपुंसकलिंग 'वारि' शब्द

'वारि—सु' इस अवस्था में—

स्वमोर्नपुंसकात् (७।१।२३)—नपुंसकलिंग से परे सु और अम् हों, तो उनका लोप हो। लोप होकर—**वारि**। **वारि—औ**, यहां पूर्ववत् धन शब्द के समान, **नपुंसकाच्च** (७।१।१९) इस सूत्र से औकार के स्थान में शी आदेश और शकार की इत्संज्ञा होकर, 'वारि—ई', इस अवस्था में—

इकोऽचि विभक्तौ (७।१।७३)—अजादि विभक्ति परे हो, तो इगन्त नपुंसक अंग को नुम् का आगम हो। इससे नुम् होके—**वारिणी**। **वारि—जस्**, यहां शि[1] आदेश, सर्वनामस्थान संज्ञा[2], और दीर्घ[3] होकर—**वारीणि**। द्वितीया विभक्ति में भी—वारि, वारिणी, वारीणि। पुनः **वारिणा, वारिभ्याम्, वारिभिः। वारिणे, वारिभ्याम्, वारिभ्यः। वारिणः, वारिभ्याम्, वारिभ्यः। वारिणः, वारिणोः।**

वारि—आम्, यहां नुट् और नुम् दोनों की प्राप्ति में पूर्वविप्रतिषेध से नुट्[4] होता है। पुनः **नामि** (६।४।३) से दीर्घ होकर—**वारीणाम्**। **वारिणि, वारिणोः, वारिषु**[5]।

इसके संबोधन में प्रयोग नहीं बनते, क्योंकि वारि शब्द से जल का ग्रहण होता है। उसके जड़ होने से संबोधन नहीं बन

१. जश्शसोः शिः (७।१।२०) से।

२. शि सर्वनामस्थानम् (१।१।४१) से।

३. सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ (६।४।८) से।

४. नुम् 'इकोऽचि विभक्तौ' (७।१।७३) से प्राप्त हुआ, तथा 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' (७।१।५४) से नुट्। इन दोनों की समान निमित्त 'आम्' परे युगपत् प्राप्ति में 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (१।४।२) परिभाषा से पर-कार्य नुम् प्राप्त होता है, परन्तु यहां उस नुम् को 'नुमचिरतृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन' (महा० ७।१।९५) इस वार्त्तिक बल से बाध कर पूर्व कार्य नुट् ही होता है। नुट् टित् होने से आम् के आदि में होता है—नुट्-'आम्' होकर 'नाम्' बन जाता है। अतः नामि (६।४।३) से दीर्घ हो जाता है। नुम् मित् होने से वारि का अवयव बनने से 'नाम्' परे न होने से दीर्घ नहीं होता। दीर्घत्व की सिद्धि के लिए यहां 'पूर्वविप्रतिषेध' मानना पड़ता है।

५. वारि, वारिणी, वारीणी। वारि, वारिणी, वारीणी। वारिणा, वारिभ्याम्, वारिभिः। वारिणे, वारिभ्याम्, वारिभ्यः। वारिणः, वारिभ्याम्, वारिभ्यः। वारिणः, वारिणोः, वारीणाम्। वारिणि, वारिणोः, वारिषु।

सकता। जब अचेतन में भी चेतन का आरोप किया जाता है, तब वारि के सम्बोधन में रूप इस प्रकार होंगे—

वारि—सु, इस अवस्था में इगन्त नपुंसक लिंग को सम्बुद्धि में विकल्प से गुण[1] होकर—वरे—सु, वारि—सु। एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः (६।१।६७) से सु का लोप होकर—हे वारे, हे वारि। हे वारिणी। हे वारीणि।

इकारान्त सङ्ख्यावाची नित्यबहुवचनान्त 'त्रि' शब्द

त्रि—जस्, बहुवचन में जसि च (७।३।१०९) से अग्नि के समान गुण होके—त्रयः। त्रि—शस्—त्रीन्। नपुंसकलिंग में जस् और शस् विभक्ति को शि आदेश, नुम् का आगम और दीर्घ होके—त्रीणि, त्रीणि आगे दोनों लिंगों में त्रिभिः, त्रिभ्यः, त्रिभ्यः। त्रि—आम्, आम् विभक्ति के परे नुट् का आगम होके त्रि—नाम्, यहां

त्रेस्त्रयः (७।१।५३)—नुट् सहित आम् विभक्ति परे हो, तो त्रि शब्द को त्रय आदेश हो। त्रय होकर त्रयाणाम्। त्रिषु। स्त्रीलिङ्ग में त्रि को 'तिसृ' आदेश होता है; उसके रूप आगे ऋकारान्तों में लिखेंगे।

इकारान्त स्त्रीलिंग 'वेदि' शब्द

वेदिः, वेदी, वेदयः। वेदिम्, वेदी, वेदीः[2]। वेदि+आ[3]=वेद्या, वेदिभ्याम्, वेदिभिः। वेदि—ङे इस अवस्था में—

ङिति ह्रस्वश्च (१।४।६)—स्त्रीलिंग के वाचक ह्रस्व इकारान्त उकारान्त शब्द, और जिनके स्थान में इयङ् उवङ् होते हैं, ऐसे जो [स्त्री शब्द भिन्न] दीर्घ ईकारान्त ऊकारान्त शब्द हैं, उनकी नदी संज्ञा विकल्प करके हो। दूसरे पक्ष में ह्रस्व इकारान्त उकारान्त शब्दों की घि संज्ञा भी होती है। इस कारण वेदि शब्द की नदी और घि दोनों सज्ञाएं होती हैं। नदीसंज्ञा पक्ष में—आण्नद्याः (७।३।११२) से आट् का आगम—वेदि—आ—ए, यणादेश और वृद्धि होकर—वेद्यै। ङसि ङस् में—वेद्याः। ङि में—वेद्याम्[4] रूप बनते हैं।

---

१. 'माध्यन्दिनिर्वष्टि गुणं त्विगन्ते' (काशिका ७।१।६४ में उद्धृत) नियम से माध्यन्दिनि आचार्य के मत में गुण होता है। अन्य आचार्यों के मत में नहीं होता।

२. शस् के स् को न् आदेश पुंल्लिङ्ग में होता है—तस्माच्छसो नः पुंसि (६।१।९९)। अतः यहां न् आदेश न होने से स् को विसर्ग हो गये।

३. स्त्रीलिङ्ग में टा को ना आदेश नहीं होता—आङो नाऽस्त्रियाम् (७।३।१२०)

४. 'वेदि आ ङि' इस अवस्था में ङेराम् नद्याम्नीभ्यः (७।३।११६) से ङि के स्थान में आम्, सवर्ण दीर्घ, यणादेश कार्य होते हैं।

घि-संज्ञा पक्ष में—अग्नि के समान गुण होकर वेदये, वेदेः, वेदेः, वेदौ रूप होते हैं।[1]

वेदि के समान रूपवाले शब्द—श्रुति, स्मृति, वुद्धि, धृति, कृति, हानि, रुचि, भूमि, धलि, आदि शब्द जानने चाहिएं।

ईकारान्त पुंल्लिंग 'सेनानी' शब्द

सेनानी—सु, उकार का लोप, रुत्व और विसर्जनीय होकर—**सेनानीः**। सेनानी—औ—

एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य (६।४।८२)—जिससे धातु का अवयव संयोग पूर्व न हो ऐसा जो इवर्ण है, तदन्त अनेकाच् अंग को अच् परे हो तो यणादेश हो। **सेनान्यौ, सेनान्यः। सेनान्यम्, सेनान्यौ, सेनान्यः। सेनान्या, सेनानीभ्याम्, सेनानीभिः। सेनान्ये, सेनानीभ्याम्, सेनानीभ्यः। सेनान्यः, सेनानीभ्याम्, सेनानीभ्यः। सेनान्यः, सेनान्योः, सेनान्याम्।** सेनानी—ङि, यहां नी से परे ङि को ङेराम्नद्याम्नीभ्यः (७।३।११६) से आम् आदेश होके—**सेनान्याम्। सेनान्योः, सेनानीषु।** संबोधन में यहां कुछ विशेष नहीं है—**हे सेनानीः, हे सेनान्यौ, हे सेनान्यः।**

सेनानी के समान—ग्रामणी, अग्रणी, यवनी इत्यादि शब्दों के रूप भी जानने चाहिएं।

ईकारान्त स्त्रीलिंग 'कुमारी' शब्द

कुमारी—सु, यहां उकार की इत्संज्ञा और लोप तथा ङीवन्त से अपृक्त हल् सु का लोप होकर—**कुमारी**।[2] कुमारी—औ—

दीर्घाज्जसि च (६।१।१०१)—दीर्घ से परे जस् वा इजादि विभक्ति हों, तो पूर्व-पर के स्थान में पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेश न हो। यहां कुमारी दीर्घ ईकारान्त शब्द है, इससे पूर्वसवर्ण दीर्घ का निषेध होकर यणादेश होता है—**कुमार्यौ, कुमार्यः। कुमारीम्, कुमार्यौ, कुमारीः। कुमार्या, कुमारीभ्याम्, कुमारीभिः।** कुमारी—ङे, यहां—

यू स्त्र्याख्यौ नदी (१।४।३)—जो नियत स्त्रीलिंग के वाचक

---

१. वेदिः, वेद्यौ, वेद्यः। वेदिम्, वेदी, वेदीः। वेद्या, वेदिभ्याम्, वेदिभिः। वेद्यै-वेदये, वेदिभ्याम्, वेदिभ्यः। वेद्याः-वेदेः, वेदिभ्याम्, वेदिभ्यः। वेद्याः-वेदेः, वेद्योः, वेदीनाम्। वेद्याम्-वेदौ, वेद्योः, वेदिषु।

२. हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल् (६।१।६६) सूत्र से।

ईकारान्त ऊकारान्त शब्द हैं, उनकी नदी संज्ञा हो। कुमारी-आ, ए=कुमारी ऐ=कुमार्यै[1]। कुमारीभ्याम्, कुमारीभ्यः। कुमार्याः, कुमारीभ्याम्, कुमारीभ्यः। कुमार्याः, कुमार्योः। कुमारी—आम्, यहां नुट्[2] होके—कुमारीणाम्। कुमार्याम्, कुमार्योः, कुमारीषु। संबोधन में—

अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः (७।३।१०७)—सम्बुद्धि परे हो, तो अम्बार्थ और नदी संज्ञकों को ह्रस्व आदेश हो। हे कुमारि[3], हे कुमार्यौ, हे कुमार्यः।

जो ईकारान्त ङीप्, ङीष्, ङीन् प्रत्ययान्त स्त्रीलिंग शब्द हैं, उनके रूप कुमारी शब्द के तुल्य समझने चाहिएं। नदी, सरस्वती, ब्राह्मणी, आसुरी, किशोरी, वधूटी, चिरण्टी, कर्त्री इत्यादि।

उकारान्त पुंल्लिङ्ग 'वायु' शब्द

'वायु' शब्द के रूपों में सभी कार्य 'अग्नि' शब्द के समान जानने चाहियें। वायु—सु=वायुः। वायु—औ, पूर्वसवर्णदीर्घ होकर—वायू। वायु—जस्, ह्रस्व होने से जसि च (७।३।१०९, पृष्ठ ८५) से गुण और एचोऽयवायावः (६।१।७५) से अवादेश होके—वायवः। वायु—अम्, पूर्वरूप एकादेश—वायुम्। वायू। वायु—शस्, पूर्वसवर्ण दीर्घ और सकार को नकार आदेश होकर—वायून्। वायुना, वायुभ्याम् वायुभिः। वायवे, वायुभ्याम्, वायुभ्यः। वायु—ङसि, गुण और पूर्वरूप एकादेश होके—वायोः। वायुभ्याम्, वायुभ्यः। वायोः। वायु—ओस्, यणादेश होके—वाय्वोः। वायूनाम्। वायु—ङि, ङि को औकार तथा उकार को अकार होकर वृद्धि एकादेश हुआ—वायौ। वाय्वोः, वायुषु। संबोधन में वायु—सु, गुण और अपृक्त हल् लोप होकर—हे वायो, हे वायू, हे वायवः।

वायु के समान रूपवाले शब्द—विभु, प्रभु, भानु, गुरु, शत्रु इत्यादि उकारान्त पुंलिङ्ग शब्दों के रूप जानने चाहियें।

उकारान्त नपुंसकलिङ्ग 'वस्तु' शब्द

'वस्तु' शब्द के सभी रूप वारि शब्द के समान जानने चाहियें। वस्तु—सु, यहां सु का लुक् होके—वस्तु। द्विवचन में शी आदेश, शकार की इत्संज्ञा, और इकोऽचि विभक्तौ (७।१।७३) से नुमागम होकर—वस्तुनी।

१. आण्नद्याः (७।३।११२) से आट् का आगम और वृद्धि यणादेश होकर।

२. ह्रस्वनद्यापो नुट् (७।१।५४) से नुट् होता है।

३. एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः (६।१।६९) से सु का लोप होता है।

वस्तु—जस्, जस् के स्थान में शि आदेश, और पूर्व को नुमागम=वस्तु-नुम् इ, दीर्घ होकर=वस्तूनि। ऐसे ही द्वितीया विभक्ति में—वस्तु, वस्तुनी, वस्तूनि। वस्तुना, वस्तुभ्याम्, वस्तुभिः। वस्तुने, वस्तुभ्याम्, वस्तुभ्यः। वस्तुनः, वस्तुभ्याम्, वस्तुभ्यः। वस्तुनः, वस्तुनोः, वस्तूनाम्। वस्तुनि, वस्तुनोः, वस्तुषु। जड़भाव से सम्बोधन नहीं होता[1]।

वस्तु के समान रूपवाले शब्द—अश्रु, जानु, स्वादु, अश्रु, जतु, त्रपु, तालु इत्यादि जानना।

उकारान्त स्त्रीलिङ्ग 'धेनु' शब्द

'धेनु' शब्द के रूपों के लिये सभी सूत्र वा कार्य वेदि शब्द के समान जानने चाहियें। धेनुः, धेनू, धेनवः। धेनुम्, धेनू, धेनूः। धेनु—टा, टकार की इत्संज्ञा और यण् होकर=धेन्वा, धेनुभ्याम्, धेनुभिः। धेनु—ङे, यहां विकल्प करके नदी-संज्ञा और द्वितीय पक्ष में घि संज्ञा[2] होने से दो-दो प्रयोग होते हैं, अर्थात् धेन्वै, धेनवे; धेनुभ्याम्, धेनुभ्यः। धेन्वाः, धेनोः; धेनुभ्याम्, धेनुभ्यः। धेन्वाः, धेनोः, धेन्वोः, धेनूनाम्। धेन्वाम्, धेनौ; धेन्वोः, धेनुषु। संबोधन में गुण होकर=हे धेनो, हे धेनू, हे धेनवः।

धेनु के समान रूपवाले शब्द—रज्जु, सरयु, कुहु, तनु, रेणु इत्यादि जानने चाहियें।

ऊकारान्त स्त्रीलिंग 'ब्रह्मबन्धू' शब्द

ब्रह्मबन्धू में 'ब्रह्मबन्धु' शब्द से स्त्रीलिंग में ऊङ् उतः (४।१।६६) से ऊङ् प्रत्यय होता है। ब्रह्मबन्धू—सु, पूर्ववत् विसर्ग होकर—ब्रह्मबन्धूः[3]। ब्रह्मबन्धू—औ, यहाँ यण् होकर—ब्रह्मबन्ध्वौ, ब्रह्मबन्ध्वः। ब्रह्मबन्धू—अम् यहां पूर्वरूप एकादेश होकर—ब्रह्मबन्धूम्, ब्रह्मबन्ध्वौ, ब्रह्मबन्धूः। ब्रह्मबन्ध्वा, ब्रह्मबन्धूभ्याम्, ब्रह्मबन्धूभिः। नदी संज्ञा[4] होने से ङित् वचनों में

---

१. चेतनवद् उपचार पक्ष में वारि के समान—हे वस्तो, हे वस्तु, हे वस्तुनी, हे वस्तूनि।

२. ङिति ह्रस्वश्च (१।४।६) इ०, पूर्व पृष्ठ ८६।

३. ब्रह्मबन्धु में प्रातिपदिकान्त 'उ' का ऊङ् के 'ऊ' के साथ सवर्ण दीर्घ एकादेश होता है। एकादेश अन्तादिवच्च (भाग १, पृ० ३१ पर व्याख्यात) से पूर्व का अन्तवत् माना जाने से सूत्र का अवयव होकर प्रातिपदिक संज्ञा होने से स्वादि प्रत्यय उत्पन्न होते हैं।

४. प्रथमा के एकवचन को छोड़कर अन्य सभी विभक्ति-वचनों में 'नदी' के समान रूप बनते हैं।

आट् आदि कार्य होकर—ब्रह्मबन्ध्वै, ब्रह्मबन्धूभ्याम्, ब्रह्मबन्धूभ्यः । ब्रह्मबन्ध्वाः, ब्रह्मबन्धूभ्याम्, ब्रह्मबन्धूभ्यः । ब्रह्मबन्ध्वाः, ब्रह्मबन्ध्वोः, ब्रह्मबन्धूनाम् । ब्रह्मबन्ध्वाम्, ब्रह्मबन्ध्वोः, ब्रह्मबन्धूषु । सम्बुद्धि में ह्रस्व होकर—हे ब्रह्मबन्धु, हे ब्रह्मबन्ध्वौ, हे ब्रह्मबन्ध्वः ।

ब्रह्मबन्धू के समान शब्द—वधू, चमू, श्वश्रू, संहितोरू, वामोरू, कमण्डलू, गुग्गलू, दब्रू इत्यादि ऊकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों के प्रयोग समझने चाहियें।

ऋकारान्त पुंलिंग 'पितृ' शब्द

ऋकारान्त शब्द दो प्रकार के होते हैं। एक वे जिनको सर्वनाम-स्थान में दीर्घ होता है, और दूसरे वे जिनको दीर्घ नहीं होता। इन दोनों प्रकार के शब्दों में कुछ शब्द लिङ्गभेद से तीनों लिंगों में आते हैं। पितृ, भ्रातृ, मातृ, दुहितृ आदि शब्दों को सर्वनामस्थान के परे दीर्घादेश नहीं होता।

पितृ—सु, यहां—

ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च (७।१।९४)—ऋकारान्त, उशनस्, पुरुदंसस् और अनेहस् शब्दों को संबुद्धि-भिन्न सु विभक्ति के परे अनङ् आदेश हो। ङित् होने से अनङ् अन्त्य 'ऋ' के स्थान में होता है। अनङ् होकर पितृ+अनङ्—सु, पुनः नकारस्थ अकार तथा ङकार की इत्संज्ञा और तकार में अकार मिलकर पितन्—सु। अब यहां नान्त अंग को **सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ** (६।४।८) से दीर्घ, और नकार का **नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (८।२।७) से लोप होकर— **पिता** । पितृ—औ, यहां—

ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः (७।३।११०)—ङि और सर्वनामस्थान परे हो, तो ऋकारान्त अंग को गुणादेश हो। इससे ऋकार के स्थान में 'अर्' गुण होके— **पितरौ, पितरः । पितरम्, पितरौ ।** पितृ—शस्, यहां शकार की इत्संज्ञा, पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश, और सकार को नकारादेश होकर— **पितॄन्** । पितृ—टा, टकार की इत्संज्ञा, ऋ के स्थान में यणादेश 'र्' होकर— **पित्रा । पितृभ्याम्, पितृभिः । पित्रे, पितृभ्याम्, पितृभ्यः ।** पितृ—ङसि, यहां—

ऋत उत् (६।१।१०७)—जो ऋकारान्त से परे ङसि ङस् सम्बन्धी अकार हो, तो पूर्व पर (पितृ अस् = ऋ अ) के स्थान में उकार एकादेश हो। उकार आदेश **उरण् रपरः** (१।१।५०) से रपर हुआ— पितुर् स्—

रात्सस्य (८।२।२४)—रेफ से परे संयोगान्त सकार का लोप हो।

सकार का लोप और रेफ को विसर्जनीय होकर—पितुः । पितृभ्याम्, पितृभ्यः । पितुः, पित्रोः । पितृ—आम्, यहां नुट् और दीर्घ होकर—

रषाभ्यां णत्वे ऋकारग्रहणम् (वा० ८।४।१)—र, ष से परे णत्व विधान में ऋकार का ग्रहण करना चाहिये। अर्थात् एकपद में ऋकार से परे भी नकार के स्थान में णकारादेश हो। इससे णत्व होकर—पितॄणाम्। पितृ—ङि, गुण और रपर होके—पितरि। पित्रोः, पितृषु। संबोधन में—संबुद्धिनिमित्तक गुण होकर—हे पितः, हे पितरौ, हे पितरः।[1]

पितृ के समान—भ्रातृ, जामातृ इत्यादि संज्ञा शब्दों के रूप समझने चाहिये।

नृ शब्द के आम् विभक्ति के परे कुछ विशेष होता है। नृ—आम्, नृ च (६।४।६)—नुट् सहित आम् विभक्ति के परे नृ शब्द के ऋकार को विकल्प करके दीर्घ हो। इससे—नृणाम्, नॄणाम्। संबोधन में—हे नः, हे नरौ, हे नरः।

दूसरे प्रकार के तृजन्त (शब्दों में) (जहां दीर्घ होता है) पुंलिंग होतृ शब्द। यहां होतृ—सु पूर्ववत् अनङ् आदेश आदि कार्य होकर—होता। होतृ—औ, यहां गुण होके—होतर्—औ।

अप्तृन्तृच्स्वसृनप्तृनेष्टृत्वष्टृक्षत्तृहोतृपोतृप्रशास्तॄणाम् (६।४।११)—संबुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान परे हो तो अप् शब्द तृन्-तृच् प्रत्ययान्त और स्वसृ, नप्तृ, नेष्टृ, त्वष्टृ, क्षत्तृ, होतृ, पोतृ और प्रशास्तृ इन शब्दों की उपधा को दीर्घादेश हो। इससे दीर्घ होकर—होतारौ, होतारः। होतारम्, होतारौ। शेष प्रयोग 'पितृ' शब्द के समान समझने चाहियें।

इसी प्रकार—कर्तृ, हर्तृ, नप्तृ, नेष्टृ, त्वष्टृ, क्षत्तृ, पोतृ, प्रशास्तृ शब्दों के प्रयोग भी समझने चाहियें।

ऋकारान्त नपुंसकलिंग 'कर्तृ' शब्द

'कर्तृ' शब्द के रूप 'वारि' शब्द के समान बनते हैं। कर्तृ—सु, यहां सु विभक्ति का लुक् होकर—कर्तृ। कर्तृ—औ, यहां औकार के स्थान में शी आदेश और नुम् होकर—कर्तृणी। कर्तृ—जस्, यहां

---

१. पिता, पितरौ, पितरः। पितरम्, पितरौ, पितॄन्। पित्रा, पितृभ्याम्, पितृभिः। पित्रे, पितृभ्याम्, पितृभ्यः। पितुः, पितृभ्याम्, पितृभ्यः। पितुः, पित्रोः, पितॄणाम्। पितरि, पित्रोः, पितृषु। हे पितः, हे पितरौ, हे पितरः।

शि आदेश, नुम् और दीर्घ होकर—कर्तॄणि। द्वितीया विभक्ति में भी कर्तृ, कर्तृणी, कर्तृणि। कर्तृ—टा, यहां से लेकर अजादि विभक्तियों में नुम् होगा—कर्तृणा, कर्तृभ्याम्, कर्तृभिः। कर्तृणे, कर्तृभ्याम्, कर्तृभ्यः। कर्तृणः, कर्तृभ्याम्, कर्तृभ्यः। कर्तृणः, कर्तृणोः, कर्तॄणाम्। कर्तृ—ङि, यहां ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः (७।३।११०) से गुण होकर—कर्तरि। कर्तृणोः कर्तृषु। संबोधन में—हे कर्तः, हे कर्तृ, हे कर्तृणी, हे कर्तॄणि। इसी प्रकार अन्य ऋकारान्त नपुंसकलिंग शब्दों के प्रयोग भी समझने चाहियें।

ऋकारान्त स्त्रीलिंग 'मातृ' आदि शब्द

ऋकारान्त स्त्रीलिङ्ग में केवल—मातृ, (स्वसृ,)[1] दुहितृ, ननान्दृ, यातृ, तिसृ, चतसृ ये सात शब्द हैं। इनके रूप कुछ भिन्न होते हैं।

स्त्रीलिंग मातृ शब्द—मातृ—सु=माता, मातरौ, मातरः। मातरम्, मातरौ, मातॄः। शस् के सकार को नकार आदेश पुंलिङ्ग में कहा है, अतः यहां न हुआ। मात्रा, मातृभ्याम्, मातृभिः। आगे पितृ शब्द के समान समझना चाहिये।

तिसृ, चतसृ शब्दों में विशेष यह है—

त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ (७।२।९९)—स्त्रीलिंग में वर्तमान त्रि और चतुर् शब्द हों, तो इनको विभक्ति परे रहते तिसृ और चतसृ आदेश हों। ये बहुवचनार्थक हैं, अतः बहुवचन में ही प्रयुक्त होते हैं।

अचि र ऋतः (७।२।१००)—अजादि विभक्ति परे रहते तिसृ और चतसृ शब्द के ऋकार को 'रेफ' आदेश हो। तिसृ—जस्=तिस्रः। चतसृ—जस्=चतस्रः। शस् में भी ऐसा ही होता है। तिसृभिः, चतसृभिः। तिसृभ्यः, चतसृभ्यः; तिसृभ्यः, चतसृभ्यः। तिसृ—आम्, चतसृ—आम्; यहां—

न तिसृचतसृ (६।४।४)—तिसृ और चतसृ शब्दों को नुट् सहित

---

[1] अन्य ऋकारान्त 'कर्तृ' आदि शब्द स्त्रीलिङ्ग में 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' (४।१।५) से ङीप् होकर 'कर्त्री' इस प्रकार ईकारान्त बन जाते हैं। 'स्वसृ' आदि में 'न षट्स्वस्रादिभ्यः' (४।१।१०) से ङीप् का निषेध हो जाता है। अतः ये ऋकारान्त ही रहते हैं।

आम् विभक्ति परे हो, तो दीर्घ न हो। तिसृणाम्, चतसृणाम्। तिसृषु, चतसृषु।

ओकारान्त पुंल्लिङ्ग वा स्त्रीलिंग 'गो' शब्द

इसके दोनों लिंगों में एक से ही प्रयोग बनते हैं।[1] गो—सु—

गोतो णित् (७।१।९०)—गो शब्द से परे जो सर्वनामस्थान विभक्ति हो, वह णित् के समान हो जावे। सर्वनामस्थान को णिद्वत् होने से **अचो ञ्णिति** (७।२।११५) से वृद्धि हो जाती है। यहां भी गो शब्द को वृद्धि होकर—**गौः**। **गौ**—औ यहां आवादेश होकर—**गावौ, गावः**। गो—अम्—

औतोऽम्शसोः (६।१।९०)—जो अम् और शस् विभक्ति परे हों, तो ओकारान्त शब्द के ओकार और विभक्ति के अच् को आकारादेश हो। इससे **गाम्, गावौ, गाः**। गो—टा, टा विभक्ति के परे अवादेश होकर—**गवा**। **गोभ्याम्, गोभिः। गवे, गोभ्याम्, गोभ्यः**। गो—ङसि, यहां पूर्वरूप एकादेश[2] होकर—**गोः**। **गोभ्याम्, गोभ्यः। गोः, गवोः, गवाम्। गवि, गवोः, गोषु**। जो किसी अर्थ में इस शब्द का संबोधन आवे, तो कुछ विशेष न होगा।

ओकारान्त '**द्यो**' शब्द के रूप भी 'गो' के समान ही बनते हैं।

औकारान्त स्त्रीलिंग 'नौ' शब्द

नौ—सु=**नौः**। नौ—औ=**नावौ। नावः। नावम्, नावौ, नावः।
नावा, नौभ्याम्, नौभिः। नावे, नौभ्याम्, नौभ्यः। नावः, नौभ्याम्, नौभ्यः। नावः, नावोः, नावाम्। नावि, नावोः, नौषु**।

इसी प्रकार औकारान्त पुंलिंग 'ग्लौ' शब्द समझना—**ग्लौः, ग्लावौ, ग्लावः** इत्यादि।

---

१. पुंल्लिङ्ग गो शब्द बैल के अर्थ में, और स्त्रीलिङ्ग गो गाय के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

२. ङसिङसोश्च (६।१।१०९) सूत्र से।

षष्ठ प्रकरण

नामिक=सुबन्त (हलन्त)

अब हलन्त शब्दों के क्रमशः रूप दर्शाये जाते हैं—

चकारान्त स्त्रीलिङ्ग 'वाच्' शब्द[1]

वाच्—सु, यहां चकार के स्थान में चोः कुः (८।२।३०) से ककार, और झलां जशोऽन्ते (८।२।३९) से गकार होकर—

वाऽवसाने (८।४।५५)—अवसान में वर्तमान झल् को विकल्प करके चर् हो। वाक्, वाग्; वाचौ, वाचः। वाचम्, वाचौ, वाचः। वाचा। वाच्—भ्याम्, यहां भी स्वादिष्वसर्वनामस्थाने (१।४।१७) से पद संज्ञा होने से चकार को ककारादेश होकर 'वाक्—भ्याम्' इस अवस्था में जश् आदेश होकर—वाग्भ्याम्। वाग्भिः। वाचे, वाग्भ्याम्, वाग्भ्यः। वाचः, वाग्भ्याम्, वाग्भ्यः। वाचः, वाचोः, वाचाम्। वाचि, वाचोः। वाक्—सु, यहां ककार से परे 'सु' के सकार को आदेशप्रत्यययोः (८।३।५९) से षकार आदेश होकर—वाक्—षु=वाक्षु। 'वाच्' शब्द वाणी का वाची है, इसलिए जड़भाव होने से यह संबोधन में नहीं आता।

वाच् शब्द के समान—शुच्, त्वच्, स्रुच् इत्यादि शब्दों के रूप भी समझने चाहियें।

जकारान्त पुंलिंग 'ऋत्विज्' शब्द

ऋत्विज् शब्द के रूपों में भी वाच् के समान ही कार्य होता है। ऋत्विज्—सु, पदान्त में कवर्गादेश होकर विकल्प करके चर्, और दूसरे पक्ष में जश् होकर—ऋत्विक्, ऋत्विग्; ऋत्विजौ, ऋत्विजः। ऋत्विजम्, ऋत्विजौ, ऋत्विजः। ऋत्विजा, ऋत्विग्भ्याम्, ऋत्विग्भिः। ऋत्विजे, ऋत्विग्भ्याम्, ऋत्विग्भ्यः। ऋत्विजः, ऋत्विग्भ्याम्, ऋत्विग्भ्यः। ऋत्विजः, ऋत्विजोः, ऋत्विजाम्। ऋत्विजि, ऋत्विजोः। ऋत्विज्—सु, यहां कुत्व होने से जकार को 'ग्' आदेश होकर 'ग्' को खरि च (८।४।५४) से 'क्',

---

१. 'वाच्' शब्द के रूप प्रथम भाग (पृष्ठ ५१-५४) में भी लिख चुके हैं।

पठता, पठतः, पठतोः — आगे महत् शब्द के समान प्रयोग जानने चाहियें।

पठत् के समान—पचत्, कुर्वत्, गच्छत्, पृषत्, बृहत् इत्यादि शब्दों के प्रयोग भी समझने चाहियें।

'महत्' शब्द में कुछ विशेषता है। महत्—सु यहां पूर्ववत् नुम् का आगम होकर—महन्त्—सु, इस अवस्था में—

सान्तमहतः संयोगस्य (६।४।१०) से सर्वनामस्थान परे हो, तो सकारान्त संयोग और महत् शब्द के नकार की उपधा को दीर्घ हो। यहां दीर्घ और पूर्ववत् तकार का लोप होकर—महान्, महान्तौ, महान्तः। महान्तम्, महान्तौ। आगे के प्रयोग मरुत् शब्द के समान समझने चाहियें।

दकारान्त स्त्रीलिङ्ग 'सम्पद्' शब्द

सम्पद्—सु, यहां भी हल्ङ्याप्० (६।१।६८) से 'सु' का लोप, और विकल्प से चर् होकर दो प्रयोग होते हैं—सम्पद्, सम्पत्। सम्पदौ, सम्पदः इत्यादि। आगे मरुत् के समान रूप होते हैं।

सम्पद् के समान—शरद्, भसद्, दृषद्, विपद्, आपद्, प्रतिपद्—स्त्रीलिङ्ग, और वेदविद्, नखच्छिद् इत्यादि दकारान्त शब्दों के रूप, स्त्रीलिंग और पुंल्लिंग में समान समझने चाहियें। शरत्, शरद्; शरदौ, शरदः इत्यादि। वेदवित्, वेदविद्; वेदविदौ, वेदविदः इत्यादि।

नकारान्त पुंल्लिङ्ग 'राजन्' शब्द

राजन्—सु, यहां सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ (६।४।८) से दीर्घ और नलोपः प्राति० (८।२।७) से न् लोप होकर—राजा, राजानौ, राजानः। राजानम्, राजानौ। राजन्—शस्, यहां यचि भम् (१।४।१८) से 'भ' संज्ञा होकर—अल्लोपोऽनः (६।४।१३४) से अन् के अ का लोप होकर—राज्न्—अस्। नकार को जकार के योग में स्तोः श्चुना श्चुः (८।४।४०) से ञकारादेश होकर—राज्ञः। राज्ञा। राजन्—भ्याम्, यहां भी नकार का लोप होकर—राजभ्याम्, राजभिः। राज्ञे, राजभ्याम्, राजभ्यः। राज्ञः, राजभ्याम्, राजभ्यः। राज्ञः, राज्ञोः, राज्ञाम्। राजन्—ङि यहां—

विभाषा ङिश्योः (६।४।१३६) भसंज्ञक अन्नन्त अङ्ग के अ का लोप ङि और शी (औ औट् का आदेश) परे विकल्प करके हो। इस प्रकार-

लोप के विकल्प से दो प्रयोग बनते हैं—राज्ञि, राजनि। राज्ञोः। राजसु। संबोधन में—हे राजन्, हे राजानौ, हे राजानः।

राजन् के समान—वृषन्, तक्षन्, प्लीहन्, स्नेहन्, मूर्धन्, मज्जन् इत्यादि शब्दों के रूप भी समझने चाहियें।

जिन नकारान्त शब्दों में कुछ विशेष कार्य होता है, उनको आगे लिखते हैं—

नकारान्त पुंल्लिग 'आत्मन्' शब्द

आत्मा, आत्मानौ, आत्मानः। आत्मानम्, आत्मानौ। इस शब्द में इतना विशेष है कि 'शस्, टा, ङे, ङसि, ङस्, ओस्, आम्, ङि, ओस्' इन विभक्तियों में भसंज्ञा के होने से अल्लोपोऽनः (६।४।१३४) से अकार-लोप की प्राप्ति होती है। उसका—

न संयोगाद्वमन्तात् (६।४।१३७)—वकारान्त और मकारान्त संयोग से परे अन् हो, तो भसंज्ञक अकार का लोप न हो। इससे अकार-लोप का प्रतिषेध हो जाने से—आत्मनः[1], आत्मना, आत्मने, आत्मनः, आत्मनः, आत्मनोः, आत्मनाम्, आत्मनि, आत्मनोः रूप बनते हैं। शेष 'राजन्' के समान समझें।

आत्मन् के समान—सुशर्मन्, सुधर्मन्, अश्मन्, यज्वन्[2], सुपर्वन्, अथर्वन्, मातरिश्वन् इत्यादि शब्दों के रूप भी जानने चाहियें।

नकारान्त नपुंसकलिंग 'सामन्' शब्द

नकारान्त नपुंसकलिङ्ग 'सामन्' के तृतीया चतुर्थी पञ्चमी षष्ठी सप्तमी विभक्ति में राजन् के समान ही रूप चलते हैं। प्रथमा द्वितीया विभक्ति में कुछ विशेष है—

सामन्—सु, यहां सुलोप और नलोप होकर—**साम**। सामन्—औ, औकार के स्थान में नपुंसकाच्च (७।१।१९) से शी आदेश, और **विभाषा ङिश्योः** (६।४।१३६) से विकल्प करके अकार का लोप होकर—**साम्नी-सामनी**। सामन्—जस्, शि आदेश और नान्त की उपधा को दीर्घ होकर—**सामानि**। फिर भी—**साम, साम्नी-सामनी, सामानि**। आगे

---

१. आत्मन् में अन् से पूर्व त् म् का मान्त संयोग है।

२. यहां ज् व् का संयोग है। इसी प्रकार अगले शब्दों में भी र् व् तथा श् व् का संयोग है, जो वान्त संयोग है।

राजन् शब्द के समान साम्ना, सामभ्याम्, सामभिः। साम्ने, सामभ्याम् इत्यादि प्रयोग जानने चाहियें। संबोधन में इतना विशेष है कि—

वा नपुंसकानाम् (वा० ८।२।८) —संबुद्धि में नपुंसकलिंग शब्दों के नकार का लोप विकल्प करके हो। हे साम, हे सामन्।

इसी प्रकार—सीमन्, नामन्, व्योमन्, रोमन्, लोमन्, पामन् इत्यादि शब्दों के रूप भी जानने चाहियें।

कर्मन् चर्मन्, भस्मन्, जन्मन्, शर्मन्, इत्यादि मकारान्त संयोगवाले नकारान्त नपुंसकलिंग शब्द हैं। इनके प्रयोग प्रथमा द्वितीया में कर्म, कर्मणी, कर्माणि, और अन्य विभक्तियों में आत्मन् शब्द के समान समझने चाहियें—कर्मणा, कर्मणे इत्यादि।

इन्नन्त पुंल्लिंग 'दण्डिन्' शब्द

दण्डिन्—सु, यहां—

सौ च (६।४।१२) अनु०—दीर्घः, उपधायाः, असम्बुद्धौ, इन्हन्-पूषार्यम्णाम्। अर्थ—इन्नन्त हन् पूषन् अर्यमन् की उपधा को सम्बुद्धिभिन्न सु परे दीर्घ होता है। इससे दीर्घ होकर—दण्डी, दण्डिनौ, दण्डिनः। दण्डिनम्, दण्डिनौ, दण्डिनः। दण्डिना, दण्डिभ्याम्, दण्डिभिः। दण्डिने, दण्डिभ्याम्, दण्डिभ्यः। दण्डिनः, दण्डिभ्याम्, दण्डिभ्यः। दण्डिनः, दण्डिनोः, दण्डिनाम्। दण्डिनि, दण्डिनोः, दण्डिषु। संबोधन में—हे दण्डिन्, हे दण्डिनौ, हे दण्डिनः।

इसी प्रकार—धनिन्, उष्णभोजिन्, साधुकारिन्, ब्रह्मवादिन्, सोमयाजिन् इत्यादि शब्दों के रूप जानने चाहियें।

दण्डिन् आदि शब्द यदि 'कुल' के विशेषण के रूप[1] में नपुंसकलिंग में प्रयुक्त हों, तो उनके प्रयोग वारि शब्द के समान समझने चाहियें। परन्तु षष्ठीविभक्ति के बहुवचन में दण्डिन् आदि इन्नन्त शब्दों को दीर्घ नहीं होगा—दण्डिनाम्।

नकारान्त संख्यावाची 'पञ्चन्' शब्द

नकारान्त पञ्चन्, सप्तन्, अष्टन्, नवन्, दशन्, बहुवचनान्त संख्यावाची शब्द तीनों लिंगों में समान ही होते हैं। नकारान्त संख्यावाची शब्दों की ष्णान्ता षट् (१।१।२३) से षट् संज्ञा होती है, और षड्भ्यो लुक्

१. दण्डाः सन्ति यस्मिन् कुले तत् 'दण्डिन् कुलम्'।

(७।१।२२) से जस् शस् का लुक् होता है। पञ्च तिष्ठन्ति, पञ्च पश्य। आगे पञ्चभिः, पञ्चभ्यः, पञ्चभ्यः। पञ्चन्—आम्, इस अवस्था में षट्चतुर्भ्यश्च (७।१।५५) से षट्संज्ञक और चतुर् शब्द से परे आम् विभक्ति को नुट् का आगम होता है। नुट् होकर—पञ्चन्—न् आम्, इस अवस्था में—

नोपधायाः (६।४।७)—नुट्सहित आम् विभक्ति परे हो तो उपधा को दीर्घ हो। दीर्घ होकर—पञ्चान्—न्—आम्। स्वादिष्वसर्वनामस्थाने (१।४।१७) से पद संज्ञा होकर—नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य (८।२।७) से नलोप होकर—पञ्चानाम्।

इसी प्रकार—सप्तन्, नवन्, दशन् के रूप जानने चाहियें।

'अष्टन्' शब्द में विशेष कार्य होता है। अष्टन्—जस्, यहां—

अष्टन आ विभक्तौ (७।२।८४)—विभक्तिमात्र के परे अष्टन् शब्द को आकारादेश हो। यद्यपि सूत्र में विकल्प ग्रहण नहीं है, तथापि अष्टन् शब्द को आकारादेश विकल्प करके होता है। जैसे—अष्टा—जस्, अष्टन—जस्, इस अवस्था में—

अष्टाभ्य औश् (७।१।२१)—आकारादेश किये हुये अष्टा शब्द से परे जस् और शस् विभक्ति को औकारादेश हो। पुनः वृद्धि एकादेश होकर—अष्टौ, अष्टौ। द्वितीय पक्ष में—पञ्चन् के समान षट्संज्ञा और जस् शस् का लुक् होकर—अष्ट तिष्ठन्ति, अष्ट पश्य। अष्टभिः-अष्टाभिः, अष्टभ्यः-अष्टाभ्यः, अष्टभ्यः-अष्टाभ्यः। अष्टन्—आम्, इस अवस्था में—आत्व और नान्त दोनों पक्षों में एक जैसा ही रूप होगा—अष्टानाम्। अष्टसु-अष्टासु।

पकारान्त अनियतलिंग 'सुप्' शब्द

सुप्—सु, यहां हल्ङ्याब्भ्यो (६।१।६८) से सकार का लोप होकर—सुप्, सुब्। सुप्+औ=सुपौ। सुपः। सुपम्, सुपौ, सुपः। [illegible] भ्याम् आदि झलादि विभक्तियों में पकार को जश्त्व से बकार हो जाता है—

१. [illegible] आत्व [illegible] निर्देश से होता है। [illegible] 'सु' से लेकर [illegible] सुप् के पकार तक २१ प्रत्ययों का बोध होता है।

सुभ्याम्, सुभिः । सुपे, सुभ्याम्, सुभ्यः । सुपः, सुभ्याम्, सुभ्यः । सुपः, सुपोः, सुपाम् । सुपि, सुपोः, सुप्सु । इसी प्रकार—तिप्, सिप्, मिप् आदि पकारान्त प्रत्ययसंज्ञक शब्दों के प्रयोग भी समझने चाहियें ।

पकारान्त स्त्रीलिंग बहुवचनान्त 'अप्' शब्द

अप् शब्द के सातों विभक्तियों के बहुवचन ही आते हैं । अप्—जस्, यहाँ अप्तृन्तृच्स्वसृनप्तृनेष्टृत्वष्टृक्षत्तृ० (६।४।११) सूत्र से दीर्घ होके—आपः । अप्—शस्, यहाँ कुछ विशेष नहीं—अपः । अप्—भिस्, यहाँ अपो भि (७।४।४८)—भकारादि प्रत्यय के परे अप् शब्द के अन्त को तकारादेश हो । तकार के स्थान में दकार होकर—अद्भिः । अद्भ्यः । अद्भ्यः । अपाम् । अप्सु ।

भकारान्त स्त्रीलिंग 'ककुभ्' शब्द

ककुभ्[1]—सु, यहाँ सु के सकार का लोप होकर[2] भकार को बकार और उसके स्थान में विकल्प से पकार होते हैं । जैसे—ककुब्, ककुप्, ककुभौ, ककुभः । ककुभम्, ककुभौ, ककुभः । ककुभा, ककुब्भ्याम्, ककुब्भिः । ककुभे, ककुब्भ्याम्, ककुब्भ्यः । ककुभः, ककुब्भ्याम्, ककुब्भ्यः । ककुभः, ककुभोः, ककुभाम् । ककुभि, ककुभोः, ककुप्सु ।

ककुभ् के समान शब्द—इसी प्रकार त्रिष्टुभ्, अनुष्टुभ् आदि शब्दों के प्रयोग समझने चाहियें ।

रेफान्त स्त्रीलिंग 'गिर्'[3] शब्द

गिर्—सु, यहाँ सकार का लोप होकर—वोरुपधाया दीर्घ इकः (८।२।७६)—जो पदान्त में रेफ वकारान्त धातु की उपधा इक् उसको दीर्घ हो । इससे दीर्घ होकर—गीः । गिरौ, गिरः । गिरम्, गिरौ, गिरः । गिरा, गीर्भ्याम्, गीर्भिः । गिरे, गीर्भ्याम्, गीर्भ्यः । गिरः, गीर्भ्याम्, गीर्भ्यः । गिरः, गिरोः, गिराम् । गिरि, गिरोः, गिर्—सु,

---

१. ककुभ्—यह दिशा का नाम है ।

२. स् का लोप—हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल् (६।१।६६) से; भ् को ब्—झलां जशोऽन्ते (८।२।३९) और प—वाऽवसाने (८।४।५६) से ।

३. गिर्, यह वाणी का नाम है ।

यहां खर् इत्याहार के परे र् के स्थान में खरवसानयोः (८।३।१५) से विसर्जनीय पाता है। इसलिए उत्तर सूत्र नियमार्थ है—

रोः सुपि (८।३।१६)—सुप् अर्थात् सप्तमी बहुवचन के परे रेफ के स्थान में विसर्जनीय हो तो रु के ही रेफ को हो। इससे 'गिर्' शब्द के रेफ को विसर्जनीय न हुआ। उपधा को दीर्घ, और सकार को मूर्धन्यादेश होकर—**गीर्षु**।

गिर् के समान—धुर्, पुर्, तुर्, भुर्, जुर् इत्यादि शब्दों के प्रयोग समझने चाहियें।

रेफान्त शब्दों में 'चतुर्' शब्द के प्रयोग विशेष होते हैं। इस शब्द से बहुवचन विभक्तियां ही आती हैं। और तीनों लिङ्गों में इसका प्रयोग किया जाता है। चतुर्—जस्—

चतुरनडुहोरामुदात्तः (७।१।९८)—जो सर्वनामस्थान विभक्ति परे हों, तो चतुर् और अनडुह् शब्द को आम् का आगम हो, और वह उदात्त भी हो। आम् आगम 'तु' से परे होकर चतु—आम्—र्—जस्। रुत्वसंज्ञा, यणादेश और विसर्जनीय कार्य होकर—**चत्वारः**। चतुर्—शस्=**चतुरः**। पुंलिङ्ग में ऐसे प्रयोग होते हैं।

नपुंसकलिङ्ग में जस् और शस् विभक्ति के स्थान में शि आदेश हो जाता है। उसकी सर्वनामस्थानसंज्ञा होने से 'आम्' होकर—**चत्वारि**, **चत्वारि**।

आगे दोनों लिङ्गों में चतुर्भिः, चतुर्भ्यः, चतुर्भ्यः। चतुर्—आम्, यहां आम् विभक्ति को नुट् का आगम होकर—

रषाभ्यां नो णः समानपदे (८।४।१)—एक पद में रेफ और षकार से परे नकार को णकारादेश हो। इससे णकार, और उसको अचो रहाभ्यां द्वे (८।४।४५) से विकल्प करके द्वित्व होकर—चतुर्ण्णाम्-चतुर्णाम्। चतुर्षु।

स्त्रीलिङ्ग में 'चतुर्' शब्द को 'चतसृ' आदेश होता है। इस के रूप ऋकारान्त स्त्रीलिङ्ग के प्रकरण में—पूर्व-पृष्ठ ६५-६६ पर देखें।

शकारान्त स्त्रीलिङ्ग 'दिश्' शब्द

दिश्—सु, यहां सु का लोप, तथा प्रत्ययलक्षण से पद संज्ञा होकर 'दिश्' पदान्त में—

क्विन्प्रत्ययस्य कुः (८।२।६२)—क्विन्-प्रत्ययान्त शब्दों को पदान्त में कुत्व होता है। इससे कुत्व होकर—दिक्-दिग्, दिशौ, दिशः। दिशम्, दिशौ, दिशः। दिशा, दिग्भ्याम्, दिग्भिः। दिशे, दिग्भ्याम्, दिग्भ्यः। दिशः, दिग्भ्याम्, दिग्भ्यः। दिशः, दिशोः, दिशाम्। दिशि, दिशोः, दिक्—सु, यहां भी प्रत्यय के सकार को मूर्धन्य षकार होकर—दिक्षु।

दिश् शब्द के समान—घृतस्पृश्, दृश्, कीदृश्, ईदृश्, सदृश्, तादृश्, यादृश्, एतादृश्, त्यादृश् इत्यादि शब्दों के प्रयोग समझने चाहियें।

शकारान्त 'सदृश्' शब्द

'सदृश्' शब्द को पुंल्लिङ्ग में दिश् शब्द के समान कार्य होकर—सदृक् सदृग्, सदृशौ, सदृशः आदि रूप होते हैं। नपुंसकलिंग में नुमादि होकर—सदृक्-सदृग्, सदृशी, सदृंशि। द्वितीया में भी सदृक् सदृग्, सदृशी, सदृंशि। आगे सदृशा इत्यादि पूर्ववत्।

षकारान्त स्त्रीलिंग 'प्रावृष्' शब्द

प्रावृष्—सु, यहां झलां जशोऽन्ते (८।२।३९) से षकार को डकार और विकल्प से चर् होकर—प्रावृट्-प्रावृड्, प्रावृषौ, प्रावृषः। प्रावृषम्, प्रावृषौ, प्रावृषः। प्रावृषा, प्रावृड्भ्याम्, प्रावृड्भिः। प्रावृषे, प्रावृड्भ्याम्, प्रावृड्भ्यः। प्रावृषः, प्रावृड्भ्याम्, प्रावृड्भ्यः। प्रावृषः, प्रावृषोः, प्रावृषाम्। प्रावृषि, प्रावृषोः, प्रावृट्सु।

प्रावृष् के समान—विप्रुष्, त्विष्, रुष्, मष् इत्यादि शब्दों के प्रयोग जानने चाहियें। और, बह्वाशिष् आदि पुंलिंग शब्दों के प्रयोग भी प्रावृष् शब्द के समान समझने चाहियें।

संख्यावाची बहुवचनान्त 'षष्' शब्द

इससे बहुवचन विभक्ति ही आती है। षष्—जस्, षष्—शस्, यहां षट् संज्ञा होने से षड्भ्यो लुक् (७।१।२२) से जस् और शस् का लुक्, तथा पूर्ववत् षकार को डकार, और विकल्प से चर् होकर—षट्-षड्, षट्-षड्, षड्भिः, षड्भ्यः, षड्भ्यः। षष्—आम्, यहां षट्चतुर्भ्यश्च (७।१।५५) से नुट् का आगम होकर—षष्—नाम्। षकार को ड् होकर—षड्नाम्। पुनः अनुनासिक होकर—षण्नाम् और ष्टुत्व होकर—षण्णाम्। षट्सु।[1]

१. यहां 'सु' परे 'षट्' की पद संज्ञा होने से नपदान्ताट्टोरनाम् (८।४।४१) से षकारादेश नहीं होता।

सकारान्त पुंल्लिङ्ग 'चन्द्रमस्' शब्द

अत्वसन्तस्य चाधातोः (६।४।१४) — अतु (= अत्) और अस जिसके अन्त में है ऐसे धातुवर्जित शब्द को 'सु' के परे रहने पर दीर्घ होता है। इससे दीर्घ होकर — चन्द्रमाः। चन्द्रमसौ, चन्द्रमसः। चन्द्रमसम्, चन्द्रमसौ, चन्द्रमसः। चन्द्रमसा। चन्द्रमस् + भ्याम्, यहां ससजुषो रुः (८।२।६६) से सकार को रु, और रु को हशि च (६।१।११०) से उत् आदेश होकर — चन्द्रमउभ्याम्, गुण सन्धि होकर — चन्द्रमोभ्याम्। चन्द्रमोभिः। चन्द्रमसे, चन्द्रमोभ्याम्, चन्द्रमोभ्यः। चन्द्रमसः, चन्द्रमोभ्याम्, चन्द्रमोभ्यः। चन्द्रमसः, चन्द्रमसोः, चन्द्रमसाम्। चन्द्रमसि, चन्द्रमसोः, चन्द्रमस्सु-चन्द्रमःसु[1]।

इसी प्रकार — जातवेदस्, विश्वयशस्, द्रविणोदस्, विश्ववेदस्, विश्वभोजस्, अङ्गिरस्, नोधस्, पुरोधस्, वयोधस्, वेधस्, नृचक्षस् इत्यादि पुंल्लिङ्ग शब्दों के प्रयोग समझने चाहियें।

सकारान्त पुंल्लिङ्ग 'विद्वस्' शब्द

उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः (७।१।७०) से नुम् का आगम होके 'विद्वन् स् स्' इस अवस्था में सान्तमहतः संयोगस्य (६।४।१०) से दीर्घ, हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुति० (६।१।६८) से सुलोप, संयोगान्तस्य लोपः (८।२।२३) से विद्वान्स्। यहां सकार का लोप होकर — विद्वान्। विद्वांसौ, विद्वांसः। विद्वांसम्, विद्वांसौ। विद्वस् — शस्, इस अवस्था में यचि भम् (१।४।१८) से भ संज्ञा होकर —

वसोः संप्रसारणम् (६।४।१३१) — भसंज्ञक वसुप्रत्ययान्त शब्दों को संप्रसारण हो। इससे वकार को उ संप्रसारण होकर — विद् उ अ स्, इस अवस्था में उ और अ के स्थान में सम्प्रसारणाच्च (६।१।१०८) से पूर्वरूप होकर — विदुस् शस्, इस अवस्था में वसु के सकार को मूर्धन्य आदेश होकर — विदुषः। विदुषा। विद्वस् भ्याम् —

वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः (८।२।७२) — वसुप्रत्ययान्त, स्रंसु, ध्वंसु और अनडुह् इन शब्दों के पदान्त सकार तथा हकार को दकारादेश हो। इससे सकार को दकार होकर — विद्वद्भ्याम्। विद्वद्भिः। विदुषे, विद्वद्भ्याम्, विद्वद्भ्यः। विदुषः, विद्वद्भ्याम्, विद्वद्भ्यः। विदुषः, विदुषोः,

---

१. वा शरि (८।३।३६) से विकल्प।

विदुषाम् । विदुषि, विदुषोः, विद्वत्सु । हे विद्वन्, हे विद्वांसौ, हे विद्वांसः ।

सकारान्त पुंलिङ्ग 'पर्णध्वस्' शब्द

पर्णध्वस्–यह शब्द ध्वस् धातु से बना है। इसको भी पदान्त में उक्त (८।२।७२) सूत्र से दकारादेश हो जाता है। जैसे—पर्णध्वत्-पर्णध्वद्, पर्णध्वसौ, पर्णध्वसः। पर्णध्वसम्, पर्णध्वसौ, पर्णध्वसः। पर्णध्वसा, पर्णध्वद्भ्याम्, पर्णध्वद्भिः। पर्णध्वसे, पर्णध्वद्भ्याम्, पर्णध्वद्भ्यः। पर्णध्वसः, पर्णध्वद्भ्याम्, पर्णध्वद्भ्यः। पर्णध्वसः, पर्णध्वसोः, पर्णध्वसाम्। पर्णध्वसि, पर्णध्वसोः, पर्णध्वत्सु। इसी प्रकार उखास्रस् आदि शब्दों के प्रयोग समझने चाहियें।

अप्सरस्, उषस्, सुमनस् इत्यादि स्त्रीलिङ्ग शब्दों के प्रयोग चन्द्रमस् शब्द के तुल्य होते हैं।

सकारान्त नपुंसकलिङ्ग 'पयस्' शब्द

असुन् प्रत्ययान्त पयस् आदि सकारान्त शब्द प्रायः नपुंसकलिङ्ग में आते हैं। पयस्—सु, यहां सु का लोप होकर—पयः। पयस्—औ, यहां औ के स्थान में शी होकर—पयसी। पयस्—जस्, यहां भी जस् के स्थान में शि, नुम् का आगम और दीर्घ होकर—पयांसि। फिर भी—पयः, पयसी, पयांसि। तृतीयादि विभक्तियों के प्रयोग चन्द्रमस् शब्द के समान समझने चाहियें।

पयस् के समान—मनस्, श्रेयस्, यशस्, वचस्, तमस्, एनस् इत्यादि शब्दों के प्रयोग भी समझने चाहियें।

सकारान्त नपुंसकलिङ्ग 'यजुस्' शब्द

यजुस्—सु, यहां पयस् शब्द के समान सब कार्य होकर—यजुः, यजुषी[2], यजूंषि। फिर भी यजुः, यजुषी, यजूंषि। यजुषा। यजुस्—भ्याम्, यहां सकार के स्थान में रु और रेफ को उपधा दीर्घ की प्राप्ति न होने से यजुर्भ्याम्, यजुर्भिः। यजुषे, यजुर्भ्याम्, यजुर्भ्यः। यजुषः, यजुर्भ्याम्, यजुर्भ्यः। यजुषः, यजुषोः, यजुषाम्। यजुषि, यजुषोः, यजुष्षु-यजुःषु। यहां भी स् को ष् मूर्धन्य हो जाता है।[3]

---

१. असन्तो ह्यच्कः। ४०—पूर्व पृष्ठ ७२।

२. आदेशप्रत्यययोः (८।३।५९) से मूर्धन्य होता है।

३. नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि (८।३।५८) से नुम् विसर्जनीय तथा शर् के व्यवधान होने पर भी मूर्धन्य हो जाता है।

'यजुस्' के समान—धनुस्, ज्योतिस्, हविस्, आयुस्, सर्पिस्, अर्चिस् आदि शब्दों के रूप इसी प्रकार जानने चाहियें।

हकारान्त स्त्रीलिङ्ग 'उपानह्' शब्द

उपानह् + सु, यहां सु का लोप होकर पदसंज्ञा होने पर—

नहो धः (८।२।३४)—झल् परे वा पदान्त में नह् धातु के हकार को धकारादेश हो। धकार को दकार और विकल्प से चर् होकर—**उपानत्-उपानद्, उपानहौ, उपानहः। उपानहम्, उपानहौ, उपानहः। उपानहा, उपानद्भ्याम्, उपानद्भिः। उपानहे, उपानद्भ्याम्, उपानद्भ्यः। उपानहः, उपानद्भ्याम्, उपानद्भ्यः। उपानहः, उपानहोः, उपानहाम्। उपानहि, उपानहोः, उपानत्सु।**

हकारान्त पुंल्लिङ्ग 'अनडुह्' शब्द

'अनडुह्—सु' इस अवस्था में—

सावनडुहः (७।१।८२)—सु विभक्ति परे हो, तो अनडुह् शब्द को नुम् का आगम हो। नुम् होकर—अनडुन्ह्। पुनः आम् का आगम[1] होकर—अनड् आ न् ह्। यणादेश और संयोगान्त ह् का लोप होकर—**अनड्वान्। अनड्वाहौ, अनड्वाहः। अनड्वाहम्, अनड्वाहौ, अनडुहः। अनडुहा।** अनडुह्—भ्याम्, यहां हकार को **वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः**[2] (८।२।७२) से दकारादेश होकर—**अनडुद्भ्याम्। अनडुद्भिः। अनडुहे, अनडुद्भ्याम्, अनडुद्भ्यः। अनडुहः, अनडुद्भ्याम्, अनडुद्भ्यः। अनडुहः, अनडुहोः, अनडुहाम्। अनडुहि, अनडुहोः, अनडुत्सु।** सम्बोधन में अनडुह् + सु, इस अवस्था में ७।१।८२ से नुम्—अनडुन्ह्—सु, इस अवस्था में—

अम् सम्बुद्धौ (७।१।९९)—सम्बुद्धि परे रहने पर चतुर् और अनडुह् को अम् का आगम होता है। इससे अम् का आगम और पूर्ववत् शेष कार्य (हल्लोप, यणादेश) होकर—**हे अनड्वन्, हे अनड्वाहौ, हे अनड्वाहः** रूप बनते हैं।

---

१. चतुरनडुहोराम् उदात्तः (७।१।९८, पूर्व पृष्ठ १०४ पर व्याख्यात) से आम् का आगम होता है। मित् होने से न् से पूर्व होगा।

२. देखो पूर्व पृष्ठ १०६।

सप्तम-प्रकरण

नामिक-सुबन्त (सर्वनाम)

अब आगे सर्वनामसंज्ञक शब्दों के रूप लिखेंगे। सर्वादि शब्दों को सर्वादीनि सर्वनामानि (१।१।२६) से 'सर्वनाम' संज्ञा होती है। ये शब्द तीनों लिङ्गों में आते हैं।

'सर्व' शब्द

पुंल्लिङ्ग में। सर्व+सु=सर्वः, सर्वौ। सर्व+जस्—

जसः शी (७।१।१७) अकारान्त सर्वनाम से परे जस् के स्थान में शी आदेश होता है। शित् होने से 'शी' आदेश अनेकाल्शित् सर्वस्य (१।१।५४) के नियम से सर्वादेश होता है। शकार की इत्संज्ञा और पूर्व पर के स्थान में गुण एकादेश होकर—सर्वे। सर्वम्, सर्वौ, सर्वान्। सर्वेण, सर्वाभ्याम्, सर्वैः। सर्व ङे—

सर्वनाम्नः स्मै (७।१।१४)—अदन्त सर्वनाम अङ्ग से परे ङे विभक्ति के स्थान में स्मै आदेश होता है। सर्वस्मै। सर्वाभ्याम्, सर्वेभ्यः। सर्व—ङसि—

ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ (७।१।१५)—अकारान्त सर्वनाम से परे ङसि और ङि विभक्ति के स्थान में क्रम से स्मात् और स्मिन् आदेश हों। सर्वस्मात्। सर्वाभ्याम्, सर्वेभ्यः। सर्व ङस् यहां पूर्ववत् स्य आदेश— सर्वस्य। सर्वयोः। सर्व आम्—

आमि सर्वनाम्नः सुट् (७।१।५२)—अवर्णान्त सर्वनाम से परे आम् विभक्ति हो, तो उसको सुट् आगम हो। सर्व+साम्, यहां अङ्ग को पूर्ववत् एकारादेश, और सुट् के सकार को मूर्धन्यादेश होकर—सर्वेषाम्। सर्व ङि पूर्वोक्त (७।१।१५) सूत्र से ङि को स्मिन् आदेश होकर—सर्वस्मिन्। सर्वयोः। सर्वेषु। संबोधन में—हे सर्व, हे सर्वौ, हे सर्वे।

नपुंसकलिङ्ग में—सर्वम्, सर्वे, सर्वाणि। फिर भी—सर्वम्, सर्वे, सर्वाणि। आगे तृतीया आदि विभक्तियों में पुंल्लिङ्ग के समान जानना।

स्त्रीलिङ्ग में—सर्व के अकारान्त होने से स्त्रीलिंग में अजाद्यतष्टाप् (४।१।४) से टाप् होकर सर्वा बन जाता है। इसके प्रयोग 'कन्या' शब्द के तुल्य होते हैं—सर्वा, सर्वे, सर्वाः। सर्वाम्, सर्वे, सर्वाः। सर्वया, सर्वाभ्याम्, सर्वाभिः। सर्वा—ङे—

सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च (७।३।११४)—सर्वादि आबन्त अंग से परे ङित् विभक्ति हो, तो उसको स्याट् का आगम हो, और सर्वनाम को ह्रस्व भी हो जावे। सर्व—स्या—ए, पूर्व पर के स्थान में वृद्धि एकादेश होकर—

सर्वस्यै । सर्वाभ्याम्, सर्वाभ्यः । सर्वस्याः, सर्वाभ्याम्, सर्वाभ्यः । सर्वस्याः, सर्वयोः, सर्वासाम् । सर्वा—ङि, यहां स्याट् और आबन्त से परे ङि विभक्ति को ङेराम्नद्याम्नीभ्यः (७।३।११६) सूत्र से आम् आदेश होकर सवर्णदीर्घ एकादेश हो जाता है—सर्वस्याम्, सर्वयोः सर्वासु । हे सर्वे, हे सर्वे, हे सर्वाः ।

सर्व के समान—सर्वादिगण में पठित अकारान्त विश्व आदि शब्दों के तीनों लिङ्गों में सर्व के समान प्रयोग समझने चाहियें ।

सर्वादिगणस्थ पूर्व पर अवर दक्षिण उत्तर अपर अधर स्व और अन्तर शब्दों में कुछ विशेष है—

पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम् (१।१।३३) पूर्व पर आदि शब्दों से यदि व्यवस्था जानी जाये और संज्ञा न होवे, तो जस् के परे विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है । जैसे—पूर्वे पूर्वाः, परे पराः, अवरे अवराः आदि ।

स्वमज्ञातिधनाख्यायाम् (१।१।३४) ज्ञाति (=सम्बन्धि) और धन का नाम न होवे, तो जस के परे 'स्व' शब्द को विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है । जैसे—स्वे स्वा वा गावः । आत्मीय यह अर्थ है ।

अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः (१।१।३५) बहिर्योग और उपसंव्यान (शरीर से सटा हुआ पहनने का वस्त्र) अर्थ जाना जाये, तो जस् परे रहते 'अन्तर' शब्द की विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है । जैसे—अन्तरे अन्तरा वा गृहाः=नगर से बाहर के घर । अन्तरे अन्तरा वा शाटकाः ।

पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा (७।१।१६)—सर्वादिगण में पठित पूर्वादि नव शब्दों से परे ङसि और ङि विभक्ति के स्थान में स्मात्, और स्मिन् आदेश विकल्प करके हों । जिस पक्ष में उक्त आदेश नहीं होते, वहां पुरुष शब्द के समान रूप हो जाते हैं । पूर्वस्मात्, पूर्वात्; पूर्वस्मिन्, पूर्वे; परस्मात् परात्; परस्मिन्, परे; अवरस्मात्, अवरात्; अवरस्मिन्, अवरे; दक्षिणस्मात्, दक्षिणात्; दक्षिणस्मिन्, दक्षिणे; उत्तरस्मात्, उत्तरात्; उत्तरस्मिन्, उत्तरे; अपरस्मात्, अपरात्; अपरस्मिन्, अपरे; अधरस्मात्, अधरात्; अधरस्मिन्, अधरे; स्वस्मात्, स्वात्; स्वस्मिन्, स्वे; अन्तरस्मात्, अन्तरात्; अन्तरस्मिन्, अन्तरे ।

अब इसके आगे सर्वाद्यन्तर्गत त्यद्, तद्, यद् आदि शब्दों के प्रयोग में कुछ विशेष है—

'तद्' शब्द

तद् (पुंलिङ्ग) शब्द में 'तद्—सु' इस अवस्था में—

त्यदादीनामः (७।२।१०२)—अनु०—विभक्तौ। सु, आदि विभक्ति परे हों, तो त्यदादि शब्दों के अन्त को अकारादेश हो जाता है। त्यदादि में 'त्यद्, तद्, एतद्, यद्, इदम्, अदस्, किम्, द्वि' शब्द गृहीत होते हैं। इससे दकार को अकार होकर—त—अ—सु। पुनः दोनों अकारों को अतो गुणे (६।१।९४) सूत्र से पररूप एकादेश होकर 'त—सु' इस अवस्था में—

तदोः सः सावनन्त्ययोः (७।२।१०६)—सु विभक्ति परे हो, तो त्यदादि शब्दों के अनन्त्य—आदि वा मध्य में जो तकार दकार हैं, उनको सकारादेश हो। इससे तकार को सकार होकर—सः। शेष कार्य तीनों लिंगों में सर्व के समान होगा। रूप बनेंगे—

सः, तौ, ते। तम्, तौ, तान्। तेन, ताभ्याम्, तैः। तस्मै, ताभ्याम्, तेभ्यः। तस्मात्, ताभ्याम्, तेभ्यः। तस्य, तयोः, तेषाम्। तस्मिन्, तयोः, तेषु।

नपुंसकलिंग 'तद्' शब्द—'तद्—सु' यहां सु और अम् का लुक् होने पर न लुमताङ्गस्य (१।१।६२) से प्रत्ययलक्षण मानकर 'अ' आदेश (७।२।१०२) से नहीं होता। अतः—तत्, तद्, ते, तानि। फिर भी—तत्, तद्, ते, तानि। आगे सर्व शब्द के समान जानो।

स्त्रीलिङ्ग 'तद्' शब्द—'तद—सु' यहां विभक्ति परे अकारादेश (७।२।१०२ से) होकर अकारान्त से टाप् हो जाता है। अतः ता—सु, इस अवस्था में अनन्त्य तकार को सकार, और हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् (६।१।६८) से सु का लोप होकर—सा, ते, ताः। ताम्, ते, ताः। तया, ताभ्याम्, ताभिः। तस्यै, ताभ्याम्, ताभ्यः। तस्याः, ताभ्याम्, ताभ्यः। तस्याः, तयोः, तासाम्। तस्याम्, तयोः, तासु।

इसी प्रकार त्यद्, यद्, एतद् के प्रयोग तीनों लिंगों में क्रमशः जानने चाहिये।

'एतद्' शब्द

एतद् को सु परे (७।२।१०६) से सकारादेश और उसको मूर्धन्य होकर—एषः (पुंलिङ्ग में), और एषा (स्त्रीलिङ्ग में) रूप बनते हैं। नपुंसकलिंग में प्रथमा द्वितीया में—एतत्, एतद्, एते, एतानि। (शेष पूर्ववत्।)

स्त्रीलिङ्ग 'एतद्' शब्द—एषा, एते, एताः। एताम्, एते, एताः। एतया, एताभ्याम्, एताभिः। एतस्यै, एताभ्याम्, एताभ्यः। एतस्याः, एताभ्याम्, एताभ्यः। एतस्याः, एतयोः, एतासाम्। एतस्याम्, एतयोः, एतासु।

'इदम्' शब्द

पुंल्लिङ्ग में इदम्—सु—

इदमो मः (७।२।१०८)—सु विभक्ति परे हो तो इदम् शब्द के मकार को मकार ही आदेश हो, अर्थात् त्यदादिकों को जो अकारादेश कहा है सो न हो।

इदोऽय् पुंसि (७।२।१११)—पुंल्लिङ्ग विषय में सु परे रहते, इदम् शब्द के इद् भाग को अय् आदेश हो। अय्—अम्—सु; हल्ङ्यादिलोप होकर—**अयम्**। इदम्—औ, यहां अकारादेश होकर—इद—औ—;

दश्च (७।२।१०९)—विभक्ति के परे इदम् शब्द के दकार को मकारादेश हो। इम—औ, यहां पूर्व पर के स्थान में वृद्धि एकादेश होकर—**इमौ**। इम—जस्, सर्व शब्द के समान—**इमे**। **इमम्, इमौ, इमान्**। इदम्—टा, यहां भी मकार को अकारादेश और एकादेश होकर—इद—टा—।

अनाप्यकः (७।२।११२)—आप् अर्थात् टा और ओस् विभक्ति परे हो, तो ककारभिन्न इदम् शब्द के इद् भाग को अन् आदेश हो। अन्—अ—टा=अन—टा। टा के स्थान में इन होकर—**अनेन**। ककारभिन्न कहने का प्रयोजन यह है कि 'इमकेन' यहां अन् आदेश न हो। इद—भ्याम्—;

हलि लोपः (७।२।११३)[1]—अनु०—इदः। हलादि विभक्ति परे हो तो इदम् शब्द के इद् भाग का लोप हो। अ—भ्याम्, यहां भी अदन्त अंग को पूर्ववत् दीर्घ होकर—**आभ्याम्**। अ—भिस्, यहां भी अदन्त के समान भिस् विभक्ति को ऐस आदेश प्राप्त है। इसलिये—

नेदमदसोरकोः (७।१।११)—ककारभिन्न इदम् और अदस् शब्द से परे भिस् विभक्ति हो, तो उसको ऐस् आदेश न हो। ऐस् आदेश न होने से पूर्ववत् एकारादेश होकर—**एभिः**। **अस्मै, आभ्याम्, एभ्यः**। **अस्मात्, आभ्याम्, एभ्यः। अस्य**। इदम्—ओस्, यहां भी पूर्व सूत्र (७।२।११२) से अन आदेश होकर—**अनयोः**। **एषाम्**। **अस्मिन्, अनयोः, एषु**।

नपुंसकलिङ्ग इदम् शब्द में सु और अम् का स्वमोर्नपुंसकात् (७।१।२३) से लुक् होने से प्रत्यय-लक्षण कार्य का न लुमताङ्गस्य (१।१।६२) से निषेध होकर—**इदम्, इमे, इमानि**। फिर भी—**इदम्, इमे, इमानि**। आगे पुंलिङ्ग के सदृश प्रयोग होंगे।

स्त्रीलिङ्ग इदम् शब्द में इदम्—सु विभक्ति परे मकार को मकारादेश (७।२।१०८ से) होकर—

यः सौ (७।२।११०)—सु विभक्ति परे हो, तो इदम् शब्द के दकार को यकारादेश हो।—**इयम्**। आगे की विभक्तियों में इसको अकारादेश

१. यहां आप् प्रत्याहार का ग्रहण है, जिससे 'टा' विभक्ति के आकार से लेकर सुप् विभक्ति के पकार पर्यन्त विभक्तियों का ग्रहण होता है। उत्तर सूत्र "हलि लोपः" (७।२।११३) में हलादि विभक्तियों में लोप का विधान होने से केवल 'टा' और 'ओस्' विभक्तियों में ही इस सूत्र से अनादेश होता है।

होने से टाप् होकर सर्वा शब्द के समान रूप जानो। जैसे—इमे, इमाः। इमाम्, इमे, इमाः। इद—टा, अन् आदेश होके—अनया। यहां भी भ्याम् आदि हलादि विभक्तियों[1] में (७।२।११३ से) इद् भाग का लोप हो जाता है। आभ्याम्, आभिः। अस्यै, आभ्याम्, आभ्यः। अस्याः, आभ्याम्, आभ्यः। अस्याः, अनयोः, आसाम्। अस्याम्, अनयोः, आसु।

'अदस्' शब्द

पुल्लिङ्ग में—अदस्—सु—

अदस औ सुलोपश्च—(७।२।१०७)—सु विभक्ति परे हो, तो अदस् शब्द के सकार को औ आदेश और सु विभक्ति का लोप हो जावे। अद—औ, यहां (७।२।१०६) से दकार को सकारादेश होकर—असौ। अदस्—औ, यहां से आगे 'औ' आदि विभक्तियों में अकारादेश होकर सर्वत्र 'अद' बन जाता है। अद—औ, यहां वृद्धि एकादेश होकर 'अदौ' बना। पुनः—

अदसोऽसेर्दादु दो मः (८।२।८०)—सकार भिन्न अदस् शब्द के दकार से परे [वर्ण] को उवर्ण आदेश और उसके दकार को मकारादेश हो जावे। अमु—औ, यहां औकार के स्थान में स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) के नियम से दीर्घ ऊकार होकर—अमू। अद—जस्। सर्व शब्द के समान अदन्त सर्वनाम से परे जस् को शी, और पूर्व पर के स्थान में गुण एकादेश होकर—अदे। यहां—

एत ईद् बहुवचने (८।२।८१)—बहुवचन में अदस् शब्द के दकार से परे जो एकार उसको ईकारादेश, और दकार को मकारादेश हो। अमी। अद—अम्=अमुम्, अमू, अमून्। अमुना, अमूभ्याम्। अदस्—भिस्, यहां भिस् को ऐस् का निषेध (७।१।११ से), एकार को बहुवचन में ईकार और दकार को मकारादेश होकर—अमीभिः। अमुष्मै, अमूभ्याम्, अमीभ्यः। अमुष्मात्, अमूभ्याम्, अमीभ्यः। अमुष्य, अमुयोः, अमीषाम्। अमुष्मिन् अमुयोः, अमीषु।

नपुंसकलिङ्ग 'अदस्' शब्द—अदस्—सु। यहां सु और अम् का लुक्, सकार को रुत्व, और र को विसर्जनीय होके—अदः। अद—औ—अद—शी =अदे=अमू। अमूनि। फिर भी—अदः, अमू, अमूनि। आगे पुंल्लिग के समान जानो।

स्त्रीलिंग 'अदस्' शब्द—अदस्—सु। पूर्ववत्—असौ। अदा—औ,

---

१. ङे ङसि ङस् ङि आम् विभक्तियों को स्याट् सुट् का आगम होने से हलादि विभक्तियां हो जाती हैं।

इस अवस्था में शी और गुण एकादेश, दकार से परे एकार को दीर्घ ऊकार और दकार को मकारादेश होकर—अमू । अमू: । अमूम्, अमू, अमू: । अदा । टा । यहां औकार को एकार और उसको अय् आदेश होकर—अदया—अमुया । अमूभ्याम् । अमूभि: । अमुष्मै । अमूभ्याम् । अमूभ्य: । अमुष्मात् । अमूभ्याम् । अमूभ्य: । अमुष्य । अमुयो: । अमूषाम् । अमुष्मिन् । अमुयो: । अमूषु ।

एक शब्द

एक शब्द जब अन्य अर्थ का वाचक होता है, तब इससे द्विवचन बहुवचन और तीनों लिंगों में भी रूप बनते हैं । इसके रूप पुंलिङ्ग में सर्व के समान, नपुंसकलिंग में भी सर्व के समान, और स्त्रीलिंग में सर्वा के समान जानने चाहियें । संख्या अर्थ होने पर इसके तीनों लिंगों में केवल एकवचन के प्रयोग होंगे ।

संख्यावाची 'द्वि' शब्द

इस शब्द के द्वयर्थक होने से केवल द्विवचन में ही प्रयोग होते हैं ।

पुंलिङ्ग में द्वि—औ । त्यदादिगण के अन्तर्गत होने से अकारादेश होकर वृद्धि एकादेश हो जाता है—द्वौ, द्वौ । द्वि—भ्याम्, अकारादेश, और दीर्घ होकर—द्वाभ्याम्, द्वाभ्याम्, द्वाभ्याम्, द्वयो:, द्वयो: ।

नपुंसकलिङ्ग में प्रथमा और द्वितीया विभक्ति के द्विवचन में—'द्वे, द्वे' ऐसे प्रयोग होंगे । आगे पुंलिङ्ग के तुल्य जानो ।

स्त्रीलिङ्ग में अकारादेश होने पर टाप् प्रत्यय होगा, और औ, औट् को शी आदेश होकर—द्वे, द्वे । आगे कन्या के समान रूप होते हैं—द्वाभ्याम्, द्वाभ्याम्, द्वाभ्याम्, द्वयो:, द्वयो: ।

'युष्मद्', 'अस्मद्' शब्द

इन दोनों शब्दों के तीनों लिंगों में सातों विभक्तियों के रूप एक समान प्रयुक्त होते हैं । इसलिये इनके प्रयोग साथ-साथ ही लिखते हैं—युष्मद्—सु, अस्मद्—सु—

मपर्यन्तस्य (७।२।९१)—यह अधिकार सूत्र है । यहां से आगे युष्मद् और अस्मद् शब्द को जो आदेश कहेंगे वे मपर्यन्त भाग को हों ।

त्वाहौ सौ (७।२।९४)—सु विभक्ति परे हो, तो युष्मद् अस्मद् शब्दों के मपर्यन्त युष्म्, अस्म् के स्थान में क्रम से त्व और अह आदेश हों । युष्म्, अस्म् को त्व अह आदेश होकर—त्व—अद्—सु, अह—अद्—सु ।

शेषे लोपः (७।२।९०)—शेष, अर्थात् आदेश होकर जो मद भाग बचा है, उसका लोप हो। त्व—सु; अह—सु।

ङे प्रथमयोरम् (७।१।२८)—युष्मद् अस्मद् शब्दों से परे ङे और प्रथमा द्वितीया विभक्ति हों, तो इनके स्थान में अम् आदेश हो। त्व—अम्, अह—अम्, पूर्वरूप एकादेश होकर—त्वम्, अहम्। युष्मद्—औ, अस्मद्—औ—

युवावौ द्विवचने (७।२।९२)—द्विवचन विभक्तियों के परे युष्मद् अस्मद् शब्दों के मपर्यन्त के स्थान में क्रम से युव, आव आदेश हों। युव—अद्—औ, आव—अद्—औ। पुनः—

प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम् (८।२।८८)—जो भाषा अर्थात् लौकिक प्रयोग विषय में प्रथमा विभक्ति का द्विवचन परे हो, तो युष्मद् अस्मद् शब्द को आकारादेश हो। अन्त्य दकार को आकार और सवर्ण दीर्घ होके—युवा—अम्, आवा—अम्, पूर्वरूप होकर—युवाम्, आवाम्। युष्मद्—जस्, अस्मद्—जस्—

यूयवयौ जसि (७।२।९३)—जस् विभक्ति परे हो, तो युष्मद् अस्मद् शब्दों के मपर्यन्त के स्थान में क्रम से यूय, वय आदेश हों। शेष अद् भाग का लोप, और जस् को अम् आदेश होकर—यूयम्, वयम्। युष्मद्—अम्, अस्मद्—अम्—

त्वमावेकवचने (७।२।९७)—एकवचन विभक्तियों में युष्मद् अस्मद् शब्द के मपर्यन्त के स्थान में क्रम से त्व, म आदेश हों। त्व—अद्—अम्, म—अद्—अम्।

द्वितीयायां च (७।२।८७)—द्वितीया विभक्ति के परे युष्मद् अस्मद् शब्द को आकारादेश हो। अन्त्य दकार को आकार, दोनों को सवर्णदीर्घ एकादेश होकर—त्वाम्, माम्। युष्मद्—औ, अस्मद्—औ, यहां मपर्यन्त को युव, आव, दकार को आकार, औ के स्थान में अम्, और पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश होकर—युवाम्, आवाम्। युष्मद्—शस्, अस्मद्—शस्, यहां भी दकार को आकार, और सवर्णदीर्घ एकादेश होके—युष्मा—अस्, अस्मा—अस्।

शसो न (७।१।२९)—युष्मद् अस्मद् शब्दों से परे शस् को नकारादेश हो। यहां आदेः परस्य (१।१।५३) से, शस् के अकार के स्थान पर नकार होकर—युष्मा न्स, अस्मा न्स, संयोगान्तस्य लोपः (८।२।२३) से सकार का लोप, होकर—युष्मान्, अस्मान्। युष्मद्—टा, अस्मद्—टा, यहां

एकवचन में युष्मद् अस्मद् के मपर्यन्त को त्व, म आदेश होके—त्व—अद्—टा, म—अद्—टा। पुनः—

योऽचि (७।२।८९)—अनादेश अर्थात् जिसको कोई आदेश न हुआ हो वह अजादि विभक्ति परे हो, तो युष्मद् अस्मद् शब्दों को यकारादेश हो। अन्त्य दकार को य और अकार को पूर्वरूप एकादेश होकर—त्वया, मया। द्विवचन में युव—अद्—भ्याम्, आव—अद्—भ्याम्, यहां—

युष्मदस्मदोरनादेशे (७।२।८६)—जिसको कोई आदेश न हुआ हो वह अजादि विभक्ति परे हो, तो युष्मद् अस्मद् शब्दों को आकारादेश हो। दकार को आकार और दीर्घ एकादेश होके—युवाभ्याम्, आवाभ्याम्। युष्माभिः, अस्माभिः। युष्मद्—ङे, अस्मद्—ङे—

तुभ्यमह्यौ ङयि (७।२।९५)—ङे विभक्ति परे हो, तो युष्मद् अस्मद् शब्दों के मपर्यन्त को तुभ्य और मह्य आदेश क्रम से हों। विभक्ति को (७।१।२८ से) अम् आदेश, और अद् भाग का लोप होके—तुभ्यम्, मह्यम्। युवाभ्याम्, आवाभ्याम्। युष्मद्—भ्यस्, अस्मद्—भ्यस्—

भ्यसोऽभ्यम् (७।१।३०)—युष्मद् अस्मद् शब्दों से परे भ्यस् विभक्ति को अभ्यम् आदेश हो। अद्भाग का लोप होकर—युष्मभ्यम्, अस्मभ्यम्। युष्मद्—ङसि, अस्मद्—ङसि, यहां एकवचन में पूर्ववत् मपर्यन्त को त्व म आदेश और अद्भाग का लोप होकर—

एकवचनस्य च (७।१।३२) युष्मद् अस्मद् शब्दों से परे पञ्चमी विभक्ति का एकवचन हो, तो उसको अत् आदेश हो। त्व—अत्, म—अत्। पररूप एकादेश होकर—त्वत्, मत्। युवाभ्याम्, आवाभ्याम्। युष्मद्—भ्यस्, अस्मद्—भ्यस्, यहां अद्भाग का लोप होके—

पञ्चम्या अत् (७।१।३१)—युष्मद् अस्मद् शब्दों से परे पञ्चमी विभक्ति का भ्यस् हो, तो उसको अत् आदेश हो। पररूप एकादेश होके—युष्मत्, अस्मत्। युष्मद्—ङस्, अस्मद्—ङस्, यहां—

तवममौ ङसि (७।२।९६)—ङस् विभक्ति के परे युष्मद् अस्मद् शब्दों के मपर्यन्त को तव और मम आदेश हों। यहां भी अद्भाग का लोप होकर तव—ङस्, मम—ङस्। पुनः—

युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश् (७।१।२७)—युष्मद् अस्मद् शब्दों से परे ङस् विभक्ति हो, तो उसको अश् आदेश होवे। अश् आदेश में शकार इसलिये है कि ङस् पूरे के स्थान में अकार आदेश हो जावे। पररूप

एकादेश होके—तव, मम। युष्मद्—ओस्, अस्मद्—ओस्, यहां भी द्विवचन में मपर्यन्त को युव आव, और दकार को यकारादेश होकर—युवयोः, आवयोः। युष्मद्—आम्, अस्मद्—आम्, यहां सर्वनाम संज्ञा होने से सुट् और अद् भाग का लोप होकर—

साम आकम् (७।१।३३)—युष्मद् अस्मद् शब्दों से परे सुट् सहित षष्ठी के बहुवचन आम् विभक्ति को आकम् आदेश हो, फिर एकादेश होकर—युष्माकम्, अस्माकम्। युष्मद्—ङि, अस्मद्—ङि, यहां एकवचन में मपर्यन्त को त्व म, और दकार को यकारादेश होके—त्वयि, मयि। युवयोः, आवयोः। युष्मद्—सु, अस्मद्—सु, यहां दकार को अकार आदेश होके—युष्मासु, अस्मासु।

युष्मद् अस्मद् के समस्त रूप सुगमता से परिज्ञान के लिये इकट्ठे नीचे लिखे हैं—

युष्मद्			अस्मद्		
त्वम्	युवाम्	यूयम्	अहम्	आवाम्	वयम्
त्वाम्	"	युष्मान्	माम्	"	अस्मान्
त्वया	युवाभ्याम्	युष्माभिः	मया	आवाभ्याम्	अस्माभिः
तुभ्यम्	"	युष्मभ्यम्	मह्यम्	"	अस्मभ्यम्
त्वत्	"	युष्मत्	मत्	"	अस्मत्
तव	युवयोः	युष्माकम्	मम	आवयोः	अस्माकम्
त्वयि	"	युष्मासु	मयि	"	अस्मासु

'भवत्' शब्द

सर्वादिगण में भवतु शब्द पढ़ा है। उसके उकार की इत्संज्ञा और लोप होकर भवत् शेष रहता है।

पुंल्लिङ्ग 'भवत्' शब्द—भवत्—सु। सर्वनामस्थान प्रत्ययों के परे 'भवत्' के उगित होने से, उगिदचां सर्वनामस्थानेऽ (७।१।७०) से नुम्, सु के परे अत्वसन्तस्य चाधातोः (६।४।१४) से दीर्घ, हल् से परे सकार का लोप, और संयोगान्तलोप होकर—भवान्, भवन्तौ, भवन्तः। भवन्तम्, भवन्तौ, भवतः। भवता, भवद्भ्याम्, भवद्भिः। भवते, भवद्भ्याम्,

१. शेषे लोपः (७।२।९०) सूत्र में टिलोप एवं अन्त्यलोप— ये दो पक्ष माने गये हैं। अन्त्यलोप पक्ष में दकार का लोप होकर मुद् की सम्भावना होती है, टिलोप पक्ष में नहीं।

भवद्भ्यः । भवतः, भवद्भ्याम्, भवद्भ्यः । भवतः, भवतोः, भवताम् । भवति, भवतोः, भवत्सु । सब कार्य तकारान्त पठत् शब्द के समान होते हैं ।

नपुंसकलिङ्ग में — भवत्, भवती, भवन्ति । भवत्, भवती, भवन्ति । आगे पुंलिङ्ग के समान समझने चाहियें ।

और स्त्रीलिङ्ग में — उगितश्च (४।१।६) से ङीप् होकर ईकारान्त होकर— भवती, भवत्यौ, भवत्यः इत्यादि स्त्रीलिंग ईकारान्त कुमारी शब्द के समान जानो ।

'किम्' शब्द

पुंल्लिङ्ग में — किम्—सु—

किमः कः (७।२।१०३) — सब विभक्तियों में किम् शब्द को क आदेश हो । अन्य सब कार्य सर्व शब्द के समान समझने चाहिये । कः, कौ, के । कम्, कौ, कान् । केन, काभ्याम्, कैः । कस्मै, काभ्याम्, केभ्यः । कस्मात्, काभ्याम्, केभ्यः । कस्य, कयोः, केषाम् । कस्मिन्, कयोः, केषु ।

नपुंसकलिङ्ग में — किम्, के, कानि । फिर भी — किम्, के, कानि । आगे पुंलिंग के समान ।

स्त्रीलिङ्ग में — का, के, काः । काम्, के, काः । कया, काभ्याम्, काभिः । कस्यै, काभ्याम्, काभ्यः । कस्याः, काभ्याम्, काभ्यः । कस्याः, कयोः, कासाम् । कस्याम्, कयोः, कासु ।

॥ नाम-शब्दों का रूपविषय पूरा हुआ ॥

वेद के विशेष प्रयोग

अब वे नियम लिखते हैं कि जो वेदों में पुरुष आदि सब शब्दों से संबद्ध हो सकते हैं—

सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः (७।१।३९);

सुपां च सुपो भवन्तीति वक्तव्यम् (वा० ७।१।३९) —

सूत्र और वार्त्तिक का सम्मिलित अर्थ है — वैदिक प्रयोगों में सुप् अर्थात् सु आदि इक्कीस प्रत्ययों के स्थान में सुप् में से किसी प्रत्यय का आदेश, लुक्, पूर्वसवर्ण, आत्, शे, या, डा, ड्या, याच्, आल् ये आदेश हो जाते हैं । सुप् — ऋजवः सुपन्थाः, यहां बहुवचन जस् के स्थान में एकवचन 'सु' आदेश हुआ है, 'सुपन्थानः' ऐसा प्राप्त था; युक्ता मातासीद् धुरि दक्षिणायाः, यहां सप्तमी एकवचन के स्थान में षष्ठी का एकवचन हो

जाता है, 'दक्षिणायाम्' ऐसा प्राप्त था। लुक्—परमे व्योमन्, यहां सप्तमी के एकवचन का लुक् हो गया है, 'व्योमनि' ऐसा प्राप्त था; सोमो गौरी अधि श्रितः, मामकी तनू, यहां सप्तमी के एकवचन का लुक् हुआ है, 'सोमो गौर्याम्', 'मामकयाम् तन्वाम्' ऐसा प्राप्त था। पूर्वसवर्ण—धीती, मती, यहां तृतीया के एकवचन को पूर्वसवर्ण आदेश[1] हुआ है, 'धीत्या, मत्या' ऐसा प्राप्त था। आत्—उभा यन्तारा, यहां प्रथमा वा द्वितीया के द्विवचन के स्थान में 'आत्' आदेश हुआ है, 'उभौ यन्तारौ' ऐसा प्राप्त था। शे—युष्मे वाजबन्धवः, यहां बहुवचन जस् के स्थान में 'शे' आदेश हुआ, 'यूयं वाजबन्धवः' ऐसा प्राप्त था। या—उरुया, यहां तृतीया के एकवचन टा के स्थान में 'या' आदेश हुआ है, उरुणा ऐसा प्राप्त था। डा—नाभा पृथिव्याम्, यहां सप्तमी के एकवचन के स्थान में डा हो गया है, 'नाभौ पृथिव्याम्' ऐसा प्राप्त था। ड्या—अनुष्टुभा, यहां तृतीया के एकवचन के स्थान में ड्या हो गया है, 'अनुष्टुभा' ऐसा प्राप्त था। याच्—साधुया, यहां प्रथमा के एकवचन को याच् हुआ है, 'साधुः' ऐसा होना था। आल्—वसन्ता यजेत, यहां सप्तमी के एकवचन को आल् आदेश हो गया, 'वसन्ते' ऐसा होना था।

इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम् (वा० ७।१।३९)—सुपों के स्थान में इया, डियाच्, ईकार ये तीन आदेश हों। इया—दार्विया परिज्मन्, यहां तृतीया के एकवचन को इया हो गया है, 'दारुणा' ऐसा पाता था। डियाच्—सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु, सुक्षेत्रिया, सुगात्रिया, यहां भी 'सुमित्राः' और 'सुक्षेत्रिणा, सुगात्रिणा' ऐसा प्राप्त था। ईकार—दृतिं न शुष्कं सरसी शयानम्, यहां सप्तमी के एकवचन को ईकार हो गया है। 'सरसि शयानम्' ऐसा होना था।

आङ्याजयाराञ्चोपसंख्यानम् (वा० ७।१।३९)—आङ्, अयाच्, अयार् ये भी तीनों सुपों के स्थान में आदेश हों। आङ्—प्र बाहवा, यहां तृतीया के एकवचन को आङ् आदेश हुआ है, 'प्र बाहुना' ऐसा प्राप्त था। अयाच्—स्वप्नया वावसेचनम्, यहां भी तृतीया के स्थान में अयाच् हुआ है, 'स्वप्नेन' ऐसा प्राप्त था। अयार्—स नः सिन्धुमिव नावया, यहां भी तृतीया के एकवचन को अयार् हुआ है, 'नावा' ऐसा प्राप्त है।

॥ इति नामिकप्रकरणं समाप्तम् ॥

---

१. पूर्वसवर्ण से 'ई' को 'ई' आदेश हुआ पुनः सवर्ण दीर्घ हो गया—धीती, मती।

अष्टम प्रकरण

कृत् प्रत्यय

जिन नाम=प्रातिपदिक शब्दों के रूप पिछले तीन प्रकरणों में दर्शाये गये हैं, उनमें से अधिकांश कृत्संज्ञक प्रत्यय लगकर बने हैं। इसलिये इस प्रकरण में धातुओं से होने वाले प्रधान-प्रधान कृत्संज्ञक प्रत्ययों का विधान किया जायेगा।

तिङन्त=आख्यात=क्रिया शब्द भी धातु से ही बनते हैं। कृत्संज्ञक और तिङ् संज्ञक प्रत्ययों के परे अनेक कार्य ऐसे होते हैं, जो दोनों प्रकार के प्रत्ययों में समानरूप से होते हैं। अतः उनका भी सामान्यरूप से कृत्प्रकरण से पूर्व ही निदर्शन कराया जाता है।

धातु-संज्ञक शब्द

भूवादयो धातवः[1] (१।३।१)—भू आदि में जिनके हैं, ऐसे क्रिया को कहने वाले शब्दों की धातु संज्ञा होती है।

भू आदि क्रियावाचक शब्द, और उनके अर्थों का निर्देश पाणिनि ने धातुपाठ में किया है। धातुपाठ में लगभग २००० धातुएं पढ़ी हैं। धातुपाठ में कार्यविशेष के लिये धातुओं में विभिन्न अनुबन्ध[2] जोड़े हैं, जिनकी इत्संज्ञा होती है। हम नीचे धातुओं में लगाये गये विभिन्न इत्संज्ञाओं के कार्यों (अनुबन्धों के फलों) का निर्देश करते हैं, जिनसे कृत् और तिङ् प्रत्ययों के प्रकरण में रूपसिद्धि में सरलता होगी।

---

१. जिन पूर्व (प्रथम और द्वितीय भाग में) व्याख्यात सूत्रों का यहाँ निर्देश करना होगा, उनका साधारण रूप से अर्थ अथवा कार्य का निर्देश किया जायेगा।

२. अनुबन्ध यह पूर्वाचार्यों की संज्ञा है। धातु प्रत्यय आगम आदेश आदि में कार्य-विशेष करने के लिये संकेतार्थ जिन वर्णों को जोड़ा जाता है, वे 'अनुबन्ध' कहाते हैं। इन्हीं को पाणिनि ने इत्संज्ञा कही है। उस इत्संज्ञक वर्ण से धातु प्रत्यय आदि विशेषित होते हैं। यथा—ङित्, कित्, पित्, चित्।

अनुबन्ध	प्रयोजन—सूत्र—उदाहरण
अ[1] (उदात्त)	परस्मैपद, शेषात् कर्तरि परस्मैपदम् (१।३।७८) से परस्मैपद होना। यथा—अत—अतति।
अ[1] (अनुदात्त)	आत्मनेपद, अनुदात्तङितः आत्मनेपदम् (१।३।१२) से आत्मनेपद होना। यथा—एध—एधते।
अ[1] (स्वरित)	उभयपद, स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले (१।३।७२) से कर्तृ-गामी क्रियाफल होने पर आत्मनेपद, अन्यत्र (१।३।७८ से) परस्मैपद होना। यथा—अपने लिये पकाता हो तो पचते, अन्यत्र पचति।
आ	निष्ठा (क्त-क्तवतु) परे इट् का निषेध, आदितश्च (७।२।१६) से। यथा—ञिमिदा—मिन्नः, मिन्नवान्।
इ	नुम् का आगम, इदितो नुम् धातोः (७।१।५८) से। यथा—विदि—विन्दन्ति।
इर्	लुङ् में च्लि के स्थान पर अङ् आदेश का विकल्प, इरितो वा (३।१।५७) से। यथा—भिदिर्—अभिदत्, अभैत्सीत्।
ई	निष्ठा में इट् का निषेध, श्वीदितो निष्ठायाम् (७।२।१४) से। यथा—चिती—चित्तम्, चित्तवान्।
उ	क्त्वा में इट् का विकल्प, उदितो वा (७।२।५६) से। यथा—क्रमु—क्रमित्वा, क्रान्त्वा।
ऊ	इट् का विकल्प, स्वरति-सूति-सूयति-धूञ्-ऊदितो वा (७।२।४४) से। यथा—गुपू—गोपिता, गोप्ता।
ऋ	णि परे चङ् परे उपधा-ह्रस्वत्व का निषेध, नाग्लोपि-शासु-ऋदिताम् (७।४।२) से। यथा—लोकृ—अलुलोकत्।
लृ	लुङ् में च्लि के स्थान में अङ् आदेश, पुषादि-द्युतादि-लृदितः परस्मैपदेषु (३।१।५५) से। यथा—गम्लृ—अगमत्।
ए	लुङ् में वृद्धि का निषेध, ह्म्यन्त-क्षण-श्वस-जागृ-णि-श्वि-एदिताम् (७।२।५) से। यथा—कटे—अकटीत्।
ओ	निष्ठा के तकार को नकार, ओदितश्च (८।२।४५) से। यथा—भुजो—भुग्नः, भुग्नवान्।

१. 'अ' इ उ आदि अन्य स्वरों का भी उपलक्षक है। यथा—भदि—भदन्ते।

ङ् आत्मनेपद, अनुदात्तङित आत्मनेपदम् (१।३।१२) से। यथा—
शीङ्—शेते।

ञ् उभयपद, स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले (१।३।७२) से कर्त्रभिप्राय में आत्मनेपद, अन्यत्र (१।३।७८ से) परस्मैपद। यथा—
कृञ्—कुरुते, करोति।

ञि वर्तमानकाल में क्त, ञीतः क्तः (३।२।१८७) से। यथा—
ञिभी—भीतः।

टु भावादि अर्थ में अथुच् प्रत्यय, ट्वितोऽथुच् (३।३।८९) से। यथा—
टुनदि—नन्दथुः।

डु भावादि अर्थ में क्त्रि प्रत्यय, ड्वितः क्त्रिः (३।३।८८) से। यथा—
डुपचष्—पक्त्रिमम्।

ष् भाव अर्थ में अङ् प्रत्यय, षिद्भिदादिभ्योऽङ् (३।३।१०४) से। यथा—त्रपूष्—त्रपा।

जिस प्रकार विभिन्न कार्यों के लिये आचार्य पाणिनि ने धातुओं में अनेक इत्संज्ञक वर्ण जोड़े हैं, इसी प्रकार प्रत्ययों में भी विभिन्न प्रकार के कार्य करने के लिये विभिन्न वर्ण रखे हैं, जिनकी इत्संज्ञा होती है। हम यहाँ धात्वनुबन्धों के समान ही प्रधान प्रत्ययानुबन्ध, उनके प्रमुख कार्य और कार्य-विधायक सूत्रों का नीचे निर्देश करते हैं—

प्रत्ययों के अनुबन्ध और उनका फल

अनुबन्ध प्रयोजन—सूत्र—उदाहरण

क् कृत्प्रत्ययों में—गुण का निषेध, क्ङिति च (१।१।५) से। यथा—
क्त, क्तवतु—कृतः, कृतवान्।[1]
तद्धित प्रत्ययों में—प्रातिपदिक के आदि अच् को वृद्धि, किति च (७।२।११८) से; अन्तोदात्तत्व, कितः (६।१।१६५) से। यथा—नड+फक्=नाड् आयन=नाडायनः।

ख् खित् प्रत्ययान्त शब्द परे रहने पर पूर्वपद को ह्रस्व तथा मुम्, खित्यनव्ययस्य (६।३।६६), अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम् (६।३।६७) से। यथा—काली+मन्य=कालिम्मन्या।

---

१. वचिस्वपियजादीनां किति, ग्रहिज्या—भृज्जतीनां ङिति च (६।१।१५,१६) से सम्प्रसारण, कहीं अनुनासिक-लोप, अल्लोप, उपधालोप आदि-आदि अनेक कार्य कित् ङित् प्रत्यय परे रहने पर शास्त्र में कहे गये हैं।

ग् गुण का निषेध, क्ङिति च (१।१।५) से। यथा—जि—ग्स्नु=जिष्णुः, भूष्णुः।

घ् घित् प्रत्यय परे कुत्व, चजोः कु घिण्ण्यतोः (७।३।५२) से। यथा—पच् घञ्=पाकः, त्यागः।

ङ् गुण का निषेध, क्ङिति च (१।१।५) से, सुयजोर्ङ्वनिप् (३।२।१०३) से। यथा—सु—ङ्वनिप्—सुत्वा। आदेश में अन्त्य के स्थान में आदेश करना, ङिच्च (१।१।५२) से। यथा—कर्तृ—सु—अनङ् (७।१।९४ से) आदेश ऋकार के स्थान में—कर्तन् सु=कर्ता।

च् अन्तोदात्त स्वर, चितः, तद्धितस्य (६।१।१५७, १५८) से। यथा—कुञ्ज—च्फञ्=कौञ्ज्—आयनः=कौञ्जायनः।

ञ् वृद्धि और आद्युदात्तत्व, अचो ञ्णिति (७।२।११५) ञ्नित्यादिर्नित्यम् (६।१।१९१) से। यथा—कारः, आमः। (विद्—अञ्=) वेदः।

ट् स्त्री प्रत्यय ङीप्, टिड्ढाणञ् (४।१।१५) से। यथा—कुरु—चर—ट=कुरुचर=कुरुचरी।

ड् टि का लोप, टेः (ड्डिति) (६।४।१४३) से। यथा—नड्—ड्मतुप्=नड्वान्।

ण् वृद्धि, अचो ञ्णिति (७।२।११५) आदि से। यथा—कुम्भकृ—अण्=कुम्भकारः, उपगु—अण्=औपगवः।

त् तित् प्रत्ययान्त को अन्तस्वरित का विधान, तित् स्वरितम् (६।१।१७६) से। यथा—कृ—तव्यत्=कर्तव्यम्।

न् आद्युदात्त स्वर, ञ्नित्यादिर्नित्यम् (६।१।१९१) से। यथा—वच—क्तिन्=उक्तिः।

म् अन्त्य स्वर से परे होना, मिदचोऽन्त्यात् परः (१।१।४६) से। यथा—रुध्—श्नम्—रु न ध् ति=रुणद्धि।

र् अन्त्य अच् से पूर्व अच् को उदात्त विधान, उपोत्तमं रिति (६।१।२११) से। यथा—कृ—अनीयर्=करणीयम्।

ल् प्रत्यय से पूर्व को उदात्त विधान, लिति (६।१।१८७) से। यथा—पठ—ण्वुल्=पाठकः।

श् सार्वधातुक संज्ञा, तिङ् शित् सार्वधातुकम् (३।४।११३) से। यथा—तुद् श ति=तुदति।

स् पूर्व की पद संज्ञा, सिति च (१।४।१६) से, भसंज्ञा का अपवादरूप। ऊर्णा—युस्=ऊर्णायुः। पदसंज्ञा होने से आकार का लोप नहीं होता।

दो प्रकार की धातुएं—सेट्, अनिट्

धातुएं दो प्रकार की हैं। एक वे हैं जिनसे परे वलादि आर्धधातुक प्रत्ययों को इट् का आगम होता है। इन्हें सेट् (=इटा सह=इट् के साथ) कहते हैं, और दूसरी वे होती हैं जिनसे परे वलादि आर्धधातुक प्रत्यय को इट् का आगम नहीं होता। इन्हें अनिट् (=इट् रहित) कहते हैं।

सेट् और अनिट् धातुओं का ज्ञान कराने के लिये आचार्य पाणिनि ने धातुपाठ की प्रत्येक धातु के साथ उदात्त और अनुदात्त विशेषण लगाया है। जैसे—भू सत्तायाम्, उदात्तः (धातु० पृष्ठ १)[1], 'एधादय उदात्ताः' (धातु० पृष्ठ १), अत्यादयोऽनुदात्ताः (धातु० पृष्ठ २०), पादादयोऽनुदात्ताः (धातु० पृष्ठ ३२)।

इन उदात्त और अनुदात्त दो प्रकार की धातुओं में जो अनुदात्त धातुएं हैं, उन से इट् का आगम नहीं होता। नियम है—

एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् (७।२।१०)—एकाचः ५।१, उपदेशे ७।१, अनुदात्तात् ५।१॥ अनु०—न इट् (७।२।८ से)। अर्थ—उपदेश (धातुपाठ) में जो धातु अनुदात्त पढ़ी गई हैं, और एक अच् वाली हैं, उनसे इट् का आगम नहीं होता। जैसे—नी—तृ=नेता, नेतव्यम्; कर्त्ता, कर्तव्यम्।

अनुदात्त धातुओं से इट् का निषेध किया है। अतः उदात्त धातुओं से इट् का आगम होता है। जैसे—भू इ तृ=भविता, भवितव्यम्। अतः धातु-पाठ में—

उदात्त का अभिप्राय है—सेट् (इट् होना), और अनुदात्त का अभिप्राय है—अनिट् (इट् न होना)।

अब हम अनुदात्त धातुओं, जिनसे इट् का आगम नहीं होता, का नीचे वर्णित क्रम से परिगणन कर देते हैं। इन धातुओं का ध्यान रखने से कहां

१. यहां निर्दिष्ट पृष्ठ संख्या रामलाल कपूर ट्रस्ट से प्रकाशित धातुपाठ की है। इस ग्रन्थ के पाठ के लिये यही संस्करण लेना लाभदायक होगा।

इट् होगा और कहां इट् नहीं होगा, इसका सन्देह मिट जाता है। यथा—
अनिट् धातुएं—

अजन्त अनुदात्त=अनिट् धातुएं

एक अति उपयोगी कारिका इस प्रकार है—

ऊदृदन्तैर्यौतिरुक्ष्णुशीङ्स्नुनुक्षुश्विडीङ्श्रिभिः।
वृङ्वृञ्भ्यां च विनैकाचोऽजन्तेषु निहताः स्मृताः॥

जिन धातुओं के अन्त में ऊ अथवा ॠ हों, उन्हें छोड़कर, और नीचे लिखे धातुओं को छोड़कर एकाच् अजन्त धातु सब अनुदात्त हैं—

यु	मिलाना, अलग करना
रु	शब्द करना
क्ष्णु	तीक्ष्ण करना
शीङ्	सोना
स्नु	चूना व चुआना
नु	प्रशंसा करना
क्षु	छींकना
श्वि	बढ़ना, गमन करना
डीङ्	उड़ना
श्रि	सेवा करना
वृ	(वृङ्) सेवा करना
वृ	(वृञ्) स्वीकार करना

इन धातुओं को छोड़कर सभी एकाच् अजन्त धातुएं अनिट् हैं।

हलन्त अनुदात्त=अनिट् धातुएं

हलन्त अनुदात्त धातुओं की संख्या १०३ है। इनका ककारान्त आदि रूप से वर्गीकरण करके नीचे संग्रह देते हैं—

ककारान्त (१)

शक् (१) (स्वादि) समर्थ होना

चकारान्त (६)

पच् (१) (भ्वादि) पकाना

मुच् (२) (तुदादि) छोड़ना

रिच् (३) (रुधादि) रिक्त होना

वच् (४) (अदादि) व्याख्या करना, व्यक्त कहना

विच् (५) (रुधादि) अलग होना

षिच् (६) (तुदादि) सींचना

छकारान्त (१)

पृछ् (१) (तुदादि) पूछना

जकारान्त (१५)

त्यज् (१) (भ्वादि) त्यागना

निजिर् (२) (जुहोत्यादि) शुद्ध करना, बढ़ाना

भज् (३) (भ्वादि) सेवा करना

भञ्ज् (४) (रुधादि) तोड़ना

भुज् (५) (रुधादि) पालन करना, खाना

भ्रस्ज् (६) (तुदादि) भूनना

मस्ज् (७) (तुदादि) शुद्ध करना, डुबकी लगाना।

यज् (८) (भ्वादि) यज्ञ करना आदि

युज् (९) (रुधादि) जोड़ना

रुज् (१०) (तुदादि) तोड़ना, रोगी करना

रञ्ज् (११) (दिवादि, भ्वादि) रंगना, अनुरक्त होना।

विजिर् (१२) (जुहोत्यादि) अलग होना

ष्वञ्ज् (१३) (भ्वादि) आलिङ्गन करना

सञ्ज् (१४) (भ्वादि) मिलना

सृज् (१५) (दिवादि, तुदादि) छोड़ना

दकारान्त (१६)

अद् (१) (अदादि) खाना

क्षुद् (२) (रुधादि) कूटना

खिद् (३) (दिवादि) दुःखी होना

छिद् (४) (रुधादि) काटना

नुद् (५) (तुदादि) प्रेरणा करना

तुद् (६) (तुदादि) दुःख देना

पद् (७) (दिवादि) जाना
भिद् (८) (रुधादि) तोड़ना
विद् (९) (दिवादि) विद्यमान होना
विद् (१०) (रुधादि) विचारना
विद् (११) (तुदादि) उपार्जन करना
शद् (१२) (भ्वादि) मुरझाना वा नष्ट होना
सद् (१३) (भ्वादि) जाना
स्विद् (१४) (दिवादि) पसीजना
स्कन्द् (१५) (भ्वादि) जाना, सूखना, सुखाना
हद् (१६) (भ्वादि) मल त्यागना

धकारान्त (११)

क्रुध् (१) (दिवादि) क्रोध करना
क्षुध् (२) (दिवादि) भुखाना=भूखा होना
बुध् (३) (दिवादि) जानना
बन्ध् (४) (क्र्यादि) बांधना
युध् (५) (दिवादि) लड़ना
रुध् (६) (रुधादि) रूंधना, घेरना
राध् (७) (दिवादि) सिद्ध करना
व्यध् (८) (तुदादि) ताड़न करना वा वेधना
शुध् (९) (दिवादि) स्वच्छ होना
साध् (१०) (दिवादि) सिद्ध करना
सिध् (११) (दिवादि) पूरा होना

नकारान्त (२)

मन् (१) (दिवादि) मानना (अन्त्य गण की उदात्त है)
हन् (२) (अदादि) मारना

पकारान्त (१३)

आप् (१) (स्वादि) प्राप्त करना वा प्राप्त होना
तृप् (२) (दिवादि) परितुष्ट होना वा तुष्ट करना
(अन्त्य गण की उदात्त है)
दृप् (३) (दिवादि) अभिमानी होना (अन्त्य गण की उदात्त है)

लिप् (४) (तुदादि) लीपना
लुप् (५) (,,) काटना
वप् (६) (भ्वादि) बोना
शप् (७) (,, दिवादि) शाप देना, शपथ करना
स्वप् (८) (अदादि) सोना
सृप् (९) (भ्वादि) रेंगना
क्षिप् (१०) (भ्वादि) फेंकना
छुप् (११) (भ्वादि) छूना
तप् (१२) (भ्वादि) तपना
तिप् (१३) (भ्वादि) चूना

भकारान्त (३)

यभ् (१) (भ्वादि) मैथुन करना
रभ् (२) (भ्वादि) शीघ्रता करना
लभ् (३) (भ्वादि) प्राप्त करना

मकारान्त (४)

गम् (१) (भ्वादि) जाना
नम् (२) (भ्वादि) नमस्कार करना
यम् (३) (भ्वादि) निवृत्त होना
रम् (४) (भ्वादि) क्रीडा करना

शकारान्त (१०)

क्रुश् (१) (भ्वादि) ऊँचे स्वर में रोना
दंश् (२) (भ्वादि) डसना व काटना
दिश् (३) (तुदादि) दान करना, निर्देश करना
दृश् (४) (भ्वादि) देखना
मृश् (५) (तुदादि) स्पर्श करना या बोध करना
स्पृश् (६) (,,) छूना
रिश् (७) (,,) हिंसा करना
रुश् (८) (,,) हिंसा करना
लिश् (९) (,,) घटना
विश् (१०) (,,) प्रवेश करना

षकारान्त (११)—
कृष् (१) (भ्वादि-तुदादि) आकर्षण करना
त्विष् (२) (भ्वादि) चमकना
तृष् (३) (दिवादि) प्यासा होना
द्विष् (४) (अदादि) द्वेष करना
दुष् (५) (दिवादि) बिगड़ना
पुष् (६) (दिवादि) पुष्ट करना
पिष् (७) (रुधादि) पीसना
विष् (८) (भ्वादि) व्याप्त होना
शिष् (९) (रुधादि) विशिष्ट करना
शुष् (१०) (दिवादि) सुखाना
श्लिष् (११) (दिवादि) आलिंगन करना
सकारान्त (२)—
घस् (१) (भ्वादि) खाना
वस् (२) (भ्वादि) वास करना (अन्य गण की उदात्त)
हकारान्त (८)—
दह् (१) (भ्वादि) जलना, जलाना
दिह् (२) (अदादि) लीपना
दुह् (३) (अदादि) दुहना
नह् (४) (दिवादि) बांधना
मिह् (५) (भ्वादि) सींचना
रुह् (६) (भ्वादि) जमना, उगना
लिह् (७) (अदादि) चाटना
वह् (८) (भ्वादि) ले जाना

प्रत्यय दो प्रकार के—सार्वधातुक, आर्धधातुक

धातुओं से होनेवाले प्रत्यय दो प्रकार के होते हैं—सार्वधातुक और आर्धधातुक।

तिङ्शित् सार्वधातुकम् (३।४।११३)—तिङ्शित् १।१, सार्वधातुकम् १।१॥ अनु०—धातोः, प्रत्ययः। अर्थ—धातु से विहित तिङ् और शित् (=जिसका शकार इत्संज्ञक हो) प्रत्यय, सार्वधातुकसंज्ञक होते हैं।

जैसे—तिङ्=तिप् तस् झि आदि १८ प्रत्यय, शित्—तुदादिभ्यः शः (३।१।७७) तुद् अ ति । श की सार्वधातुक संज्ञा होने से श प्रत्यय ।

सार्वधातुकमपित् (१।२।४)—सार्वधातुकम् १।१, अपित् १।१॥ अनु०—ङित् (१।२।१ से)। अर्थ—पित् भिन्न सार्वधातुकसंज्ञक ङित् होते हैं। अतः **क्ङिति च** (१।१।५) से गुण का निषेध होकर तुदति बनता है।

आर्धधातुकं शेषः (३।४।११४)—आर्धधातुकम् (१।१), शेषः १।१॥ अनु०—धातोः, प्रत्ययः । अर्थ—धातु से विहित तिङ् और शित् प्रत्ययों से शेष बचे हुए प्रत्यय आर्धधातुक संज्ञक होते हैं।

लिट् च (३।४।११५)—लिट् १।१, च अ० ॥ अनु०—आर्धधातुकम् । अर्थ—लिट् प्रत्यय भी आर्धधातुक संज्ञक होता है। लिट् के स्थान पर होने वाले तिप् आदि की तिङ् होने से ३।४।११३ से सार्वधातुक संज्ञा प्राप्त होती थी, इससे उनकी आर्धधातुक-संज्ञा का विधान कर दिया।

लिङाशिषि (३।४।११६)—लिङ् १।१, आशिषि ७।१॥ अनु०—आर्धधातुकम् । अर्थ—आशीर्वाद अर्थ में विहित लिङ् आर्धधातुकसंज्ञावाला होता है। यहां भी लिङ् के स्थान पर होनेवाले तिप् आदि प्रत्ययों की ३।४।११३ से सार्वधातुकसंज्ञा प्राप्त होती थी, उसको बाधकर आर्धधातुक संज्ञा कर दी।

कृत्-प्रत्यय-विषयक सामान्य नियम

कृत्-प्रत्ययों को आरम्भ करने से पूर्व कृत्-प्रत्यय सम्बन्धी कुछ आवश्यक नियम लिखे जाते हैं, जिससे इन प्रत्ययों में रूपसिद्धि और अर्थ का परिज्ञान हो जावे—

कृत्-प्रत्ययों का अर्थ

१. कृत् प्रत्यय सामान्यरूप से **कर्ता** कारक में होते हैं—**कर्तरि कृत्** (३।४।६७)। जैसे—करोतीति कर्ता, कारकः; कुम्भं करोतीति कुम्भकारः।

२. कृत् प्रत्ययान्तर्गत कृत्यसंज्ञक प्रत्यय (३।१।९५-१३२), क्त प्रत्यय, और खल् अर्थ में विहित प्रत्यय **भाव** और **कर्म** में होते हैं—**तयोरेव कृत्य-क्तखलर्थाः** (३।४।७०) तयोः=भावकर्मणोः (पूर्व सूत्र निर्दिष्ट)। जैसे—**कृत्य**—कर्तव्यः कटः, शयितव्यं देवदत्तेन; **क्त**—कृतः कटः, भुक्तं देवदत्तेन; **खलर्थ**—सुकरः कटः।

३. कृत् प्रत्ययान्तर्गत घञ् अच् अप् क्तिन् आदि कुछ प्रत्यय भाव में होते हैं, क्योंकि भावे का अधिकार ३।३।१८ से ३।३।११२ तक है।

प्रत्ययों के विशिष्ट अनुबन्धों का कार्य

रूपसिद्धि का परिज्ञान करने के लिए कुछ विशिष्ट अनुबन्ध (इत्)[1] संज्ञाओं के कार्यों का निर्देश करते हैं। यथा—

१. **ञित् णित् प्रत्यय**—ञित् णित् प्रत्ययों के परे अजन्त अङ्ग को वृद्धि होती है—**अचो ञ्णिति** (७।२।११५); तथा अङ्ग की उपधा में वर्तमान ह्रस्व अकार को भी ञित् णित् परे वृद्धि होती है—**अत उपधायाः** (७।२।११६)। जैसे—

ञित् (घञ्)—कारः हारः भावः। णित् (ण्वुल्)—कारकः, नायकः, पाचकः।

२. सार्वधातुक अथवा आर्धधातुक प्रत्ययों के परे इगन्त अङ्ग को गुण होता है—**सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (गुणः) (७।३।८४)। अङ्ग की लघु उपधा रूप इक् को भी सार्वधातुक आर्धधातुक प्रत्यय परे गुण होता है—**पुगन्तलघूपधस्य च** (७।३।८६)। जैसे—चयः जयः, कर्ता हर्ता, भेदः भेदकः छेदकः; भवति नयति मेहति।

विशेष—संख्या १ में निर्दिष्ट वृद्धि, इस गुण का अपवाद है। अतः जहां ञित् णित् प्रत्यय परे वृद्धि की प्राप्ति होगी, वहां वृद्धि ही होगी।

३. यदि सार्वधातुक आर्धधातुक प्रत्यय कित्, गित्, ङित् हों, तो **क्ङिति च** (१।१।५) सूत्र के नियम से गुण और वृद्धि नहीं होती है। जैसे—कित्—चितः चितवान्; गित्—भूष्णुः जिष्णुः; ङित्—तुदति दीव्यति।

४. शित् प्रत्यय की सार्वधातुक संज्ञा (३।४।११३ से) होने से शित् प्रत्यय के परे धातु को (जिस गण में जो पढ़ी गई है, उसको) स्वगण के अनुसार शप् लुप् श्लु श्यन् श्नु श श्नम् उ श्ना आदि विकरण, वा लुक् श्लु रूप कार्य होता है। जैसे—**आत्ममाने खश् च** (३।२।८३) से काली उपपद होने पर दिवादिगण की मन् धातु को श्यन् विकरण होता है—काली मन् श्यन् खश्=कालीमन्य अम्=कालिमन्या (द्र०—अगले ६-७ निर्देश)।

५. अजादि कित् ङित् प्रत्यय के परे रहने पर आकारान्त धातु के आकार का लोप होता है—**आतो लोप इटि च** [क्ङिति] (६।४।६४ से)।

१. सामान्य रूप से अनुबन्धों का कार्य पूर्व पृष्ठ १२१-१२४ तक लिख चुके हैं। यहां विशिष्ट अनुबन्ध कार्यों का पुनः निर्देश विशेष ध्यान दिलाने के लिये किया है।

जैसे—गां ददातीति—गो दा क (३।२।३ से) गोदा अ=गोद् अ सु=गोदः।

६. यदि प्रत्यय का ख् इत्संज्ञक हुआ हो, तो खित् प्रत्ययान्त के परे रहते ङी प्रत्ययान्त और आप् प्रत्ययान्त पूर्वपद को ह्रस्व होता है—खित्यनव्ययस्य (६।३।६५ से)। जैसे—काली मन् खश् (३।२।८३)=काली मन्य् अ=काली मन्य=कालिमन्या।

७. खित्प्रत्ययान्त परे रहते पूर्वपद को मुम् (=म्) का आगम होता है—**अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्** (आदि: ६।३।६६,६७,६८)। जैसे—कालिमन्या (खश्=३।२।८३), द्विषन्तपः वाचंयमः (खच्—३।२।३९,४०)।

८. (पूर्व गिनाई गई अनिट् धातुओं से भिन्न) धातु से परे वलादि आर्धधातुक प्रत्यय को 'इट्' का आगम होता है—**आर्धधातुकस्येड् वलादेः** (७।२।३५) से जैसे—भविता, पठितव्यम्, पठित्वा।

९. पूर्व गिनाई गई एकाच् और उपदेश में अनिट् धातुओं से वलादि आर्धधातुक प्रत्यय को इट् का आगम नहीं होता—**एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** [**नेट्**] (७।२।१०) से। जैसे—कर्ता भोक्ता, कर्तव्यम् भोक्तव्यम्, कृत्वा भुक्त्वा।

इन ९ सामान्य नियमों को ध्यान में रखने से कृत्संज्ञक प्रत्ययों की रूपसिद्धि में सरलता होगी। अब हम संक्षेप से कृदन्त प्रकरण लिखते हैं—

कृत्-प्रत्यय

प्रत्ययः (३।१।१)—प्रत्ययः १।१। यह अधिकार सूत्र है। इसका अधिकार ५वें अध्याय के अन्त (५।४।१६०) तक जाता है। अर्थ—यहां से आगे जिनका विधान करें उनकी 'प्रत्यय' संज्ञा होती है, ऐसा जानना चाहिए।

परश्च (३।१।२)—परः १।१, च अ०। अनु०—प्रत्ययः। यह भी अधिकार सूत्र है। इसकी भी पांचवें अध्याय के अन्त (५।४।१६०) तक अनुवृत्ति जाती है। अर्थ—यहां से आगे जिस प्रत्यय का विधान करेंगे वह [प्रकृति=धातु या प्रातिपदिक से] परे होगा। जैसे—**तव्यत्तव्यानीयरः** (३।१।९६) धातु से विहित तव्य 'कृ तव्य' इस प्रकार बैठेगा।

धातोः (३।१।९१)—धातोः ५।१। यह अधिकार सूत्र है। यहां से आगे तीसरे अध्याय के अन्त तक धातोः का अधिकार होने से प्रत्येक सूत्र में इसका सम्बन्ध होगा।

तत्रोपपदं सप्तमीस्थम् (३।१।९२)—तत्र अ० उपपदम् १।१, सप्तमीस्थम् १।१॥ अनु०—धातोः। अर्थ—इस धातु अधिकार के सूत्रों में जो, सप्तमीस्थ (=सप्तमी विभक्ति से निर्दिष्ट) पद हो, उसकी उपपद संज्ञा होती है। जैसे—कर्मण्यण्—कर्मणि ७।१, अण् १।१॥ कर्म उपपद होने पर धातु से अण् प्रत्यय होता है। कुम्भं करोतीति—कुम्भ अम् कृ अण्=कुम्भ अम् कार् अ; इस अवस्था में कुम्भ अम् की उपपद संज्ञा होने से उपपदमतिङ् (२।२।१७) से समास होकर प्रातिपदिक संज्ञा होकर अम् का लुक् (सुपो धातुप्रातिपदिकयोः २।४।७१ से) होकर और तया सु आकर कुम्भकारः बनता है।

कृदतिङ् (३।१।९३)—कृत् १।१, अतिङ् १।१॥ अनु० धातोः। अर्थ—इस धातु अधिकार में अतिङ् (=तिङ् से भिन्न) जिन प्रत्ययों का विधान करेंगे, वे कृत्संज्ञक होंगे। कृत् संज्ञा होने से कृत्तद्धितसमासाश्च (१।२।४६) से प्रातिपदिक संज्ञा होकर सु आदि विभक्तियों की उत्पत्ति होती है।

वाऽसरूपोऽस्त्रियाम् (३।१।९४)—वा अ०, असरूपः १।१, अस्त्रियाम् ७।१॥ अनु०—धातोः, प्रत्ययः, परः, कृत्॥ न सरूपः=असरूपः=भिन्न-रूपः। अर्थ—धातु अधिकार में विहित भिन्न-रूपवाले प्रत्यय विकल्प से होते हैं, स्त्रियाम् (३।३।९३) अधिकार को छोड़कर।

इसका भाव है कि असरूप प्रत्यय विकल्प से उत्सर्ग प्रत्यय के बाधक होते हैं, अर्थात् दोनों हो जाते हैं। किन्तु सरूप=समानरूपवाले प्रत्यय नित्य बाधक होते हैं। जैसे धातुमात्र से सूत्र ३।१।१३३ से ण्वुल् और तृच् प्रत्ययों का विधान किया है। उनका अपवाद इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः (३।१।१३५) से इगुपध से क प्रत्यय कहा है। यह क प्रत्यय पूर्वविहित उत्सर्ग ण्वुल् तृच् का विकल्प से बाधक होगा। अतः इगुपध क्षिप् धातु से ण्वुल्—विक्षेपकः, तृच्—विक्षेप्ता, और क—विक्षिपः तीनों प्रत्यय हो जाते हैं। स्त्रियां क्तिन् (३।३।९४) के अधिकार में विहित अपवाद प्रत्यय सामान्य विहित क्तिन् के नित्य बाधक होते हैं। जैसे—सन् आदि प्रत्ययान्त धातु से, अ प्रत्ययात् (३।३।१०२) सूत्र से कहा अ क्तिन् का नित्य बाधक होता है। अतः चिकीर्ष सन्नन्त धातु से क्तिन् नहीं होता।

असरूपता के परिज्ञान के लिये अनुबन्ध=इत्संज्ञक अंश हटाकर देखना चाहिये[1] कि उत्सर्ग और अपवाद सरूप हैं या असरूप हैं। जैसे—कर्मण्यण्

१. देखो पूर्व पृष्ठ ११ पर व्याख्यात नानुबन्धकृतमसारूप्यम् परिभाषा।

(३।२।१) से कर्म उपपद होने पर धातु से अण् प्रत्यय, और इसका बाधक आतोऽनुपसर्गे कः (३।२।३) से उपसर्गभिन्न कर्म उपपद होने पर आकारान्त धातु से क प्रत्यय का विधान किया है। अण् और क दोनों सामान्यरूप से भिन्नरूपवाले दिखाई देते हैं, परन्तु 'अण्' में से ण और 'क' में से क् इत्संज्ञक को हटाने पर दोनों का रूप अ समान हो रहता है। अतः ये सरूप प्रत्यय हैं। इस कारण क अण् का नित्य बाधक होता है—गोदः कम्बलदः में क ही होता है, अण् नहीं होता।

कृत्याः (३।१।९५)—कृत्याः १।३॥ अनु०—धातोः, प्रत्ययः, परश्च। अर्थ—यह अधिकार सूत्र है। इसकी अनुवृत्ति ३।१।१३२ तक जाती है। वार्तिककार ने स्पष्ट लिखा है—कृत्याः प्राङ् ण्वुलः। अर्थ—ण्वुल् (३।१।१३३ में विहित) प्रत्यय से पूर्व (३।१।१३२) तक धातु से विहित प्रत्ययों की कृत्य संज्ञा भी होती है। अतः आगे (३।१।९६ से १३२ तक) विधीयमान प्रत्ययों को कृत् और कृत्य दोनों संज्ञायें होती हैं। कृत् संज्ञा होने से कृत्तद्धितसमासाश्च (१।२।४६) से प्रातिपदिक संज्ञा होती है। और कृत्य संज्ञा का फल तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः (३।४।७०) द्वारा भाव कर्म में विधान करना है।

तव्यत्तव्यानीयरः (३।१।९६)—तव्यत्तव्यानीयरः १।३॥ अनु०—धातोः प्रत्ययः परः कृत् कृत्याः। अर्थ—धातु से तव्यत् तव्य अनीयर् (तीन) प्रत्यय होते हैं, और वे धातु से परे होते हैं। इनकी कृत् और कृत्य संज्ञा होती है। जैसे—डुकृञ् करणे—कर्तव्यम् कर्तव्यम् करणीयम्; पठ व्यक्तायां वाचि—पठितव्यम् पठितव्यम् पठनीयम्। यहां त् र् अनुबन्ध स्वर विशेष के लिये हैं। देखो—अनुबन्ध प्रकरण (पृष्ठ १२३) में।

विशेष—धातु से सामान्यरूप से विहित प्रत्यय धातुमात्र से होते हैं। जैसे—तव्यत्तव्यानीयरः (३।१।९६), ण्वुल्तृचौ (३।१।१३३), कर्मण्यण् (३।२।१)।

अचो यत् (३।१।९७)—अचः ५।१; यत् १।१॥ अनु०—धातोः प्रत्ययः परः कृत् कृत्याः। अचः यह विशेषण है, अतः येन विधिस्तदन्तस्य[1] (१।१।७१) से अन्त का सम्बन्ध लगाकर अजन्त अर्थ होता है (इसी प्रकार सर्वत्र प्रत्ययाध्याय तक समझना चाहिये)। अर्थ—अजन्त धातु से यत् प्रत्यय परे होता है, और वह कृत् कृत्य संज्ञक होता है। जैसे—चिञ् चयने चेयम्, लूञ् छेदने लव्यम्, चिकीर्ष (सन्नन्त धातु)—चिकीर्ष्यम्।

१. प्रथम भाग पृष्ठ १०० पर व्याख्यात।

लव्यम्—यहां लू—यत्, गुण होकर—लो य, इस अवस्था में धातोस्तन्निमित्तस्यैव (६।१।७७) [अनु०—एचः, वान्तः, यि प्रत्यये । अर्थ—यकारादि प्रत्यय परे रहने पर, तन्निमित्त=यकारादि प्रत्यय को निमित्त मान कर होनेवाले धातु के एच् के स्थान में वान्त=अव् आव् होते हैं।] सूत्र से 'लो' के 'ओ' को 'अव्' आदेश होकर लव् य=लव्यम् रूप बनता है।

विशेष—अजन्तों में ऋकारान्त धातुओं से ऋहलोर्ण्यत् (३।१।१२४) से ण्यत् और उकारान्तों से आवश्यक अर्थ में ओरावश्यके (३।१।१२५) से ण्यत् का विधान करेंगे।

अनुवृत्ति के सम्बन्ध में—यहां से आगे धातोः प्रत्ययः परः कृत् कृत्याः इन सामान्य अधिकारों की अनुवृत्ति का निर्देश प्रत्येक सूत्र में नहीं करेंगे, परन्तु इनका सम्बन्ध सर्वत्र समझें।

पोरदुपधात् (३।१।९८) पोः ५।१, अदुपधात् ५।१॥ अनु०—यत्। अर्थ—पवर्गान्त अकारोपध धातु से यत् प्रत्यय होता है। जैसे—शप् आक्रोशे—शप्यम्, डुलभष् प्राप्तौ—लभ्यम्। पवर्गान्त धातुओं के हलन्त होने से ऋहलोर्ण्यत् (३।१।१२४) से ण्यत् प्राप्त होता था, उसका यह अपवाद है।

अर्यः स्वामिवैश्ययोः (३।१।१०३)—अर्यः १।१, स्वामिवैश्ययोः ७।२॥ अनु०—यत्। अर्थ—स्वामी और वैश्य अर्थ में अर्य पद निपातित है। यहां ऋ गतिप्रापणयोः धातु से ऋहलोर्ण्यत् (३।१।१२४) से ण्यत् प्राप्त होता था, सो स्वामी और वैश्य अर्थ में यत् का निर्देश किया है। स्वामी और वैश्य अर्थ से अन्यत्र ३।१।१२४ से ण्यत् होकर आर्य[1] शब्द बनेगा।

ऋहलोर्ण्यत् (३।१।१२४)—ऋहलोः ६।२, ण्यत् १।१॥ अर्थ—ऋकारान्त और हलन्त धातुओं से ण्यत् प्रत्यय होता है (णित् होने से वृद्धि होती है)। जैसे—डुकृञ् करणे—कार्यम्, हृञ् हरणे—हार्यम्; हलन्त—डुपचष् पाके—पाक्यम्, वच परिभाषणे—वाक्यम्। यहां चजोः कु घिण्ण्यतोः (७।३।५२) से घित् प्रत्यय और ण्यत् प्रत्यय परे रहने पर च ज को कु (=कवर्ग=च के स्थान में क, ज के स्थान में ग) होता है।

ओरावश्यके (३।१।१२५)—ओः ५।१, आवश्यके ७।१॥ अनु०—

१. 'आर्य' शब्द 'अर्यस्य स्वामिन ईश्वरस्य पुत्रः' अर्थ में तद्धितान्त भी बनता है। देखो—निरुक्त ६।२६—आर्य ईश्वरपुत्रः।

ण्यत्। अर्थ-आवश्यक अर्थ जाना जाये तो उवर्णान्त धातुओं से ण्यत् प्रत्यय होता है। जैसे—लूञ् छेदने—लाव्यम्, पूञ् पवने—पाव्यम्। अवश्यलाव्यम्, अवश्यपाव्यम्। यहां भी लू को वृद्धि होने पर 'लौ+य' इस अवस्था में धातोस्तन्निमित्तस्यैव' (६।१।७७) से वान्त=आव् आदेश होता है।

इति कृत्य-प्रकरणम्॥

ण्वुल्तृचौ (३।१।१३३)—ण्वुल्तृचौ १।२।। अर्थ—धातु से ण्वुल् और तृच् प्रत्यय होते हैं। ण्वुल् के 'वु' को युवोरनाकौ' (७।१।१)[1] से अक आदेश होता है और णित् होने से वृद्धि होती है। जैसे—ण्वुल्—डुपचष् पाके—पाचकः, णीञ् प्रापणे—नायकः, लूञ् छेदने—लावकः, डुकृञ् करणे—कारकः; तृच्—पूर्वोक्त धातुओं से क्रमशः—पक्ता, नेता, लविता, कर्त्ता। तृचप्रत्ययान्त शब्दों के रूप होतृ शब्द के समान (द्र० पूर्व पृष्ठ ६४) चलेंगे। पच्, नी, कृ धातुओं के अनुदात्त होने से इट् का आगम नहीं होता (द्र० पूर्व पृष्ठ १२५)। पच्+तृ—यहां चोः कुः[3] (८।२।३०) से ककार होता है।

अजपि सर्वधातुभ्यः (वा० ३।१।१३४ पर)—अच् १।१, अपि अ०, सर्वधातुभ्यः ५।३॥ अर्थ—सभी धातुओं से अच् प्रत्यय होता है। जैसे—दीव्यतीति देवः, पचतीति पचः।

इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः (३।१।१३५)—इगुपधज्ञाप्रीकिरः ५।१, कः १।१॥ अर्थ—इक् (इ उ ऋ लृ) जिनकी उपधा में हों ऐसे धातुओं से और ज्ञा, प्री, कॄ धातुओं से क प्रत्यय होता है। जैसे—इगुपध—लिख अक्षरविन्यासे वि पूर्वक—विलिखः, बुध ज्ञाने—बुधः, कृश तनूकरणे—कृशः (यहां कित् होने से क्ङिति च १।१।५ से गुण का निषेध हो जाता है); ज्ञा अवबोधने—जानातीति ज्ञः (यहां आतो लोप इटि च ६।४।६४ से धातु के आकार का लोप होता है), प्रीञ् तर्पणे—प्रीणातीति प्रियः ('प्री अ' इस अवस्था में अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ ६।४।७७ से इयङ् आदेश होता है), कॄ विक्षेपे—किरतीति किरः (कॄ अ—ॠत इद् धातोः ७।१।१०० से ॠकार के स्थान में इत् आदेश की प्राप्ति होने पर उरण् रपरः १।१।५० से रपर होकर—किर् अ=किरः)।

कर्मण्यण् (३।२।१)—कर्मणि ७।१, अण् १।१॥ अर्थ—कर्म उपपद होने पर धातु से अण् प्रत्यय होता है। जैसे—कुम्भं करोतीति कुम्भकारः, नगरकारः,

१. सूत्रार्थ देखो पृष्ठ १३५ पर। २. प्रथम भाग पृष्ठ १२१ पर व्याख्यात।
३. प्रथम भाग पृष्ठ ५२ पर व्याख्यात।

वेदमधीते वेदाध्यायः,[1] चर्चां पठतीति चर्चापाठः । कुम्भ अम् कृ अ = कुम्भ अम् कार, उपपदमतिङ् (२।२।१९) से समास होकर कृत्तद्धितसमासाश्च (१।२।४६) से प्रातिपदिक संज्ञा, और सुपो धातुप्रातिपदिकयोः (२।४।७१) से अम् का लुक्, तथा समुदाय से नया 'सु' आकर कुम्भकारः बनता है। जहां-जहां भी उपपद होने पर प्रत्यय का विधान किया जायेगा, वहां-वहां सर्वत्र इसी प्रकार प्रक्रिया जाननी चाहिये।

आतोऽनुपसर्गे कः (३।२।३) — आतः ५।१, अनुपसर्गे ७।१, कः १।१॥ अनु० — **कर्मणि** । अर्थ — कर्म उपपद होते पर उपसर्गरहित आकारान्त धातु से क प्रत्यय होता है। जैसे — गां ददातीति गोदः, कम्बलदः, अङ्गुलीः त्रायत इति अङ्गुलित्रम् (दस्ताना) । यहां कित् होने से दा त्रै[2] धातु के आकार का **आतो लोप इटि च** (६।४।६४) से लोप होता है।

सुपि स्थः (३।२।४) — सुपि ७।१, स्थः ५।१॥ अनु० — कः । सुप् उपपद होने पर स्था धातु से क प्रत्यय होता है। जैसे — समे तिष्ठतीति समस्थः, विषमस्थः। कित् होने से आकार का लोप पूर्ववत्।

विशेष — यहां से आगे कर्मणि और सुपि दोनों पदों की अनुवृत्ति जाती है। सकर्मक धातुओं से प्रत्यय विधान में कर्मणि का, और अकर्मकों से सुपि का सम्बन्ध जानना चाहिये।

चरेष्टः (३।२।१६) — चरेः ५।१, टः १।१॥ अनु० — सुपि, अधिकरणे (३।२।१५ से)॥ अर्थ — अधिकरण सुबन्त उपपद होने पर चर धातु से ट प्रत्यय होता है। जैसे — कुरुषु चरतीति कुरुचरः, मद्रचरः। टित् होने से ४।१।१५ से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् होता है — कुरुचरी, मद्रचरी।

प्रियवशे वदः खच् (३।२।३८) — प्रियवशे ७।१, वदः ५।१, खच् १।१॥ अनु० — कर्मणि। अर्थ — प्रिय और वश कर्म उपपद हों, तो वद धातु से खच् प्रत्यय होता है। प्रियं वदतीति प्रियंवदः, वशंवदः (= विनीत)। यहां कर्म उपपद के अम् का लुक् होकर प्रियवद इस अवस्था में प्रत्यय के खित् होने से **अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्** (६।३।६५) से मुम् होता है — प्रिय म् वद = प्रियंवदः।

---

१. 'चर्चा' पदच्छेद को कहते हैं। चर्चापाठः का अर्थ है — संहिता के पदपाठ को पढ़नेवाला।

२. त्रैङ् पालने को, सब से पूर्व आदेच उपदेशेऽशिति (६।१।४५) से शित् विषय को छोड़कर आत्व होता है।

द्विषत्परयोस्तापेः (३।२।३९)—द्विषत् परयोः ७।२, तापेः ५।१ ॥ अनु०—कर्मणि खच् । द्विषत् और पर कर्म उपपद होने पर तापि (=तप् णिजन्त) धातु से खच् प्रत्यय होता है । जैसे—द्विषन्तं तापयतीति द्विषंतपः, परंतपः । यहां 'द्विषत् अम् तापि खच्' इस अवस्था में णेरनिटि (६।४।५१) से णि का लोप, और खचि ह्रस्वः (६।४।९४) से ताप् को ह्रस्व होकर उपपद समास, प्रातिपदिक संज्ञा, अम् का लुक्—'द्विषत् तप् अ', इस अवस्था में अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम् (६।३।६७) से मुम् का आगम, मित् होने से मिदचोऽन्त्यात् परः (१।१।४६) नियम से अन्त्य अच् से परे हुआ—द्विष म् त् तप, यहां अम् को प्रत्ययलक्षण मानकर पूर्व की पद संज्ञा होने पर संयोगान्तस्य लोपः (८।२।२३) से त् का लोप और म् को मोऽनुस्वारः (८।३।२३) से अनुस्वार होकर—द्विषंतपः ।

स्पृशोऽनुदके क्विन् (३।२।५८)—स्पृशः ५।१, अनुदके ७।१, क्विन् १।१ ॥ अनु०—सुपि । अर्थ—उदकभिन्न सुबन्तमात्र उपपद होने पर स्पृश् धातु से क्विन् प्रत्यय होता है । जैसे—घृतं स्पृशतीति घृतस्पृक्, मन्त्रेण स्पृशतीति मन्त्रस्पृक् । यहां स्पृश् के शकार को क्विन्प्रत्ययस्य कुः (८।२।६२, पूर्व पृष्ठ १०५ पर व्याख्यात) से कवर्गादेश हो जाता है । इसके सुबन्त के रूप पूर्व पृष्ठ १०५ पर देखें ।

क्विप् च (३।२।७६)—क्विप् १।१, च अ० ॥ धातुमात्र से क्विप् प्रत्यय होता है । जैसे—उखायाः स्रंसते=उखास्रत्, यहां क्विप् के कित् होने से अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति[1] (६।४।२४) से अनुनासिक का लोप, और वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः[2] (८।२।७२) से सकार को दकारादेश होता है । सर्वं जयतीति सर्वजित्[3], भवतीति भूः, चेततीति चित्[3] ।

सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये (३।२।७८)—सुपि ७।१, अजातौ ७।१, णिनिः १।१, ताच्छील्ये ७।१ ॥ अर्थ—जातिभिन्न सुबन्त उपपद होने पर धातु से णिनि प्रत्यय होता है, यदि तच्छील्य (तत्स्वभाव) अर्थ गम्यमान हो । जैसे—उष्णं भुङ्क्ते=उष्णभोजी (गरम खाने के स्वभाववाला), शीतभोजी, शाकाहारी[4], मांसाहारी ।

१. अर्थ—कित् ङित् प्रत्यय परे रहने पर हलन्त अनिदित् (जिसका इकार इत्संज्ञक नहीं हुआ) की उपधा में वर्तमान अनुनासिक का लोप होता है ।

२. द्र०—पूर्व पृष्ठ १०६ पर व्याख्यात ।

३. ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् (६।१।६९ प्रथम भाग पृष्ठ ६७ पर व्याख्यात) से तुक् का आगम होता है । ४. णित् होने से अचो ञ्णिति (७।२।११५) से वृद्धि ।

भूते (३।२।८४)—भूते ७।१ ॥ यह अधिकार सूत्र है। इसका अधिकार ३।२।१२२ तक जाता है। अर्थ—यहां से आगे विहित प्रत्यय धातु से भूतकाल में होते हैं।

करणे यजः (३।२।८५)—करणे ७।१, यजः ५।१ ॥ अनु०—भूते, णिनिः। अर्थ—करण उपपद हो, तो यज् धातु से भूतकाल में णिनि प्रत्यय होता है। जैसे—अग्निष्टोमेन इष्टवान् = अग्निष्टोमयाजी।[1]

सुकर्मपापमन्त्रपुण्येषु कृञः (३।२।८९)—सुकर्म—पुण्येषु ७।३, कृञः ५।१ ॥ अनु०—भूते, कर्मणि (३।२।८६ से), क्विप् (३।२।८७ से)। अर्थ—सु कर्म पाप मन्त्र पुण्य इन कर्मों के उपपद होने पर कृञ् धातु से भूतकाल में क्विप् प्रत्यय होता है। जैसे—सुष्ठु कृतवान् = सुकृत्, कर्मकृत्, पापकृत्, पुण्यकृत (ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् ६।१।६९ से तुक्)।

सप्तम्यां जनेर्डः (३।२।९७)—सप्तम्याम् ७।१, जनेः ५।१, डः १।१ ॥ अनु०—भूते। अर्थ—सप्तम्यन्त उपपद होने पर जन् धातु से भूतकाल में ड प्रत्यय होता है। जैसे—जले जातः—जलजः (कमल), मन्दुरे जातः—मन्दुरजः (घुड़साल में उत्पन्न)।

विशेष—प्रत्यय को डित् इसलिये किया जाता है कि उसके परे रहते परटेः (६।४।१४३, डिति की अनु०) से टि भाग का लोप हो। परन्तु वहां भस्य (६।४।१२९) भ संज्ञक का प्रकरण है। भ संज्ञा, यचि भम् (१।४।१८) से यकारादि अजादि सर्वनामस्थान-भिन्न स्वादि प्रत्यय (= चतुर्थ-पञ्चम अध्याय के) परे होने पर होती है। इस कारण जल ङि जन् ड (अ) यहां भ संज्ञा न होने से टि का लोप प्राप्त नहीं होता है। प्रत्यय को डित् करने का टि-लोप के सिवाय अन्य कोई कार्य नहीं है। अतः डित्-करण यहां व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि डित्यभस्यापि टेर्लोपो भवति, अर्थात् डित्करण सामर्थ्य से विना भ संज्ञा के भी टि का लोप हो जाता है। इस प्रकार जल ङि ज् अ = जलजः रूप बन जाता है। 'सरसिजः' में ६।३।१२ से सप्तमी का अलुक् होता है।

निष्ठा (३।२।१०२)—निष्ठा १।१ ॥ अनु०—भूते। क्तक्तवतू निष्ठा (१।१।२५) से क्त क्तवतु की निष्ठा संज्ञा कही है। अर्थ—धातु से भूतकाल में निष्ठा = क्त क्तवतु प्रत्यय होते हैं। जैसे—कृतः, कृतवान्; भुक्तः, भुक्तवान्। क्त प्रायः कर्म में होता है—कृतः कटः। क्तवतु कर्ता में होता है—कटं कृतवान् देवदत्तः।

---

१. अत उपधायाः (७।२।११६) से वृद्धि।

लुङ् (३।२।११०)—लुङ् ।१।१॥ अनु०—भूते । अर्थ—भूत अर्थ में धातु से लुङ् प्रत्यय होता है । जैसे—अभूत्, अकार्षीत्, अलावीत् ।[1]

अनद्यतने लङ् (३।२।१११)—अनद्यतने ७।१, लङ् ।१।१॥ अनु०—भूते । अर्थ—अनद्यतन=अद्यतन (आज में होनेवाले) को छोड़कर भूतकाल में धातु से लङ् प्रत्यय होता है । जैसे—अभवत्, अकरोत्, अलुनात् ।

परोक्षे लिट् (३।२।११५)—परोक्षे ७।१, लिट् १।१ ॥ अनु०—अनद्यतने, भूते । अर्थ—परोक्ष=आंखों से परे=जो न देखा गया हो, ऐसे अनद्यतन भूतकाल में लिट् प्रत्यय होता है । जैसे—बभूव, चकार, लुलाव ।

लट् स्मे (३।२।११८)—लट् ११, स्मे ७।१ ॥ अनु०—भूते, परोक्षे, अनद्यतने । अर्थ—परोक्ष अनद्यतन भूतकाल में स्म उपपद में हो, तो धातु से लट् प्रत्यय होता है । जैसे—धर्मेण कुरवो युध्यन्ते स्म, रामो रावणं जयति स्म ।

विशेष—छात्रगण लिट् लकार के क्लिष्ट प्रयोगों से बचने के लिये लट् लकार की क्रिया का निर्देश कर सकते हैं । परन्तु क्रिया के आगे स्म लगाना न भूलें ।

वर्तमाने लट् (३।२।१२३)—वर्तमाने ७।१, लट् १।१ ॥ अर्थ—वर्तमान काल में धातु से लट् प्रत्यय होता है । जैसे—भवति, करोति, लुनाति, पचति, पठति । वर्तमाने का अधिकार ३।३।१ तक है ।

लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे (३।२।१२४)—लटः ६।१, शतृशानचौ १।२, अप्रथमासमानाधिकरणे ७।१॥ अनु०—वर्तमाने । अर्थ—वर्तमान काल में विहित लट् प्रत्यय के स्थान में शतृ शानच् प्रत्यय होते हैं, यदि प्रथमान्त का समानाधिकरण न हो । जैसे—पठन्तं देवदत्तं पश्य, पचमानं देवदत्तं पश्य; पठता कृतम्, पचमानेन कृतम् ।

विशेष—शतृ प्रत्ययान्त शब्दों के रूपों के लिये पूर्व पृष्ठ ९८, ९९ देखें । शतृ और शानच् में शतृ की परस्मैपद संज्ञा, और शानच् की आत्मनेपद संज्ञा होती है । लः परस्मैपदम्, तङानावात्मनेपदम् (१।४।९८, ९९, प्रथम भाग पृष्ठ ५७, ५८ देखें) ।

तौ सत् (३।२।१२७)—तौ १।२, सत् १।१॥ अर्थ—वे दोनों शतृ शानच् सत् संज्ञक होते हैं ।

---

१. इस प्रकरण में लट् आदि लकार विधायक सूत्रों के उदाहरणों की सिद्धि-प्रकार तिङन्त प्रकरण में दर्शाया जायेगा, यहां केवल उदाहरण मात्र जान लेवें ।

आक्वेस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु (३।२।१३३)—आ अ०, क्वेः ५।१, तच्छील—कारिषु ७।३। अनु०—वर्तमाने। अर्थ—क्विप् (क्विप् ३।२।१७७) शब्द पर्यन्त वर्तमान काल में तच्छील तद्धर्म और तत्साधुकारी अर्थों में धातु से आगे विहित प्रत्यय होते हैं। यह अधिकार सूत्र है।

विशेष—तच्छील वह कहाता है, जो स्वभाव से ही किसी क्रिया-विशेष में प्रवृत्त होता है। तद्धर्मा वह होता है, जो स्वभाव से तो उस क्रिया को न करता हो, परन्तु शास्त्र से निर्दिष्ट आचार को व्यवहार में लाता हो। तत्साधुकारी वह कहाता है, जो न स्वभाव से क्रिया में प्रवृत्त होता है, और न आचारशास्त्र से। परन्तु जब भी उस क्रिया को करता है, अच्छे प्रकार से करता है।

तृन् (३।२।१३५)—तृन् १।१।। अनु०—वर्तमाने तथा तच्छीलादि की। अर्थ—धातु से वर्तमान काल में तच्छील तद्धर्म तत्साधुकारी अर्थ गम्यमान हों, तो तृन् प्रत्यय होता है। जैसे—पक्ता, भोक्ता, गन्ता।

विशेष—पहले ३।१।१३३ से तृच् का विधान किया है। वह सामान्य रूप से तीनों कालों में उस क्रिया के कर्तृत्वमात्र को कहता है। जैसे—पचतीति पक्ता, पक्ष्यतीति पक्ता, अपाक्षीदिति पक्ता। तृन् प्रत्यय तच्छील तद्धर्म और तत्साधुकारी विशिष्ट कर्तृत्व को द्योतित करता है और वर्तमान काल में ही तृन् होता है, अन्य काल में नहीं।

तृच् प्रत्यय के योग में कर्म में षष्ठी विभक्ति होती है—**कर्तृकर्मणोः कृति** (२।३।६५)—अपां स्रष्टा, पुरां भेत्ता। परन्तु तृन् प्रत्यय के योग में कर्म में प्राप्त षष्ठी का **न लोकाव्यय०** (२।३।६९) से निषेध होता है—कर्ता कटान्, वदिता जनापवादान्।

तृच्-प्रत्ययान्त कर्ता स्रष्टा वदिता **चितः** (६।१।१५७) से अन्तोदात्त होते हैं। परन्तु तृन्-प्रत्ययान्त कर्ता स्रष्टा वदिता **ञ्नित्यादिर्नित्यम्** (६।१।१९१) से आद्युदात्त होते हैं।

ग्लाजिस्थश्च ग्स्नुः (३।२।१३९)—ग्लाजिस्थः ५।१, च अ०, ग्स्नुः १।१।। अनु०—वर्तमाने, तच्छील०, भुवः (३।२।१३८ से)। अर्थ—ग्ला जि स्था और भू इन धातुओं में ग्स्नु प्रत्यय होता है। प्रत्यय के गित् होने से **क्ङिति च** (१।१।५) से गुण नहीं होता। जैसे—ग्लास्नुः, जिष्णुः, स्थास्नुः, भूष्णुः।

विशेष—भू उदात्त सेट् धातु है, परन्तु यहां **श्र्युकः किति** (७।२।११) से इट् का निषेध होता है। श्र्युकः क्किति दो ककारवान् निर्देश में प्रथम

ग् का प्रश्लेष है। उसको खरि च (८।४।५४) से 'क्' होकर प्रथम का झरो झरि सवर्णे (८।४।६४) से लोप हो जाता है।

स्पृहिगृहिपतिदयिनिद्रातन्द्राश्रद्धाभ्य आलुच् (३।२।१५८)—स्पृहि ... तन्द्राभ्यः ५।३। आलुच् १।१॥ अनु०—वर्तमाने तच्छीला० । अर्थ—स्पृहि गृहि पति इन चोरादिक णिजन्त धातुओं से, तथा दय निद्रा तन्द्रा श्रद्धा से तच्छीलादि अर्थों में आलुच् प्रत्यय होता है। जैसे—स्पृहयालुः, गृहयालुः, पतयालुः, दयालुः, निद्रालुः, तन्द्रालुः, श्रद्धालुः।

विशेष—स्पृह ईप्सायाम्, गृह ग्रहणे, पत गतौ ये चुरादिगण की अदन्त धातुएं हैं। इनसे सत्याप—चुरादिभ्यो णिच् (३।१।२५) से णिच् प्रत्यय होता है। स्पृह णिच्=स्पृह इ, इस अवस्था में णिच् की आर्धधातुक संज्ञा होने से अतो लोपः (६।४।४८) से अकार का लोप होता है—स्पृह् इ। अब उपधा में (अन्त्य हल् से पूर्व) वर्तमान 'ऋ' को पुगन्तलघूपधस्य च (७।३।८६) से गुण प्राप्त होता है। इस अवस्था में अतो लोपः से लोप किये गये अकार को—

अचः परस्मिन् पूर्वविधौ (१।१।५६)—अचः ६।१; परस्मिन् ७।१, पूर्वविधौ ७।१॥ अनु०—स्थानिवत् आदेशः (१।१।५५ से)। अर्थ—अच् के स्थान पर पर को निमित्त मानकर हुआ आदेश, पूर्व की विधि=कार्य करना हो, तो स्थानिवत् हो जाता है। इस सूत्र से स्पृह् इ यहां पर को=णिच् को निमित्त मानकर हुआ अच् के स्थान पर अकार का लोपरूप आदेश पूर्व को=ऋकार को गुण करने में स्थानिवत् हो जाता है। इस सूत्र से अ लोप के स्थानिवत्=विद्यमानवत् हो जाने से अंग को उपधा में ऋकार नहीं रहता अतः गुण नहीं होता। स्पृह् इ की सनाद्यन्ता धातवः (३।१।३२) से धातु संज्ञा होकर धातोः के अधिकार में स्पृहिगृहि० सूत्र से आलुच् प्रत्यय हुआ। च् की इत्संज्ञा लोप होकर—स्पृह् इ आलु, रहा। अब आलुच् की आर्धधातुक संज्ञा होने से णेरनिटि (६।४।५१) से णि का लोप प्राप्त होता है, उसे बाधकर अयामन्ताल्वाय्येत्न्विष्णुषु[1] (६।४।५५) से णिच् के इकार को अय् आदेश हो जाता है—स्पृह् अय् आलु=स्पृहयालुः। इसी प्रकार गृह से गृहयालुः, पत से 'पत् इ' इस अवस्था में णिच् को मानकर अत उपधायाः (७।२।११६) से अकार को वृद्धि प्राप्त होती है। उस समय अकार लोप के १।१।५६ से स्थानिवत् होने से वृद्धि नहीं होती—

१. अय् १।१, आमन्ताल्वाय्येत्न्विष्णुषु ७।३॥ अनु०—णेः (६।४।५१ से)। अर्थ—आम्, अन्त, आलु, आय्य, इत्नु, इष्णु इनके परे णि को अय् आदेश होता है।

पतयालुः । नि पूर्वक द्रा कुत्सायां गतौ—निद्रालुः, तत् पूर्वक द्रा त् को न् आदेश—तन्द्रालुः, श्रत् पूर्वक डुधाञ् धारणपोषणयोः—श्रद्धालुः ।

धः कर्मणि ष्ट्रन् (३।२।१८१)—धः ५।१, कर्मणि ७।१, ष्ट्रन् १।१॥ अनु०—वर्तमाने । अर्थ—धा धातु से वर्तमान काल में कर्म कारक में ष्ट्रन् प्रत्यय होता है। 'धा' से यहां धेट् पाने और डुधाञ् धारणपोषणयोः दोनों धातुओं का ग्रहण है (समान रूप होने से)। जैसे—धयति—तां, दधति वा भैषज्यार्थम्=धात्री। जिसका (स्तन का) पान किया जाये, या औषध्यर्थ जिसको धारण किया जाये, वह धात्री कहाती है। प्रथम का अर्थ होगा दूध पिलानेवाली माता=धायी और दूसरे का अर्थ है आंवला। 'ष्ट्रन्' के षकार की इत्संज्ञा होने से षिद्गौरादिभ्यश्च (४।१।४१) से स्त्रीलिङ्ग में ङीष् प्रत्यय होता है।

दाम्नीशसयुयुजस्तुतुदसिसिचमिहपतदशनहः करणे (३।२।१८२)—दाम्नी—नहः ५।१, करणे ७।१॥ अनु०—वर्तमाने ष्ट्रन् । अर्थ—दाप्, नी, शस्, यु, युज, स्तु, तुद, सि, सिच, मिह, पत, दश, नह इन धातुओं से वर्तमान काल में करण कारक में ष्ट्रन् प्रत्यय होता है। जैसे—दाप् लवने—दान्त्यनेन दात्रम् (स्त्रीलिङ्ग में दात्री=दरांती), णीञ् प्रापणे—नयत्यनेन नेत्रम्, शसु हिंसायाम्—शसत्यनेन शस्त्रम्, यु मिश्रणामिश्रणयोः—यौत्यनेन योत्रम्, युजिर् योगे—युनक्त्यनेन योक्त्रम् (=रज्जु विशेष), ष्टुञ् स्तुतौ—स्तौत्यनेन स्तोत्रम्, तुद व्यथने—तुदत्यनेन तोत्त्रम् (चाबुक आदि), षिञ् बन्धने—सिनोत्यनेन सेत्रम् (रज्जु आदि), मिह सेचने—मेहत्यनेन मेढ्रम् (मूत्रस्थान), पत्लृ गतौ—पतत्यनेन पत्रम्, (अश्व रथ आदि वाहन), दंश दशने—दशत्यनया दंष्ट्रा (डाढ़), णह बन्धने—नह्यत्यनेन नद्ध्रम् (रज्जु आदि)।

विशेष—मेढ्र में ह को हो ढः (८।२।३१) से ढ होता है—मेढ् त्र, झषस्तथोर्धोऽधः (८।२।४०) से प्रत्यय के त् को ध, ष्टुना ष्टुः (८।४।४०) से ध को ढ—मेढ् ढ्र, ढो ढे लोपः (८।३।१३) से प्रथम ढ् का लोप होता है। 'दंष्ट्रा' में प्रत्यय के षित् होने से स्त्रीलिङ्ग में ४।१।४१ से ङीष् प्राप्त होता था, उसको बाधकर टाप् प्रत्यय करने के लिये इसे अजादि गण (४।१।४) में पढ़ा है। 'नह् त्रम्' यहां नहो धः (८।२।३४) से ह को ध, झषस्तथोर्धोऽधः से त् को ध्, झलां जश् झशि (८।४।५३) से पूर्व ध् को द्=नद्ध्रम् ।

उणादयो बहुलम् (३।३।१)—उणादयः १।३, बहुलम् १।१॥ अनु०—

वर्तमाने। अर्थ—धातु से उण् आदि प्रत्यय बहुल करके होते हैं। जैसे—कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण् (उणादि १।१)—कृ उण्—कारुः, वायुः, पायुः आदि।

विशेष—संस्कृतभाषा में नाम शब्द तीन प्रकार के हैं—यौगिक, योगरूढ और रूढ। 'यौगिक' वे कहाते हैं, जो धातु और प्रत्यय के योग से अपना अर्थ स्पष्ट करते हैं। जैसे—पाचकः=पकानेवाला। 'योगरूढ' वे होते हैं, जो प्रकृति प्रत्यय से सम्बद्ध अर्थ को प्रकट करते हुए भी किसी अर्थ-विशेष में रूढ=नियत हो जाते हैं। जैसे—पङ्कज=पङ्क=कीचड़ में उत्पन्न हुए अर्थ को प्रकट करते हुए भी केवल कमल के अर्थ में ही नियत है, कीचड़ में उत्पन्न कीड़ों के लिये प्रयुक्त नहीं होता। तीसरे 'रूढ' वे होते हैं, जो किसी अर्थविशेष में ही नियत हैं। जिनमें प्रकृतिप्रत्यय विभाग का न स्पष्ट परिज्ञान होता है, और न अर्थ ही जाना जाता है। जैसे—वृक्ष पुरुष आदि।

वैयाकरणों में आचार्य शाकटायन और यास्क आदि नैरुक्त लोग सभी शब्दों को यौगिक वा योगरूढ मानते थे, रूढ नहीं मानते थे। अतः वे सभी शब्दों में प्रकृति प्रत्यय का उपदेश करते थे। आचार्य पाणिनि ने सर्वसम्मत यौगिक तथा योगरूढ शब्दों का अन्वाख्यान तो अष्टाध्यायी में किया, और जिन शब्दों के सम्बन्ध में रूढ या योगरूढ होने का विवाद था, उनके प्रकृति-प्रत्यय अंश को प्राचीन आचार्यों के मतानुसार स्पष्ट करने के लिये उणादि-सूत्र नाम के पृथक् परिशिष्ट में बताया। यतः ये उणादि प्रत्यय अष्टाध्यायी से पृथक् परिशिष्ट में पढ़े गये थे, अतः उनकी कृत्संज्ञा प्राप्त नहीं होती थी, कृत्संज्ञा न होने से प्रातिपदिक संज्ञा नहीं होती थी। उसके विना स्वादि की उत्पत्ति नहीं होती थी। इस दोष का परिहार करने के लिये पाणिनि ने कृदन्त प्रकरण में उणादयो बहुलम् (३।३।१) सूत्र बनाकर सब उणादि प्रत्ययों की कृत् संज्ञा कर दी।

बहुलम् पद का अर्थ हम पूर्व (पृष्ठ ४५ में) बता चुके हैं। सूत्रकार ने यहां बहुलम् पद रखकर यह स्पष्टीकरण कर दिया है कि उणादि सूत्रों में अष्टाध्यायी के सभी नियम लागू नहीं होते। तथा जिन प्रकृतियों से जो प्रत्यय कहा है, वह अन्य प्रकृतियों से भी हो जाता है।

भूतेऽपि दृश्यन्ते (३।३।२)—भूते ७।१, अपि अ०, दृश्यन्ते क्रिया०। अनु०—उणादयः। अर्थ—उणादि प्रत्यय भतकाल में देखे जाते हैं।

जैसे—उच्चरितमिदं=चर्म (जो मृत पशु से उखेड़ा जा चुका), भसितमिदं =भस्म (जो जल चुका अर्थात् राख)।

भविष्यति गम्यादयः (३।३।३)—भविष्यति ७।१, गम्यादयः १।३॥ अनु०—उणादयः। अर्थ—गमी आदि उणादि प्रत्ययान्त कुछ शब्द भविष्यत् काल में भी प्रयुक्त होते हैं। जैसे—गमी (भविष्य में जानेवाला), आगमी (भविष्य में आनेवाला)।

तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम् (३।३।१०)—तुमुन्ण्वुलौ १।२, क्रियायाम् ७।१, क्रियार्थायाम् ७।१॥ अनु०—भविष्यति। अर्थ—क्रिया के लिये क्रिया उपपद हो, तो धातु से भविष्यत् काल में तुमुन् और ण्वुल् प्रत्यय होते हैं। जैसे—भोक्तुं व्रजति (खाने के लिये जाता है), भोजको व्रजति (भविष्य में खानेवाला जाता है)।

लृट् शेषे च (३।३।१३)—लृट् १।१, शेषे ७।१, च अ०॥ अनु०—भविष्यति क्रियायां क्रियार्थायाम्। अर्थ—क्रिया के लिये क्रिया उपपद में हो, अथवा उसके बिना शुद्ध भविष्यत् काल में लृट् प्रत्यय होता है। जैसे—क्रियार्थ क्रिया उपपद होने पर—करिष्यामीति व्रजति, हरिष्यामीति व्रजति; शेष में—करिष्यति, हरिष्यति।

अनद्यतने लुट् (३।३।१५)—अनद्यतने ७।१, लुट् १।१॥ अनु०—भविष्यति। अर्थ—अनद्यतन भविष्यत् काल में लुट् प्रत्यय होता है। जैसे—कर्ता, हर्ता, भविता।

पदरुजविशस्पृशो घञ् (३।३।१६)—पदरुजविशस्पृशः ५।१, घञ् १।१॥ अर्थ—पद रुज विश स्पृश धातुओं से घञ् प्रत्यय होता है। जैसे—पद गतौ—पादः, रुजो भङ्गे—रोगः, विश प्रवेशने—वेशः, स्पृश संस्पर्शने—स्पर्शः (यहाँ घञ् उपतापे=गरम स्पर्श में होता है)।

भावे (३।३।१८)—भावे ७।१॥ अनु०—घञ्। अर्थ—भाव=धात्वर्थ वाच्य हो, तो धातुमात्र से घञ् प्रत्यय होता है। जैसे—पाकः, त्यागः, रागः।

अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् (३।३।१९)—अकर्तरि ७।१, च अ०, कारके ७।१, संज्ञायाम् ७।१॥ अनु०—घञ्। अर्थ—कर्ता भिन्न कारक में संज्ञाविषय में धातु से घञ् प्रत्यय होता है। जैसे—प्रास्यन्ति तं (जिस को फेंकते हैं, वह) प्रासः (अस्त्र विशेष), आहरन्ति तस्मादि रसम् (आहरण=ग्रहण करते हैं जिससे रस को, वह) आहारः।

एरच् (३।३।५६)—एः ५।१, अच् १।१॥ अनु०—भावे अकर्तरि च

कारके० । अर्थ—इकारान्त धातु से भाव और कर्त्ता-भिन्न कारक में संज्ञा विषय में अच् प्रत्यय होता है । जैसे—चिञ् चयने—चयः, जि जये—जयः, णीञ् प्रापणे—नयः । यह घञ् का अपवाद है ।

ॠदोरप् (३।३।५७)—ॠदोः ६।२, अप् १।१।। अनु०—भावे अकर्तरि च कारके० । अर्थ—दीर्घ ॠकारान्त और उकारान्त धातु से भाव और कर्त्ता-भिन्न-कारक में संज्ञा विषय में अप् प्रत्यय होता है । जैसे—कॄ विक्षेपे—करः (हाथ), गॄ निगरणे—गरः (विष); उकारान्तों से—यु मिश्रणेऽमिश्रणे च—यवः (जौ), लूञ् छेदने—लवः । यह अञ् का अपवाद है । इसी प्रकार आगे भी समझें ।

विशेष—इस सूत्र में ॠ के आगे 'त्' वर्ण नहीं है । यह दोनों स्वरों को स्पष्टतया उच्चारण करने के लिये द् का निर्देश है । तकार मानने पर तपरस्तत्कालस्य (१।१।६९) के नियम से ह्रस्व उकारान्त से ही अप् प्रत्यय होता, दीर्घ ऊकारान्त लूञ् पूञ् से नहीं होता ।

मदोऽनुपसर्गे (३।३।६७)—मदः ५।१, अनुपसर्गे ७।१ ।। अनु०—भावे अकर्तरि०, अप् । अर्थ—अनुपसर्ग (उपसर्गभिन्न) उपपद होने पर मद धातु से भावादि अर्थों में घञ् प्रत्यय होता है । जैसे—विद्यामदः, धनमदः । उपसर्ग उपपद होने पर—उन्मादः, प्रमादः ।

समुदोरजः पशुषु (३।३।६९)—समुदोः ७।२, अजः ५।१, पशुषु ७।३।। अनु०—भावे अकर्तरि०, अप् । अर्थ—सम् और उद् उपसर्ग उपपद में हों, तो अज गतिक्षेपणयोः धातु से भावादि अर्थों में अप् प्रत्यय होता है, यदि पशुविषयक क्रिया जानी जाये । जैसे—समजः पशूनाम् (पशुओं का समुदाय), उदजः पशूनाम् (पशुओं को प्रेरित करना) । पशु से अन्यत्र—समाजः ब्राह्मणानाम्, उदाजः क्षत्रियाणाम्, यहां अप् न होकर घञ् होगा ।

ड्वितः क्त्रिः (३।३।८८)—ड्वितः ५।१, क्त्रिः १।१ ।। अनु०—भावे अकर्तरि० । अर्थ—जिन धातुओं का 'डु' इत्संज्ञक हुआ हो, उनसे भाव आदि अर्थों में क्त्रि प्रत्यय होता है । जैसे—डुकृञ् करणे—कृत्रिमम्, डुपचष् पाके—पक्त्रिमम्, डुवप् बीजसन्ताने—उप्त्रिमम् ।

विशेष—कृ + त्रि, कित् होने से गुण का निषेध, कृत्तद्धितसमासाश्च (१।२।४६) से प्रातिपदिक संज्ञा, क्त्रेर्मम् नित्यम् (४।४।२०) से क्त्रिप्रत्ययान्त से मप् प्रत्यय होता है—कृत्रिमम् । पक्त्रिमम्—में च् को क् । उप्त्रिमम्—में प्रत्यय के कित् होने से—वचिस्वपियजादीनां किति (६।१।१५)—

वचि स्वपि और यजादिगण की धातुओं को कित् प्रत्यय परे रहते पर सम्प्रसारण होता है। वप् त्रि=उ अप् त्रि, सम्प्रसारणाच्च (६।१।१०४) से पूर्वरूप—उप्त्रिमम्।

ट्वितोऽथुच् (३।३।८९)—ट्वितः ५।१, अथुच् १।१॥ अनु०—भावे अकर्तरि०। अर्थ—जिन धातुओं का 'टु' इत्संज्ञक होता है, उनसे भावादि अर्थों में अथुच् प्रत्यय होता है। जैसे—टुवेपृ कम्पने—वेपथुः (कम्पन=कांपना), टुक्षु शब्दे—क्षवथुः (=छींकना), टुओश्वि गतिवृद्ध्योः—श्वयथुः (=सूजन)।

यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ् (३।३।९०)—यज...रक्षः ५।१, नङ् १।१॥ अनु०—भावे अकर्तरि०। अर्थ—यज याच यत विच्छ प्रच्छ रक्ष धातुओं से भावादि अर्थों में नङ् प्रत्यय होता है। जैसे—यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु—यज्ञः, याचृ याचने—याच्ञा, यती प्रयत्ने—यत्नः, विच्छ गतौ—विश्नः, प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्—प्रश्नः, रक्ष पालने—रक्ष्णः।

विशेष—'यज्ञ' शब्द का मूल अर्थ है—देवपूजा, संगतिकरण (यथायोग्य मिश्रण) और दान। इस विस्तृत अर्थ द्वारा देश जाति समाज व्यक्ति और प्राणिमात्र के लिये लाभदायक जितने उत्तम कर्म हैं, वे सब 'यज्ञ' कहाते हैं। अतएव शतपथ में कहा है—यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म (१।७।१।५)। द्रव्यमय यज्ञ याग होम आदि तो महान् शुभकर्मरूप यज्ञ का एक अंशमात्र है।

याच्ञा—नङ्प्रत्ययान्त शब्द पुंलिङ्ग होते हैं—नङन्तः, परन्तु याच्ञा शब्द याच्ञा स्त्रियाम् (द्र०—पूर्व पृष्ठ ७०) से स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होता है। हिन्दी में तथा कुछ एक संस्कृतज्ञ भी असावधानता से याच्ञा के स्थान में याञ्चा ऐसा लिखते वा बोलते हैं, वह अशुद्ध है।

विश्नः—यहां च्छ्वोः शूडनुनासिके च (६।४।१९) से 'छ्' के स्थान में नङ् परे 'श्' आदेश होता है।

प्रश्नः—यहां छ् को श् विश्नः के समान समझें। नङ् के ङित् होने से ग्रहिज्या... पृच्छतिभृज्जतीनां ङिति च (६।१।१६) से सम्प्रसारण प्राप्त होता है, उसका निषेध प्रश्ने चासन्नकाले (३।२।११७) में प्रश्न शब्द के पाठसामर्थ्य से होता है।

स्वपो नन् (३।३।९१)—स्वपः ५।१, नन् १।१॥ अनु०—भावे अकर्तरि०। अर्थ—भावादि अर्थों में स्वप् धातु से नन् प्रत्यय होता है। जैसे—स्वप्नः।

स्त्रियां क्तिन् (३।३।९८)—स्त्रियाम् ७।१; क्तिन् १।१॥ अनु०—भावे, अकर्तरि०। अर्थ—स्त्रीलिङ्ग भावादि अर्थों में धातु से क्तिन् प्रत्यय होता है। जैसे—कृतिः, चितिः, मतिः।

कृञः श च (३।३।१००)—कृञः ५।१; श अविभक्त्यन्त; च अ०॥ अनु०—स्त्रियां, भावे, क्यप् (३।३।९९ से)। अर्थ—कृञ् धातु से स्त्रीलिङ्ग भाव में श प्रत्यय, और चकार से क्यप् और क्तिन् भी होता है। जैसे—श—क्रिया, क्यप्—कृत्या, क्तिन्—कृतिः।

विशेष—श प्रत्यय शित् होने से सार्वधातुकसंज्ञक है। अतः जब भाव वा कर्म में होगा, तो **सार्वधातुके यक्** (३।१।६७) से यक्, **रिङ् शयग्लिङ्क्षु** (७।४।२८) से रिङ्, और **अचि श्नुधातु०** (६।४।७७) से इयङ् होकर 'क्रिया' शब्द बनेगा। अन्यत्र यक् नहीं होगा, रिङ् और इयङ् होंगे।

अ प्रत्ययात् (३।३।१०२)—अ अवि०, प्रत्ययात् ५।१॥ अनु०—स्त्रियां भावे। अर्थ—स्त्रीलिङ्ग भाव में [सन् आदि] प्रत्ययान्त धातुओं से 'अ' प्रत्यय होता है। जैसे—चिकीर्ष (सनन्त) से—चिकीर्षा, जिहीर्षा; लोलूय (यङन्त) से—लोलूया, कण्डूय (यगन्त) से—कण्डूया।

कृत्यल्युटो बहुलम् (३।३।११३)—कृत्यल्युटः १।३, बहुलम् १।१॥ अर्थ—कृत्यसंज्ञक और ल्युट् प्रत्यय बहुल करके होते हैं, अर्थात् जहां साक्षात् विधान किया है, कभी-कभी वहां नहीं भी होते। और जिस विषय में विधान नहीं किया है, वहां भी हो जाते हैं। जैसे—कृत्य प्रत्यय भाव कर्म में कहे गये हैं[1], परन्तु स्नाति अनेन स्नानीयं चूर्णम् (नहाने का पाउडर या उबटन) यहां करण कारक में अनीयर् हो गया है। "दीयते अस्मै इति दानीयो ब्राह्मणः" यहां सम्प्रदान कारक में अनीयर् होता है। इसी प्रकार ल्युट् प्रत्यय का भाव करण अधिकरण[2] में विधान किया गया है, परन्तु "राजभोजनाः शालयः" में कर्म कारक में, और 'प्रपतनम्' में अपादान में ल्युट् प्रत्यय देखा जाता है।

कृतो बहुलम् (वा० ३।३।११३)—वार्तिककार का कहना है कि **कृतो बहुलम्**=कृत् प्रत्यय बहुल करके होते हैं, ऐसा सामान्य सूत्र बना देना चाहिये, क्योंकि कृत्यसंज्ञक प्रत्ययों और ल्युट् के अतिरिक्त प्रत्यय भी जिस विषय में विधान किया है, उससे अन्यत्र देखे जाते हैं। जैसे—पादाभ्यां

---

१. द्र०—तयोरेव० पृष्ठ १३४।

२. द्र० अगले ३।३।११५ तथा ११७ सूत्र।

ह्रियते=प्रतिहारकः, यहां ण्वुल् कर्मकारक में देखा जाता है। कृत् सामान्य निर्देश करने से कृत्य और ल्युट् का भी अन्तर्भाव हो जाता है।

नपुंसके भावे क्तः (३।३।११४)—नपुंसके ७।१, भावे ७।१, क्तः १।१॥ अर्थ—नपुंसक लिंग भाव में धातु से क्त प्रत्यय होता है। जैसे—हसितम्, जल्पितम्।

ल्युट् च (३।३।११५)—ल्युट् १।१, च अ०॥ अनु०—नपुंसके भावे। अर्थ—नपुंसकलिंग भाव में धातु से ल्युट् प्रत्यय होता है। जैसे—हसनं छात्रस्य, शोभनम्, शयनम्, आसनम्।

करणाधिकरणयोश्च (३।३।११७)—करणाधिकरणयोः ७।२, च अ०॥ अनु०—ल्युट्। अर्थ—करण और अधिकरण कारक में धातु से ल्युट् प्रत्यय होता है। जैसे—करण में—इध्मम् प्रवृश्च्यतेऽनेनेति इध्मप्रव्रश्चनः पलाशशातनः। अधिकरण में—गावो दुह्यन्तेऽत्रेति गोदोहनी, सक्तुधानी। ल्युट् के टित् होने से टिड्ढाणञ० (४।१।१५) से स्त्रीलिङ्ग में ङीप्।

वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद् वा (३।३।१३१)—वर्तमानसामीप्ये ७।१, वर्तमानवत् अव्ययपद वा अ०॥ अर्थ—वर्तमान काल के समीप में होने वाला जो भूत और भविष्यत् काल, उसमें वर्तमानवत् प्रत्यय विकल्प से होते हैं। जैसे—भूत में—देवदत्त त्वं कदाऽऽगतः? अयमागच्छामि भोः, आगच्छन्तमेव मां विद्धि। भविष्यत् में—कदा गमिष्यसि देवदत्त? अयं गच्छामि, गच्छन्तमेव मां विद्धि। जब वर्तमानवत् प्रत्यय नहीं होते, तब स्वकालविहित प्रत्यय होते हैं। जैसे—अयम् आगमम्, अयं गमिष्यामि।

लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ (३।३।१३९)—लिङ्निमित्ते ७।१, लृङ् १।१, क्रियातिपत्तौ ७।१॥ अनु०—भविष्यति (३।३।१३६ से)। अर्थ—लिङ् का निमित्त वर्तमान होने पर यदि क्रिया की अतिपत्ति (=न होना या उल्टा होना) गम्यमान हो, तो भविष्यत् काल में लृङ् प्रत्यय होता है। जैसे—दक्षिणेन चेदायास्यत् न शकटं पर्याभविष्यत् (=दक्षिण दिशा से यदि आयेगा तो गाड़ी न टूटेगी। न दक्षिण से आयेगा न गाड़ी टूटने से बचेगी, यहां क्रिया की अतिपत्ति गम्यमान होती है। अभोक्ष्यद भवान् घृतेन यदि मत्समीपमागमिष्यत् (=घृत से भोजन करोगे यदि मेरे पास आओगे)।

यहां लिङ् का निमित्त हेतुहेतुमद्भाव है। दक्षिण से आना और (मार्ग के ठीक होने से) गाड़ी का न टूटना क्रमशः हेतु और हेतुमत् हैं। हेतुहेतुमद्भाव में ३।३।१५६ से लिङ् का विधान करने से

भूते च (३।३।१४०)—भूते ७।१, च अ०॥ अनु०—**लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ।** अर्थ—लिङ् का निमित्त [हेतुहेतुमद्भाव] होने पर यदि क्रिया की अतिपत्ति=असिद्धि गम्यमान हो, तो भूतकाल में भी लृङ् प्रत्यय होता है। जैसे—दृष्टो मया भवत्पुत्रोऽन्नार्थी चङ्क्रम्यमाणः, अपरश्च द्विजो ब्राह्मणार्थी। यदि स तेन दृष्टोऽभविष्यत्तर्हि अभोक्ष्यत, न तु भुक्तवान्, अन्येन पथा स गतः—अर्थात् मैंने आपके अन्नार्थी (अन्न को चाहना करने-वाले) पुत्र को घूमते हुये देखा था, और एक द्विज को देखा था जो ब्राह्मण को ढूंढ रहा था। यदि उसने आपके पुत्र को देखा होता, तो वह भोजन पा जाता, परन्तु नहीं पाया, वह अन्य मार्ग से चला गया।

हेतुहेतुमतोर्लिङ् (३।३।१५६)—हेतुहेतुमतोः ७।२, लिङ् १।१॥ हेतु नाम कारण का है, और हेतुमत् फल कहाता है। अर्थ—हेतु और हेतुमत् अर्थ गम्यमान होने पर धातु से लिङ् प्रत्यय होता है। जैसे—दक्षिणेन चेद् देवदत्तो यायात् न तं शकटं पर्याभवेत्, अर्थात् यदि देवदत्त दक्षिण मार्ग से जावे, तो गाड़ी खराब न हो। यहां दक्षिण मार्ग से जाना हेतुरूप है, और गाड़ी का खराब न होना, उसका फल है।

विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसंप्रश्नप्रार्थनेषु लिङ् (३।३।१६१)—विधि॰॰प्रार्थनेषु ७।३, लिङ् १।१॥ अर्थ—विधि=प्रेरणा वा आज्ञा देना, निमन्त्रण=नियमतः अवश्य करना, आमन्त्रण=कामचार=इच्छानुसार करना न करना, अधीष्ट=सत्कारपूर्वक कार्य में लगाना, संप्रश्न=निश्चय करना, प्रार्थन=मांगना, इन अर्थों में धातु से लिङ् लकार होता है। जैसे—विधि में—देवदत्तः कटं कुर्यात्, निमन्त्रण में—इह भवान् भुञ्जीत (अवश्य खावें), आमन्त्रण में—इह भवान् भुञ्जीत (इच्छा हो तो खावें) अधीष्ट में—अधीच्छामो भवन्तं माणवकं भवान् उपनयेत् (हमारी महती इच्छा है कि आप बालक का उपनयन करें (=आचार्य बनें), संप्रश्न में—किन्नु खलु भो व्याकरणम् अधीयीय, प्रार्थना में—भवति मे प्रार्थना व्याकरणमधीयीय।

लोट् च (३।३।१६२)—लोट् १।१, च अ०॥ अनु०—**विधि॰॰प्रार्थनेषु।** अर्थ—विधि आदि अर्थों में धातु से लोट् प्रत्यय होता है। जैसे (क्रमशः उदाहरण)—कटं भवान् करोतु, अमुत्र भवान् भुङ्क्ताम्, इह भवान् भुङ्क्ताम्, अधीच्छामो भवन्तं माणवकं भवान् उपनयतु, किन्नु खलु भो व्याकरणमध्ययै, भवति मे प्रार्थना व्याकरणमध्ययै।

प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु कृत्याश्च (३।३।१६३)—प्रैषा॰॰कालेषु ७।३,

कृत्याः १।३, च अ०। अनु०—लोट्। अर्थ—प्रैष=आज्ञा देना, अतिसर्ग=स्वतन्त्रता देना=करे या न करे, प्राप्तकाल=उचित समय की प्राप्ति, इन अर्थों में धातु से कृत्य प्रत्यय और लोट् प्रत्यय होते हैं। जैसे—कृत्य—भवता कटः करणीयः, कर्तव्यः, कार्यः; लोट्—भवान् कटं करोतु। इनका क्रमशः अर्थ होगा—आपको चटाई बुनने के काम पर लगाया है। आप चाहें तो चटाई बनावें, आपका चटाई बनाने का यह उचित समय है।

अर्हे कृत्यतृचश्च (३।३।१६९)—अर्हे ७।१, कृत्यतृचः १।३, च अ०॥ अर्थ—अर्ह=योग्य कर्ता गम्यमान हो, तो धातु से कृत्य और तृच् प्रत्यय होते हैं। जैसे—भवता वेदः पठितव्यः, पठनीयः, पाठ्यः; भवान् वेदस्य पठिता—अर्थात् आप वेद पढ़ने के योग्य अधिकारी हैं।

आशिषि लिङ्लोटौ (३।३।१७३)—आशिषि ७।१, लिङ्लोटौ १।२॥ अर्थ—आशीर्वाद अर्थ में धातु से लिङ् और लोट् प्रत्यय होते हैं। जैसे—चिरं जीव्यात् भवान्, चिरं जीवतु भवान्।

विशेष—आशीः अर्थ में होनेवाला लिङ् प्रत्यय **लिङाशिषि** (३।४।११६) से आर्धधातुकसंज्ञक होता है, यह पूर्व (पृष्ठ १३० पर) कह चुके हैं।

माङि लुङ् (३।३।१७५)—माङि ७।१, लुङ् १।१॥ अनु०—लिङ्लोटौ। अर्थ—माङ् उपपद होने पर लुङ्, लिङ् और लोट् प्रत्यय होते हैं। जैसे—लुङ्—मा कार्षीत्, लिङ्—मा प्रश्नमनृतं वदेः (विदुरनीति ३।२५); लोट्—मा तेऽसङ्गोऽस्त्वकर्मणि (गीता० २।४७)।

विशेष—माङ् के योग में लुङ् लकार में अट् आट् का आगम नहीं होता—**न माङ्योगे** (६।४।७४)।

छन्दसि लुङ्लङ्लिटः (३।४।६)—छन्दसि ७।१, लुङ्लङ्लिटः १।३॥ अनु०—अन्यतरस्याम् (३।४।३ से)। अर्थ—वेद में लुङ् लङ् लिट् प्रत्यय सामान्यरूप से विकल्प से होते हैं। जैसे—लुङ्—अहं तेभ्योऽकरं नमः; लङ्—अग्निमद्य होतारमवृणीतायं यजमानः; लिट्—स दाधार पृथिवीं द्यामुत।

विशेष—लुङ् के 'अकरम्' प्रयोग में ३।१।५९ से छन्द में 'अङ्' विकरण होता है। लङ् के 'अवृणीत' प्रयोग में 'अद्य' के प्रयोग में भी सामान्यरूप से अनद्यतन में विहित लङ् हुआ है। लिट् का 'दाधार' प्रयोग भी सामान्य काल में है। हिरण्यगर्भ=क=परमात्मा ने भूतकाल

में ही पृथिवी और द्यु को धारण किया था—मात्र अर्थ नहीं है, आज भी धारण कर रहा है, और आगे भी करेगा।

लिङर्थे लेट् (३।४।७)—लिङर्थे ७।१, लेट् १।१॥ अनु०—अन्यतरस्याम्, छन्दसि। अर्थ—लिङ के अर्थ (=विधि आदि) में छन्द में लेट् लकार विकल्प से होता है। जैसे—तारिषत्, जोषिषत् (प्रयोग-सिद्धि तिङन्त प्रकरण में देखें)।

अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा (३।४।१८)—अलंखल्वोः ७।२, प्रतिषेधयोः ७।२, प्राचाम् ६।३, क्त्वा १।१॥ अर्थ—प्रतिषेध अर्थ में वर्तमान अलम् और खलु शब्दों के उपपद होने पर प्राग्देशीय आचार्यों के मत में क्त्वा प्रत्यय होता है। जैसे—अलं रुदित्वा, खलु कृत्वा (रोने और करने से बस करो)।

समानकर्तृकयोः पूर्वकाले (३।४।२१)—समानकर्तृकयोः ७।२, पूर्वकाले ७।१॥ अनु०—क्त्वा। अर्थ—जिन धातुओं का समान कर्त्ता हो, उनमें पूर्वकाल में वर्तमान धातु से क्त्वा प्रत्यय होता है। जैसे भुक्त्वा व्रजति देवदत्तः। यहाँ भुज=खाना और व्रज=जाना क्रिया का कर्त्ता एक देवदत्त ही है। इन दो क्रियाओं में पूर्वकाल की भुज धातु से क्त्वा प्रत्यय होता है। 'जाकर खाता है' में जाना क्रिया के पूर्वकालिक होने पर 'व्रजित्वा भुङ्क्ते' प्रयोग होगा। इसी प्रकार सर्वत्र समझें।

आभीक्ष्ण्ये णमुल् च (३।४।२२)—आभीक्ष्ण्ये ७।१, णमुल् १।१, च अ०॥ अनु०—क्त्वा। अर्थ—आभीक्ष्ण्य=पुनः पुनः अर्थ में वर्तमान धातु से णमुल् और क्त्वा प्रत्यय होते हैं। जैसे—णमुल्—भोजं भोजं व्रजति; क्त्वा—भुक्त्वा भुक्त्वा व्रजति (खा खा कर जाता है)।

कर्तरि कृत् (३।४।६७)—कर्तरि ७।१, कृत् १।१॥ अर्थ—कृत् प्रत्यय कर्त्ता अर्थ में होते हैं। जैसे—कारकः, कर्त्ता, कुम्भकारः। द्र०—पूर्व पृष्ठ १३०।

लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः (३।४।६९)—लः १।३, कर्मणि ७।१, च अ०, भावे ७।१, च अ०, अकर्मकेभ्यः ५।३॥ अनु०—कर्तरि। अर्थ—ल (=लट् लिट् आदि) प्रत्यय धातु से कर्त्ता में और कर्म कारक में होते हैं, अकर्मक धातु से कर्त्ता और भाव में होते हैं। अर्थात् सकर्मक धातुओं से लः प्रत्यय कर्त्ता और कर्म में होते हैं—करोति कटं देवदत्तः,

क्रियते कटः देवदत्तेन। अकर्मक धातुओं से कर्ता और भाव में लकार[1] होते हैं। शेते देवदत्तः शय्यते देवदत्तेन।

तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः (३।४।७०)—तयोः ७।२, एव अ०, कृत्यक्तखलर्थाः १।३॥ अर्थ—भाव कर्म में ही कृत्य क्त और खल् अर्थवाले प्रत्यय होते हैं (व्याख्या पूर्व पृष्ठ १३० पर देखें)।

दाशगोघ्नौ सम्प्रदाने (३।४।७३)—दाशगोघ्नौ १।२, सम्प्रदाने ७।१॥ अर्थ—दाश और गोघ्न शब्द सम्प्रदान कारक में प्रयुक्त होते हैं। जैसे—दाशन्ते=ददति अस्मै इति दाशः (दाशृ दाने—अच् प्रत्यय), गौर्हन्यते=प्राप्यते दीयतेऽस्मै इति गोघ्नः (गो उपपद होने पर हन् धातु से टक् निपातन से होता है)।

विशेष—गोघ्न नाम उस अतिथि का है, जिसके घर पर आने पर मधुपर्क आदि से विशेषरूप से पूजा=सत्कार किया जाता है। मधुपर्क-विधि में—आसन देना, हाथ मुंह धुलाना, पैर धुलाना, मधुपर्क (=३ भाग दही, १ भाग शहद का संमिश्रण) देना, और गौ देना, इतनी विधियों का संग्रह है। मधुपर्क के अधिकारी—आचार्य, ऋत्विक्, स्नातक, जामाता, राजा और प्रिय सम्बन्धी ये ६ ही होते हैं। और इनको भी मधुपर्क न्यूनातिन्यून एक वर्ष के पश्चात् आने पर ही दिया जाता है।

इस मधुपर्क-विधि के अन्त में 'गोदान' का विधान है। कुछ ग्रन्थों में 'गौ के मारने' का भी उल्लेख मिलता है, परन्तु वह वेदविरुद्ध है। वेद में गौ को अघ्न्या=अहन्तव्या=न मारने योग्य कहा है। इतना ही नहीं, अथर्ववेद (१।१६।४) में तो—

> **यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम्।**
> **तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा॥**

गौ को मारनेवाले को सीसे की गोली से उड़ा देने का साक्षात् विधान है। हन् धातु के दो अर्थ हैं—हिंसा और गति। गति के भी ज्ञान गमन और प्राप्ति ये अवान्तर अर्थ हैं। इन अर्थों में से जहां जैसा अर्थ संबद्ध हो सकता है, वहां वही लिया जाता है। ऋग्वेद (६।७५।१४) में हस्तघ्न शब्द आता है। इसका अर्थ है—चमड़े का दस्ताना, जो हाथ का रक्षक होता है, मारक

---

१. लट्, लिट्, लुट् आदि सभी १० प्रत्ययों में से इत्संज्ञकों की निवृत्ति के पीछे केवल 'ल्' शेष रहता है। अतः इन लट् आदि प्रत्ययों का सामान्यरूप से लकार शब्द से व्यवहार होता है।

नहीं; अतः हस्तघ्न में हस्तं हन्ति-प्राप्नोति अर्थ ही लिया जाता है। इसी प्रकार जब गोघ्न अतिथि अर्थ में प्रयुक्त होगा; तब गौर्दीयतेऽस्मै अर्थ होगा, और गोघ्ने च ब्राह्मणघ्ने च (महा० अनु० १२।५१।१९) आदि में गां हन्ति मारयति अर्थ लिया जायेगा। इससे स्पष्ट है कि अतिथिवाचक गोघ्न में हन् का हिंसा अर्थ लेना अनुचित है।

भीमादयोऽपादाने (३।४।७४)—भीमादयः १।३, अपादाने ७।१॥ अर्थ—भीम आदि शब्द अपादान कारक में प्रयुक्त होते हैं, जैसे—बिभ्यत्यस्माद् इति भीमः, भीष्मः, भयानकः।

इति कृत्प्रत्यय-प्रकरणं समाप्तम्॥

नवम-प्रकरण

तद्धित-प्रत्यय

अब तद्धितसंज्ञक प्रत्ययों का संक्षेप से विधान किया जाता है—

ङ्याप्प्रातिपदिकात् (४।१।१)—अर्थ 'ङी' और 'आप्' अन्त में हैं जिनके उनसे, तथा प्रातिपदिकों से अगले प्रत्यय होते हैं (पूर्व पृष्ठ ७५ पर व्याख्यात)। यह अधिकारसूत्र है। इसका अधिकार पांचवें अध्याय के अन्त (५।४।१६०) तक जाता है।

तद्धिताः (४।१।७६)—तद्धिताः १।३॥ यह अधिकारसूत्र है। यहां से आगे जिन प्रत्ययों का विधान किया जायेगा, वे तद्धितसंज्ञक होते हैं। तद्धित संज्ञा होने से **कृत्तद्धितसमासाश्च** (१।२।४६) से प्रातिपदिक संज्ञा होती है।

तद्धित-प्रत्ययोपयोगी सामान्य सूत्र

अब हम तद्धित प्रत्ययों का विधान करने से पूर्व तद्धितप्रत्ययान्त शब्दों की रूपसिद्धि में सामान्यरूप से व्यवहार में आनेवाले कतिपय सूत्र

लिखते हैं। इन सूत्रों का कार्य समझ लेने से प्रयोग-निष्पत्ति के परिज्ञान में सरलता होगी।

वृद्धिकार्य—तद्धित प्रत्यय परे वृद्धिविषयक निम्न सूत्र हैं—

तद्धितेष्वचामादेः (७।२।११७)—तद्धितेषु ७।३, अचाम् ६।३, आदेः ६।१ ॥ अनु०—अङ्गस्य (६।४।१ से), वृद्धिः (७।२।११४ से), ञ्णिति (७।२।११५ से)। अर्थ—ञित् णित् तद्धित प्रत्यय परे रहने पर अङ्ग के अचों में जो आदि अच् उसको वृद्धि होती है। जैसे—उपगोरपत्यम्=औपगवः, आश्वपतः। यहाँ अण् को मानकर आद्यच् 'उ' को 'औ' तथा 'अ' को 'आ' वृद्धि हुई है।

किति च (७।२।११८)—किति ७।१, च अ० ॥ अनु०—अङ्गस्य वृद्धिः तद्धितेषु अचाम् आदेः। अर्थ—कित् तद्धित प्रत्यय परे रहने पर अङ्ग के आद्यच् को वृद्धि होती है। जैसे—नडस्यापत्यम्=नाडायनः। यहाँ नडादिभ्यः फक् (४।१।९९) से फक् प्रत्यय होता है।

न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच् (७।३।३)—न अ०, य्वाभ्याम् ५।२, पदान्ताभ्याम् ५।२, पूर्वौ १।२, तु अ०, ताभ्याम् ५।२, ऐच् १।१ ॥ अनु०—अङ्गस्य वृद्धिः ञ्णिति किति अचाम् आदेः। अर्थ—ञित् णित् कित् प्रत्यय परे पदान्त यकार वकार से परे वृद्धि नहीं होती, ताभ्याम्=उन पदान्त यकार वकार से पूर्व ऐच् का आगम होता है। जैसे—व्याकरणमधीते वेद वा=वैयाकरणः, स्वश्वस्यापत्यं=सौवश्वः। यहाँ वि आङ् उपसर्गपूर्वक कृ धातु से करण में ल्युट् (=अन) प्रत्यय होकर—'वि आ करण', सन्धि होकर—'व्याकरण' शब्द बनता है। यहाँ तदधीते तद्वेद (४।२।५९) से अण् प्रत्यय परे आद्यच् 'आ' को वृद्धि प्राप्त होती है। 'वि' पद का जो 'य्' है, वह पदान्त यकार है, उससे परे वृद्धि का निषेध, और य् से पूर्व ऐ का आगम—व् ऐ य् आकरण=वैयाकरणः। शोभनोऽश्वो यस्य स स्वश्वः। यहाँ सु के 'उ' के स्थान में हुआ वकार पदान्त है, उससे परे अश्व के आद्यच् को वृद्धि प्राप्त होती है, उसका निषेध और 'व्' से पूर्व 'औ' का आगम होकर=स् औ व् अश्वः=सौवश्वः।

भ-संज्ञा विषयक कार्य—अकारादि अजादि प्रत्यय परे पूर्व की भ संज्ञा का विधान यचि भम् (१।४।१८) से कर चुके हैं। भसंज्ञक अङ्ग को जो कार्य होते हैं, उनके विधायक कुछ सूत्र निम्न प्रकार हैं—

भस्य (६।४।१२९)—भस्य ६।१ ॥ अनु०—अङ्गस्य। यह अधिकार-

सूत्र है। पाद के अन्त (६।४।१७५) तक जो कार्य कहेंगे, वह भसंज्ञक अङ्ग को होगा।

ओर्गुणः (६।४।१४६)—ओः ६।१, गुणः १।१ ॥ अनु०—अङ्गस्य, भस्य, तद्धिते[1]। अर्थ—उवर्णान्त भसंज्ञक अङ्ग को तद्धित परे रहने पर गुण होता है। जैसे—उपगोरपत्यम्=औपगवः (=उपगु+अण्=औपगु अ=औपगो अ=औपगव् अ=औपगवः)।

यस्येति च (६।४।१४८)—यस्य ६।१, ईति ७।१, च अ० ॥ अनु०—अङ्गस्य भस्य तद्धिते लोपः (६।४।१४७ से)। अर्थ—भसंज्ञक इकारान्त और अकारान्त अङ्ग का लोप होता है, तद्धित और ईकार परे रहने पर। जैसे—कुमार=कुमारी, दक्षस्यापत्यम्=दाक्षिः, अत्रेरपत्यम्=आत्रेयः।

टेः (६।४।१५५)—टेः ६।१ ॥ अनु०—अङ्गस्य भस्य लोपः इष्ठेमेयःसु (६।४।१५४ से)। अर्थ—इष्ठन् इमनिच् ईयसुन् प्रत्यय परे रहने पर भसंज्ञक अङ्ग के टि भाग का लोप होता है। जैसे, पटु, पटिष्ठः, पटिमा, पटीयान्; लघु—लघिष्ठः, लघिमा, लघीयान्। इष्ठन् ईयसुन् प्रत्यय अतिशायन अर्थ में ५।३।५५,५७,५८ सूत्रों से होते हैं। और इमनिच् ५।१।१२१ से भाव में होता है।

तद्धित प्रत्ययों के आदि भाग को आदेश

आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम् (७।१।२)—आयनेयीनीयियः १।३, फढखछघाम् ६।३, प्रत्ययादीनाम् ६।३॥ अर्थ—प्रत्यय के आदि फ् ढ् ख् छ् घ् व्यञ्जनों को क्रमशः आयन्, एय्, ईन्, ईय्, इय् आदेश होते हैं। व्यञ्जनमात्र के स्थान पर हलन्त आदेश होते हैं, और 'फ' आदि व्यञ्जनों से परे जो स्वर होगा, वह आदेश के अन्त्य व्यञ्जन से जुड़ जायेगा। जैसे—फिञ्—फि=आयन् इ=आयनि। उदाहरण यथास्थान व्यवहार से समझें।

ठस्येकः (७।३।५०)—ठस्य ६।१, इकः १।१ ॥ 'ठ' प्रत्यय को इक आदेश होता है। उदाहरण यथास्थान समझें।

इसुसुक्तान्तात् कः (७।३।५१)—इसुसुक्तान्तात् ५।१, कः १।१॥ अनु०—ठस्य। अर्थ—इस् उस् उक् (उ, ऋ, लृ) जिसके अन्त में है, तथा तकारान्त से परे ठ को क् आदेश होता है। उदाहरण यथास्थान देखें।

---

१. नस्तद्धिते ६।४।१४४ से।

समर्थानां प्रथमाद्वा (४।१।८२)—समर्थानाम् ६।३, प्रथमात् ५।१; वा अव्यय ॥ अर्थ—इस सूत्र के तीनों समर्थानाम् प्रथमात् वा पदों का अधिकार ५।२।१४० (पांचवें अध्याय के दूसरे पाद के अन्त) तक जाता है।

'समर्थ' का अर्थ है परस्पर में सम्बद्ध। शब्दार्थ होगा—परस्पर सम्बद्ध पदों में से प्रथम पद से तद्धित प्रत्यय विकल्प से हो। प्रथमता लौकिक वाक्य (उपगो: अपत्यम्, अपत्यम् उपगो:) में समझी जावे या सूत्र पदों में, इसका निर्णय उस-उस सूत्र में इस सूत्र की अनुवृत्ति जाने से सूत्रगत पदों में ही प्राथम्य लिया जायेगा, लौकिक वाक्य में नहीं। यथा—तस्यापत्यम् (४।१।९२), तस्य समूहः (४।२।३६), तत्र भवः (४।३।५३), तस्मै हितम् (५।१।५) आदि सूत्रों में दो-दो पद पढ़ गये हैं, इनमें प्रथम सुबन्त पद से प्रत्यय की उत्पत्ति होगी। तदनुसार—'उपगोरपत्यम्' यहां तस्य अपत्यम् में षष्ठी समर्थ उपगु शब्द से प्रत्यय होगा, अपत्य शब्द से नहीं होगा। इसी प्रकार आगे सर्वत्र समझें।

विशेष—तद्धित प्रत्यय समर्थ प्रातिपदिक से होते हैं। सामर्थ्य सुबन्तों में होता है। अतः तद्धित प्रत्यय शुद्ध प्रातिपदिकों से न होकर उस-उस निर्दिष्ट विभक्तिवाले प्रातिपदिक से उत्पन्न होते हैं। यथा—उपगोः अपत्यम्=उपगु ङस् से अण् प्रत्यय होगा। उपगु ङस् अ इतने भाग की तद्धितान्त होने से प्रातिपदिक संज्ञा होकर सुपो धातुप्रातिपदिकयोः (२।४।७१) से मध्यवर्ती ङस् का लुक् होगा। पुनः उपगु अ वृद्धि आदि कार्य होकर 'औपगव'। पुनः प्रातिपदिक से नये स्वादि प्रत्यय आवेंगे।

प्राग्दीव्यतीय प्रत्यय

प्राग्दीव्यतोऽण् (४।१।८३)—प्राक् अ०, दीव्यतः ५।१, अण् १।१॥ अनु०—ङ्याप्प्रातिपदिकात् तद्धिताः। अर्थ—दीव्यत् शब्द से पूर्व तक अण् प्रत्यय का अधिकार है। ४।४।२ का सूत्र है—तेन दीव्यति खनति जयति जितम्। इसमें पठित 'दीव्यत्' का यहां निर्देश किया है। अण् अधिकार की सीमा का निर्देश करने के लिये 'दीव्यत्' अर्थ का आश्रयण किया है। इसलिये 'दीव्यत्' अर्थ से पूर्व जितने अपत्य रक्त आदि अर्थों का आगे निर्देश करेंगे, उनमें अण् प्रत्यय होगा। दीव्यत् अर्थ से पूर्व 'विकारावयव' अर्थ की अनुवृत्ति ४।३।१६६ तक है। अतः अण् की सीमा भी इस 'विकारावयव' अर्थ पर्यन्त है।

अश्वपत्यादिभ्यश्च (४।१।८४)—अश्वपत्यादिभ्यः ५।३, च अ०।

अनु०—प्राग्दीव्यतोऽण्, ङ्याप्प्राति० तद्धिताः। अर्थ—अश्वपत्यादि समर्थ प्रातिपदिकों से प्राग्दीव्यतीय अर्थों में अण् प्रत्यय होता है। जैसे—अश्वपतेरपत्यम् = आश्वपतम्, राष्ट्रपतम्, गार्हपतम्।

अश्वपत्यादि शब्द पत्यन्त हैं, अतः इनसे अगले (४।१।८५) सूत्र पठित पत्युत्तरपद से 'ण्य' प्रत्यय प्राप्त होता था। उसका यह अपवाद है।

दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः (४।१।८५)—दित्य० पदात् ५।१, ण्यः १।१॥ अनु०—प्राग्दीव्यतः, ङ्याप्प्राति०, तद्धिताः। अर्थ—दिति अदिति आदित्य और पति शब्द जिनके उत्तरपद में हैं, उनसे प्राग्दीव्यतीय अर्थों में 'ण्य' प्रत्यय होता है। जैसे—दितेरपत्यम् = दैत्यः; अदितेरपत्यम् = आदित्यः; आदित्यस्यापत्यम् = आदित्यः; पत्युत्तरपद—प्रजापतेरपत्यम् = प्राजापत्यम्, सेनापतेरिदं (कर्म) = सैनापत्यम्।

द्विगोर्लुगनपत्ये (४।१।८८)—द्विगोः ५।१, लुक् १।१, अनपत्ये ७।१॥ अनु०—प्राग्दीव्यतः, ङ्याप्प्राति०, तद्धिताः। अर्थ—द्विगु समास से अपत्यार्थ से भिन्न प्राग्दीव्यतीय[1] अर्थों में उत्पन्न प्रत्यय का लुक् हो जाता है। जैसे—पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः पुरोडाशः[2] = पञ्चकपालः, दशकपालः, यहां **संस्कृतं भक्षाः** (४।२।१५) से संस्कृत अर्थ की विवक्षा में पहले दोनों सप्तम्यन्त पञ्चसु कपाल में पदों का **तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च** (२।१।५०) से तद्धितार्थ विषय में समास हो जाता है। **संख्यापूर्वो द्विगुः** (२।१।५१) से इसकी द्विगु संज्ञा हो जाती है—'पञ्चसुकपालसु' इस द्विगुसंज्ञक शब्द से ४।२।१५ से अण् प्रत्यय होता है। उसका प्रकृत (४।१।८८) सूत्र से लुक् हो जाता है। प्रातिपदिक संज्ञा होकर **सुपो धातुप्रातिपदिकयोः** (२।४।७१) से सुप् प्रत्ययों का लुक् और नया सु आकर—'पञ्चकपालः' प्रयोग निष्पन्न होता है।

तस्यापत्यम् (४।१।९२)—तस्य ६।१, अपत्यम् १।१॥ अनु०—

---

१. यहां अपत्य अर्थ का उल्लेख निदर्शनमात्र के लिये है। यह प्रत्यय सभी प्राग्दीव्यतीय अर्थों में होगा।

२. पुरोडाश जौ या चावल के आटे का बाटी जैसे आकार के बने हुये हव्य पदार्थ का नाम है। कपाल मिट्टी की विभिन्न आकार की बनी हुई ठीकरियों की संज्ञा है। विभिन्न यज्ञों में विभिन्न संख्या में इन कपालों को यज्ञीय अग्नि पर रखकर उन पर पुरोडाश को धरकर पकाते हैं। यही पुरोडाश का संस्कार है। पांच कपालों पर पकाया गया पुरोडाश पञ्चकपाल कहाता है। ऐसे ही दशकपाल आदि प्रयोग समझने चाहियें।

अण् ण्य आदि प्रत्यय[1]। अर्थ—तस्य=षष्ठी समर्थ प्रातिपदिक से अपत्य=सन्तान इस अर्थ में अण् ण्य आदि यथाविहित[2] प्रत्यय होते हैं। जैसे—उपगोरपत्यम्=औपगवः, अश्वपतेरपत्यम्=आश्वपतः, प्रजापतेरपत्यं=प्राजापत्यः।

विशेष—तद्धितप्रत्ययान्तों की साधनिका इस प्रकार समझें—उपगु ङस् अण्, प्रातिपदिक संज्ञा, मध्यवर्ती सुप् का लोप—उपगु अ। णित् होने से आद्यच् को वृद्धि—औपगु अ, ओर्गुणः (६।४।१४६) से गुण—औपगो अ=औपगव, नये सुप् की उत्पत्ति=औपगवः।

अश्वपति ङस् अण्=अश्वपति अ=आश्वपति अ, यस्येति च (६।४।१४८) से इकार का लोप—आश्वपत् अ=आश्वपतः। इसी प्रकार प्राजापत्यः।

एको गोत्रे (४।१।९३)—एकः १।१, गोत्रे ७।१॥ अनु०—प्रत्ययः। अर्थ—गोत्र में एक ही प्रत्यय होता है। इसका भाव इस प्रकार समझें—

अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम् (४।१।१६२)—अपत्यम् १।१, पौत्रप्रभृति १।१, गोत्रम् १।१॥ अर्थ—पौत्र से लेकर आगे जितने भी अपत्य होते हैं, उन सब की गोत्र संज्ञा होती है। 'गर्ग का गोत्रापत्य' इस अर्थ में गर्गादिभ्यो यञ् (४।१।१०५) से यञ् होकर, 'गार्ग्य' शब्द गोत्र में बनता है। अब यदि गार्ग्य का गोत्रापत्य अर्थ कहना हो, तो पुनः प्रत्यय की प्राप्ति होगी, उसका अपत्य कहने के लिये फिर कोई प्रत्यय होगा। इस प्रकार बार-बार अपत्य अर्थ को प्रकट करने के लिये अनन्त प्रत्यय प्राप्त होते हैं। उस विषय में यह सूत्र नियम करता है कि गोत्र में एक ही प्रत्यय होता है। तदनुसार गार्ग्य का पुत्र पौत्र प्रपौत्र सभी को कहने के लिये गार्ग्य शब्द का ही प्रयोग होगा। अर्थात् नये-नये अपत्यों में नये-नये प्रत्यय नहीं होंगे।

गोत्राद् यून्यस्त्रियाम् (४।१।९४)—गोत्रात् ५।१, यूनि ७।१, अस्त्रियाम् ७।१॥ अनु—प्रत्ययः। अर्थ—गोत्रप्रत्ययान्त से युव अर्थ में प्रत्यय होता है[3], परन्तु स्त्रीलिङ्ग में नहीं होता। युव संज्ञा विधायक निम्न सूत्र हैं—

---

१. प्राग्दीव्यतीय अण् ण्य अञ् (४।१।८३, ८५, ८६), और प्राग्भवनीय नञ् स्नञ् (४।१।८७)। उत्सर्ग=सामान्य प्रत्यय सर्वत्र उपस्थित होते हैं।

२. अर्थात् जिन शब्दों से जिन प्रत्ययों का विधान किया है, वे प्रत्यय उन प्रकृतियों से होते हैं।

३. गोत्रप्रत्ययान्त से पुनः प्रत्यय नहीं होता (द्र०—४।१।९३ सूत्र)। अतः यह सूत्र बनाया है।

जीवति तु वंश्ये युवा (४।१।१६३)—जीवति ७।१, तु अ०, वंश्ये ७।१, युवा १।१॥ अनु०—**अपत्यम्, पौत्रप्रभृति**। अर्थ—वंश में होनेवाले पिता आदि के जीवित रहने पर पौत्रप्रभृति अपत्य की युव संज्ञा होती है। जैसे—गार्ग्यायणः, वात्स्यायनः। यहां गोत्रप्रत्ययान्त गार्ग्य शब्द से यञिञोश्च (४।१।१०१) से फक् प्रत्यय होता है। अनेक प्रान्तों में रीति है कि पिता के जीवित रहते पुत्र चाहे कितना ही बड़ा क्यों न हो जाये, उसे कुंवर कहा जाता है। यह कुंवर का व्यवहार संस्कृत के युव-व्यवहार मूलक ही है।

भ्रातरि च ज्यायसि (४।१।१६४)—भ्रातरि ७।१, च अ०, ज्यायसि ७।१॥ अनु०—**युवा**। अर्थ—ज्येष्ठ भ्राता के जीवित रहने पर छोटे भाई की युव संज्ञा होती है। जैसे—गार्ग्यस्य लघुभ्राता—गार्ग्यायणः, वात्स्यायनः। छोटे भाई की युव संज्ञा तभी होती है, जब वह बड़े भाई को अपने पितृस्थानीय मानकर उसकी आज्ञा में रहे। स्वतन्त्र उच्छृङ्खलित गार्ग्य ही कहलायेगा।

अत इञ् (४।१।९५)—अतः ५।१, इञ् १।१॥ अनु०—**तस्य अपत्यम्, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः**। अर्थ—षष्ठी समर्थ अकारान्त प्रातिपदिक से अपत्य अर्थ में इञ् प्रत्यय हो। यह **तस्यापत्यम्** (४।१।९२) का अपवाद है। जैसे—दशरथस्यापत्यम्=दाशरथिः रामः, कार्ष्णिः प्रद्युम्नः दाक्षिः, प्लाक्षिः।

गोत्रे कुञ्जादिभ्यश्च्फञ् (४।१।९८)—यहां से **गोत्रे** की अनुवृत्ति ४।१।१११ तक जाती है।

नडादिभ्यः फक् (४।१।९९)—नडादिभ्यः ५।३, फक् १।१॥ अनु०—तस्यापत्यम् गोत्रे। अर्थ—नडादि षष्ठी समर्थ प्रातिपदकों से गोत्र में फक् प्रत्यय होता है। कित् होने से **किति च** (७।२।११८) से आदिवृद्धि, **आयनेयी०** (७।१।२) से फक् को आयन आदेश, **यस्येति च** (६।४।१४८) से नड के अकार का लोप होकर—नडस्य गोत्रापत्यम्=नाडायनः, चारायणः शब्द बनते हैं।

यञिञोश्च (४।१।१०१)—यञिञोः ६।२ (पञ्चमी के अर्थ में), च अ०॥ अनु०—**तस्यापत्यम् फक्**। अर्थ—यञ् प्रत्ययान्त और इञ् प्रत्ययान्त षष्ठी समर्थ प्रातिपदिक से अपत्य अर्थ में फक् प्रत्यय हो जाता है। यञ् का विधान आगे **गर्गादिभ्यो यञ्** ४।१।१०५ से करेंगे। इञ् का विधान पूर्व ४।१।९५ से कर चुके। जैसे—गार्ग्यस्य अपत्यं (युवा)—गार्ग्यायणः, वात्स्यायनः। दाक्षेरपत्यम् (युवा)=दाक्षायणः, प्लाक्षायणः।

गर्गादिभ्यो यञ् (४।१।१०५)—गर्गादिभ्यः ५।३, यञ् १।१॥ अनु०—तस्यापत्यम्, गोत्रे। अर्थ—गर्गादि षष्ठी समर्थ प्रातिपदिकों से गोत्र में यञ् प्रत्यय होता है। जैसे—गर्गस्य गोत्रापत्यम्=गार्ग्यः गार्ग्यौ गर्गाः,[1] वात्स्यः वात्स्यौ वत्साः।

शिवादिभ्योऽण् (४।१।११२)—शिवादिभ्यः ५।३, अण् १।१॥ अनु०—तस्यापत्यम्। अर्थ—शिवादि शब्दों से तस्यापत्यम् अर्थ में अण् प्रत्यय होता है। जैसे—शिवस्यापत्यम्=शैवः शैवौ शैवाः। यस्कस्यापत्यम्—यास्कः यास्कौ यस्काः।

ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च (४।१।११४)—ऋष्य...कुरुभ्यः ५।३, च अ०॥ अनु०—तस्यापत्यम् अण्। अर्थ—ऋषिवाची, अन्धक वृष्णि और कुरु वंशस्थ षष्ठी समर्थ प्रातिपदिकों से अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय होता है। जैसे—ऋषिवाची—वसिष्ठस्यापत्यं=वासिष्ठः, वैश्वामित्रः, अन्धकवंशस्थ—श्वफल्कस्यापत्यं=श्वाफल्कः, रान्धसः, वृष्णिवंशस्थ—वसुदेवस्यापत्यं=वासुदेवः, आनिरुद्धः, कुरुवंशस्थ—नकुलस्यापत्यं=नाकुलः, साहदेवः।

स्त्रीभ्यो ढक् (४।१।१२०)—स्त्रीभ्यः ५।३, ढक् १।१॥ अनु०—तस्यापत्यम्। अर्थ—स्त्री-प्रत्ययान्त षष्ठी समर्थ शब्दों से अपत्य अर्थ में ढक् प्रत्यय होता है। जैसे—सुपर्ण्या अपत्यम्=सौपर्णेयः, वैनतेयः।

जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ् (४।१।१६६)—जनपदशब्दात् ५।१, क्षत्रियात् ५।१, अञ् १।१॥ अनु०—तस्यापत्यम्। अर्थ—जनपद को कहनेवाला जो क्षत्रियवाची षष्ठी समर्थ प्रातिपदिक उस से अपत्य अर्थ में अञ् प्रत्यय होता है। जो शब्द क्षत्रिय और जनपद दोनों अर्थों में समान हैं उनका यहां ग्रहण है। क्षत्रियवाची पञ्चाल आदि शब्दों से तस्य निवासः (४।२।६९) से 'उनका निवास' इस अर्थ में अण् प्रत्यय की उत्पत्ति होकर जनपदे लुप् (४।२।८०) से जनपद वाच्य होने पर लुप् हो जाता है। इस प्रकार क्षत्रिय और जनपद दोनों अर्थों के वाचक समान शब्द निष्पन्न होते हैं। उदा०—पञ्चालानाम् अपत्यम्=पाञ्चालः पाञ्चालौ पञ्चालाः, वैदेहः वैदेहौ विदेहाः।

विशेष—इस प्रकरण में उत्पन्न प्रत्यय का बहुवचन में लुक् होता है, इसका विधान प्रकरण के अन्त में किया जायेगा।

---

१. यञ् प्रत्यय और यस्कादि से उत्पन्न प्रत्यय का बहुवचन में लुक् होता है। इस का विधान अपत्याधिकार के अन्त में करेंगे।

द्व्यञ्मगधकलिङ्गसूरमसादण् (४।१।१६८)—द्व्यञ्मगध ... मसाद् ५।१, अण् १।१।। अनु०—जनपदशब्दात् क्षत्रियात्, तस्यापत्यम्। अर्थ—जनपद शब्द जो क्षत्रियवाची दो अच्वाला, मगध, कलिङ्ग, और सूरमस षष्ठी समर्थ प्रातिपदिक, उनसे अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय होता है। जैसे—द्व्यच्—अङ्गानामपत्यम् = आङ्गः, वाङ्गः, मागधः, कालिङ्गः, सौरमसः।

ते तद्राजाः (४।१।१७२)—ते १।३, तद्राजाः १।३।। अर्थ—ते = वे प्रत्यय [जो जनपदशब्दात् ४।१।१६६-१७१ तक कहे गये हैं] तद्राजसंज्ञक होते हैं। इस सूत्र से अञ् अण् [ञ्यङ् ण्य इञ्] की तद्राज संज्ञा होती है। तद्राज संज्ञा का फल—

तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम् (२।४।६२)—तद्राजस्य ६।१, बहुषु ७।३, तेन ३।१, एव अ०, अस्त्रियाम् ७।१।। अनु०—लुक् (२।४।५८) से। अर्थ—तद्राजसंज्ञक प्रत्यय का बहुवचन में लुक् होता है, तेनैव = यदि उसी तद्राजसंज्ञक प्रत्ययान्त से वहां बहुवचन आया हो, स्त्रीलिङ्ग को छोड़कर। जैसे—पाञ्चालः पाञ्चालौ पञ्चालाः, आङ्गः आङ्गौ अङ्गाः। प्रत्यय का लुक् हो जाने से प्रत्यय को प्रत्ययलक्षण मानकर होनेवाली वृद्धि का निषेध न लुमताङ्गस्य (१।१।६२) से हो जाता है।

यस्कादिभ्यो गोत्रे (२।४।६३)—यस्कादिभ्यः ५।३, गोत्रे ७।१।। अनु०—लुक् बहुषु तेनैवास्त्रियाम्। अर्थ—यस्क आदि से परे गोत्र में उत्पन्न प्रत्यय का बहुवचन में लुक् होता है, यदि गोत्रप्रत्ययान्त से ही बहुवचन प्रत्यय आया हो, स्त्रीलिङ्ग को छोड़कर। जैसे—यास्कः यास्कौ यस्काः, (द्रौह्यः द्रौह्यौ द्रुह्याः) इन दो शब्दों में शिवादिभ्योऽण् (४।१।११२) से अण् प्रत्यय होता है, उसका बहुवचन में लुक् हो जाता है।

यञञोश्च (२।४।६४)—यञञोः ६।२, च अ०।। अनु०—लुक् बहुषु तेनैवास्त्रियाम्, गोत्रे। अर्थ—गोत्र में उत्पन्न यञ् और अञ् प्रत्यय का बहुवचन में लुक् होता है, यदि यञन्त और अञन्त से ही बहुवचन प्रत्यय आया हो, स्त्रीलिङ्ग को छोड़ कर। जैसे—गार्ग्यः गार्ग्यौ गर्गाः, वात्स्यः वात्स्यौ वत्साः [यहां गर्गादिभ्यो यञ् (४।१।१०५) से गोत्र में यञ् प्रत्यय होता है। अञ्—बैदः बैदौ बिदाः, और्वः और्वौ उर्वाः। यहां अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ् (४।१।१०४) से अञ् होता है।

इति अपत्य-प्रकरणम्।।

मिश्रित प्रकरण

तेन रक्तं रागात् (४।२।१)—तेन ३।१, रक्तम् १।१, रागात् ५।१॥ अनु०—ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्राग्दीव्यतोऽण् इत्यादि। अर्थ—तेन=तृतीया समर्थ राग=रंगवाची प्रातिपदिक से 'रंगा गया' इस अर्थ में यथाविहित अण् आदि प्रत्यय होते हैं। जैसे—कषायेण रक्तं वस्त्रम्=काषायम् (मटमैले रंग से रंगा हुआ), माञ्जिष्ठम् (मजीठ में रंगा हुआ)।

नक्षत्रेण युक्तः कालः (४।२।३)—नक्षत्रेण ३।१, युक्तः १।१, कालः १।१॥ अनु०—पूर्ववत्, तेन। अर्थ—नक्षत्रवाची तृतीया समर्थ प्रातिपदिक से 'युक्त काल' अर्थ में यथाविहित अण् आदि प्रत्यय होते हैं। जैसे—पुष्य-नक्षत्रेण युक्तः कालः=पौषी[1] रात्रिः, पौषम् अहः, पौषी पौर्णमासी; कार्तिकी रात्रिः, कार्तिकम् अहः, कार्तिकी पौर्णमासी।

यद्यपि पुष्य आदि नक्षत्रों से युक्त काल सदा ही वर्तमान रहता है, तथापि यहाँ पुष्यादि नक्षत्र जब चन्द्र के अत्यधिक समीप में वर्तमान होते हैं, तभी इन शब्दों से 'युक्त काल' अर्थ में प्रत्यय उत्पन्न होता है।

लुबविशेषे (४।२।४)—लुप् १।१, अविशेषे ७।१॥ अर्थ—नक्षत्र से युक्त काल में उत्पन्न प्रत्यय का अविशेष=सामान्य अर्थ अभिप्रेत हो (रात्रि मुहूर्त दिन आदि विशेषार्थ विवक्षित न हो तो) प्रत्यय का लुप् हो जाता है। जैसे—अद्य पुष्यः, अद्य कृत्तिका।

संस्कृतं भक्षाः (४।२।१५)—संस्कृतम् १।१, भक्षाः १।३॥ अनु०—तत्र (४।२।१३ से)। अर्थ—तत्र=सप्तमी समर्थ प्रातिपदिक से संस्कृत (संस्कार किया गया) अर्थ में यथाविहित अण् आदि प्रत्यय होते हैं, यदि वह संस्कृत पदार्थ भक्ष हो। किसी पदार्थ को उन्नत श्रेष्ठ बनाना 'संस्कार' कहाता है। 'भक्ष' वह कहलाता है जो दांतों से चबा कर खाया जाये। जैसे—भ्राष्ट्रे संस्कृता अपूपाः=भ्राष्ट्रा अपूपाः; पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः पुरोडाशः=पञ्चकपालः, दशकपालः (सिद्धि देखो—पृष्ठ ४८, १५८)।

सास्मिन् पौर्णमासीति (४।२।२०)—सा १।१, अस्मिन् ७।१, पौर्णमासी १।१, इति अ०॥ अर्थ—सा=प्रथमा समर्थ प्रातिपदिक से अस्मिन्

1. पुष्य अण्, पौष्य अ, इस अवस्था में तिष्यपुष्ययोर्नक्षत्राणि (वा० ६।४।१४९) से 'य' का लोप—पौष् अ=पौषः। कृत्तिका अण्—यस्येति च (६।४।१४८) से आकार लोप—कार्त्तिकः। पुनः अणन्त होने से टिड्ढाणञ्० (४।१।१५) से ङीप्—पौषी, कार्त्तिकी।

(=इसमें) अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है, यदि वह प्रथमा समर्थ पौर्णमासी हो तो। जैसे—पौषी (पुष्य नक्षत्र से युक्त ४।२।३) पौर्णमासी अस्मिन् मासे=पौषो मासः, कार्त्तिकी पौर्णमासी अस्मिन् मासे=कार्त्तिको मासः।

सास्य देवता (४।२।२३)—सा १।१, अस्य ६।१, देवता १।१। अर्थ—सा=प्रथमा समर्थ प्रातिपदिक से अस्य=षष्ठी के अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है, यदि वह प्रथमा समर्थ शब्द देवतावाची हो तो। जैसे—इन्द्रो देवता अस्य हविषः=ऐन्द्रं हविः, अदितिर्देवताऽस्य=आदित्यम्, प्राजापत्यम् (४।१।८५, पृष्ठ १५८)।

तस्य समूहः (४।२।३६)—तस्य ६।१, समूहः १।१, अर्थ—तस्य=षष्ठी समर्थ प्रातिपदिक से समूह अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है जैसे=बकानां समूहः=बाकः, काकः।

तद् अधीते तद् वेद (४।२।५८)—तद् २।१, अधीते क्रियापद, तद् २।१, वेद क्रियापद। अर्थ—तद्=द्वितीया समर्थ प्रातिपदिक से अधीते=पढ़ता है, और तद् वेद=उसको जानता है, अर्थों में यथाविहित अण् आदि प्रत्यय होते हैं जैसे—निरुक्तमधीते वेद वा=नैरुक्तः, व्याकरणमधीते वेद वा=वैयाकरणः (सिद्धि के लिये देखो पृष्ठ १५५ पर न य्वाभ्यां० ७।३।३ सूत्र)।

प्रोक्ताल्लुक् (४।२।६३)—प्रोक्तात् ५।१, लुक् १।१। अनु०—तदधीते तद् वेद। अर्थ—प्रोक्त प्रत्ययान्त शब्द से 'उसको पढ़ता है अथवा 'उसको जानता है' अर्थ में उत्पन्न प्रत्यय का लुक् हो जाता है। (उदाहरण आगे दिये हैं)।

तेन प्रोक्तम् (४।३।१०१)—तेन ३।१, प्रोक्तम् १।१। अर्थ—तेन=तृतीया समर्थ प्रातिपदिक से प्रोक्त अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है। प्रोक्त का अर्थ है—कहा गया, उपदेश किया गया ग्रन्थ। जैसे—पाणिनिना प्रोक्तम्=पाणिनीयम्; आपिशलिना प्रोक्तम्=आपिशलम् (पाणिनीय में छः प्रत्यय और आपिशल में अण् प्रत्यय होता है)। इस प्रकार पाणिनि द्वारा प्रोक्त व्याकरण का नाम पाणिनीय हुआ।

इस पाणिनीय तथा आपिशल नाम के व्याकरण को 'अध्ययन करने वाले वा जानने वाले' इस अर्थ में पाणिनीय शब्द से जो अण् प्रत्यय प्राप्त होता है, उसका ४।२।६३ से लुक् हो जाता है—पाणिनीयमधीते वेद वा=पाणिनीयः। इसी प्रकार—आपिशलमधीते वेद वा=आपिशलः।

चातुरर्थिक प्रत्यय

तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि (४।२।६६)—तत् १।१, अस्मिन् ७।१,

अस्ति क्रिया०, इति अ०॥ देशे ७।१, तन्नाम्नि ७।१॥ अर्थः—तत्=प्रथमा समर्थ प्रातिपदिक से अस्मिन्नस्ति=इसमें है, इस अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है, तन्नाम्नि देशे=उस नाम वाला देश अर्थ यदि जाना जाये। जैसे—उदुम्बराः (=गूलर) अस्मिन् देशे सन्ति=औदुम्बरो देशः। पार्वतः।

तेन निर्वृत्तम् (४।२।६७)—तेन ३।१, निर्वृत्तम् १।१॥ अनु०—देशे तन्नाम्नि॥ अर्थः—तेन=तृतीया समर्थ प्रातिपदिक से निर्वृत्त=बनाया अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है, यदि उस नामवाला देश अर्थ जाना जाये। जैसे—कुशाम्बेन निर्वृत्ता नगरी=कौशाम्बी।

१. देश शब्द से जनपद, नगर, ग्राम, नदी, पर्वत आदि सभी का ग्रहण होता है।

तस्य निवासः (४।२।६८)—तस्य ६।१, निवासः १।१॥ अनु०—देशे तन्नाम्नि॥ अर्थः—तस्य=षष्ठी समर्थ प्रातिपदिक से निवास अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है यदि उस नामवाला देश अर्थ जाना जाये। जैसे—शिबीनां निवासो देशः=शैबः। पञ्चालानां निवासो जनपदः=पञ्चालाः, अङ्गाः, वङ्गाः। इनमें ४।२।८० से प्रत्यय का लुप् कहेंगे। विशेष उसी सूत्र पर देखें।

अदूरभवश्च (४।२।६९)—अदूरभवः १।१, च अ०॥ अनु०—देशे तन्नाम्नि तस्य॥ अर्थः—तस्य=षष्ठी समर्थ प्रातिपदिक से अदूरभव=समीप होनेवाला इस अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है, यदि उस नाम वाला देश अर्थ जाना जाये। जैसे—हिमवतोऽदूरभवं नगरं=हैमवतम्, वरणाऽस्योरदूरभवा नगरी=वाराणसी (वरणा और असी नाम की नदियों के समीप में विद्यमान नगरी)।

विशेष—तदस्मिन्नस्ति, तेन निर्वृत्तम्, तस्य निवासः, अदूरभवः ये चार अर्थ 'चतुरर्थ' कहाते हैं। इन अर्थों में होनेवाला प्रत्यय चातुरर्थिक कहाता है। यहाँ से आगे ४।२।९० तक इन चारों अर्थों की इकट्ठी अनुवृत्ति जाती है।

जनपदे लुप् (४।२।८१)—जनपदे ७।१, लुप् १।१॥ अनु०—तदस्मिन्नस्तीति...अदूरभवः॥ अर्थः—देशे तन्नाम्नि अर्थ में उत्पन्न चातुरर्थिक प्रत्यय का 'जनपद' अर्थ गम्यमान हो, तो लुप् हो जावे। जैसे—पञ्चालानां क्षत्रियाणां निवासो जनपदः=पञ्चालाः, अङ्गाः, वङ्गाः, मद्राः, कुरवः।

विशेष—यहां क्षत्रियवाची पञ्चालों के बहुत होने से 'पञ्चालानां निवासो जनपदः' ऐसा विग्रह किया जाता है। पुनः इससे उत्पन्न प्रत्यय का लुप् हो जाने पर लुबन्त जनपदवाची पञ्चाल शब्द से भी बहुवचन ही आता है। इसका विधायक सूत्र है—

लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने (१।२।५४)—लुपि ७।१, युक्तवत् अ०, व्यक्तिवचने १।२॥ अनु०—सहित०। युज्यते प्रत्ययेनेति युक्तम्=जो प्रत्यय के साथ संयुक्त हो वह युक्त=प्रकृति=प्रातिपदिक, उसके समान=युक्तवत्। व्यक्ति=लिंग, वचन=विभक्ति। अर्थ—तद्धित के लुप् होने पर व्यक्ति-वचन=लिंग-विभक्ति युक्तवत्=प्रकृति के समान हो जाते हैं। इस नियम से जनपद अर्थ में प्रत्यय का लुप् हो जाने पर पञ्चाल आदि शब्दों से नित्य बहुवचन ही होता है।

विशेषणानां चाजातेः (१।२।५५)—विशेषणानाम् ६।३, च अ०, अजातेः ६।१॥ अनु०—लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने। अर्थ—प्रत्यय के लुप् होने पर लुबर्थ के जो विशेषण उनके भी व्यक्तिवचन युक्तवत् होते हैं, जातिवाचक शब्द का प्रयोग न होने पर। जैसे—पञ्चालाः रमणीयाः बह्वन्नाः बहुक्षीरघृताः बहुमाल्यफलाः। गोदौ रमणीयौ बह्वन्नौ बहुक्षीरघृतौ। यदि जातिवाचक जनपद या ग्राम पद का प्रयोग करेंगे, तो विशेषणों के व्यक्ति वचन जातिवाचक के समान होंगे, लुबन्त के समान नहीं। जैसे—पञ्चालाः जनपदः रमणीयः बह्वन्नः....., गोदौ ग्रामः रमणीयः बह्वन्नः.....।

वरणादिभ्यश्च (४।२।८१)—वरणादिभ्यः ५।३, च अ०॥ अजनपद के लिये यह सूत्र है। अर्थ—वरणादि शब्दों से उत्पन्न चातुरर्थिक[2] प्रत्यय का लुप् होता है। जैसे—वरणानाम् अदूरभवं नगरम्=वरणाः, गोदौ वृक्षौ तयोरदूरभवो ग्रामः—गोदौ।

नद्यां मतुप् (४।२।८४)—नद्याम् ७।१, मतुप् १।१॥ अनु०—तदस्मिन्० अदूरभवः। अर्थ—नदी अर्थ जाना जाये, तो चातुरर्थिक मतुप् प्रत्यय होता है। जैसे—उदुम्बरा सन्त्यस्यां नद्याम्=उदुम्बरावती, पुष्करावती, इक्षुमती। पहले दो उदाहरणों में मतौ बह्वचोऽनजिरादीनाम् (६।३।११८) से दीर्घ हो जाता है, और मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः (८।२।९=मकारान्त, अकारान्त, म और अकार जिसकी उपधा में है, उनसे परे

१. यहां ४।२।८१ सूत्र से लुप् होता है। २. चारों अर्थों में होनेवाला।

मतुप् के 'म' को 'व' हो जाता है, यवादियों को छोड़ कर) सूत्र से म को वकार हुआ है।

कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप् (४।२।८८)—कुमुदनडवेतसेभ्यः ५।३, ड्मतुप् १।१।। अनु०—तदस्मि० अदूरभवः। अर्थ—कुमुद नड वेतस शब्दों से चातुरर्थिक ड्मतुप् प्रत्यय होता है। जैसे—कुमुद्वान्, नड्वान्, वेतस्वान्। यहाँ प्रत्यय के डित् होने से टेः (६।४।१४३) से टि का लोप होता है। म को व पूर्वसूत्र में निर्दिष्ट मादुपधायाश्च० (८।२।९) सूत्र से हो जाता है।

॥ इति चातुरर्थिक प्रत्यय ॥

शैषिक-प्रत्यय

शेषे (४।२।९१)—शेषे ७।१।। अर्थ—यह अधिकारसूत्र है। इसका अधिकार ४।३।१३१ तक है। इसका अभिप्राय यह है कि प्राग्दीव्यतीय प्रकरण में पूर्वलिखित अपत्य से लेकर चतुरर्थी पर्यन्त कहे गये अर्थों से जो शेष अर्थ हैं, उनमें आगे कहे गये प्रत्यय होते हैं। प्राग्दीव्यतीय प्रकरण में तस्य विकारः (४।३।१३२) अर्थ का भी अन्तर्भाव है, परन्तु तस्येदम् (४।३।१२०) से तस्य की अनुवृत्ति होने पर भी तस्य विकारः (४।३।१३२) में पुनः तस्य ग्रहण से जाना जाता है कि शेषाधिकार तस्येदम् (४।३।१२०-१३१) प्रकरण पर्यन्त ही है।

विशेष—शेष अर्थों में सामान्यरूप से होने वाले प्रत्ययों का निर्देश यहाँ किया है। अर्थों का और उनमें किन्हीं प्रकृतियों से होनेवाले विशिष्ट प्रत्ययों का विधान तत्र जातः (४।३।२५) से आरम्भ करेंगे।

राष्ट्रावारपाराद् घखौ (४।२।९३)—राष्ट्रावारपारात् ५।१, घखौ १।२।। अनु०—शेषे। अर्थ—राष्ट्र और अवारपार शब्दों से शेष अर्थों में यथासंख्य (=क्रमशः) 'घ' और 'ख' प्रत्यय होते हैं। आयनेयीनीयियः० (७।१।२, द्र०—पूर्व पृष्ठ १५६) से 'घ' को 'इय्' और 'ख्' को 'ईन्' आदेश होता है। जैसे—राष्ट्रे जातः—राष्ट्रियः, राष्ट्रस्य इदम्=राष्ट्रियम्, अवारपारे भवः—अवारपारीणः (रषाभ्यां० ८।४।१ से न को ण)।

विशेष—आजकल हिन्दी में 'राष्ट्रीय' शब्द का व्यवहार करते हैं, वह संस्कृत-भाषा की दृष्टि से अशुद्ध है।

ग्रामाद् यखञौ (४।२।९३)—ग्रामात् ५।१, यखञौ १।२।। अनु०—शेषे। अर्थ—ग्राम शब्द से शेष अर्थों में य और खञ् प्रत्यय होते हैं। जैसे—ग्रामे जातः=ग्राम्यः, ग्रामीणः।

अव्ययात् त्यप् (४।२।१०३) — अव्ययात् ५।१, त्यप् १।१॥ अनु०— शेषे। अर्थ—अव्ययसंज्ञक प्रातिपदिकों से शेष अर्थों में त्यप् प्रत्यय होता है। जैसे—यत्रत्यः, तत्रत्यः, इहत्यः, अमात्यः।

वृद्धाच्छः (४।२।११३) — वृद्धात् ५।१, छः १।१॥ अनु०— शेषे। अर्थ—वृद्धसंज्ञक प्रातिपदिकों से शेष अर्थों में छ प्रत्यय होता है। 'छ' को आयनेयी० (७।१।२) से ईय् आदेश हो जाता है (द्र०-पृष्ठ १५६) जैसे—

वृद्ध-संज्ञा—वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम् (१।१।७२; प्रथम भाग पृष्ठ ८७) सूत्र द्वारा 'जिस शब्द के अचों में पहला अच् वृद्धिसंज्ञक होता है, उसकी वृद्ध संज्ञा' होती है। जैसे—औपगवः कापटवः कारकः। इसी प्रकार त्यदादीनि च (१।१।७३) सूत्र से (सर्वादिगण के अन्तर्गत पढ़े हुये) त्यदादि (त्यद् तद् यद् एतद् इदम् अदस् एक द्वि युष्मद् अस्मद् भवतु किम्) शब्दों की भी वृद्ध संज्ञा होती है। वृद्ध संज्ञा होकर—औपगवस्य अयम् = औपगवीयः, तस्य इदं = तदीयम्, युष्माकम् इदम् = युष्मदीयम्, अस्मदीयम्।

भवतष्ठक्छसौ (४।२।११४) — भवतः ५।१, ठक्छसौ १।२॥ अनु०— शेषे वृद्धात्। अर्थ—वृद्धसंज्ञक भवत् प्रातिपदिक से शेष अर्थों में ठक् और छस् प्रत्यय होते हैं। ठ को इसुसुक्तान्तात् कः (७।३।५१, द्र०—पूर्वपृष्ठ १५६) से क आदेश होता है, और किस् होने से किति च (७।२।११८) से आदि वृद्धि होती है। छस् के 'छ' को पूर्ववत् 'ईय्' होता है। जैसे—भवतः अयम् = भावत्कः, भवदीयः। छ को ईयादेश हो जाने पर प्रत्यय के अजादि हो जाने से यचि भम् (१।४।१८) से प्राप्त होनेवाली भ संज्ञा को सिति च (१।४।१६—सित् प्रत्यय परे रहने पर पूर्व को पद संज्ञा होती है) से बाध कर पद संज्ञा हो जाती है। पद संज्ञा होने से भवत् के त् को झलां जशोऽन्ते (८।२।३९) से दकार हो जाता है।

मध्यान्मः (४।३।८) — मध्यात् ५।१, मः १।१॥ अनु०—शेषे। अर्थ—मध्य प्रातिपदिक से शेष अर्थों में म प्रत्यय होता है। जैसे—मध्ये जातः = मध्यमः।

आदेश्चेति वक्तव्यम् (वा० ४।३।८)। अर्थ—आदि शब्द से भी शेष अर्थों में म प्रत्यय कहना चाहिये। जैसे—आदौ जातः = आदिमः।[1]

१. बाइबल और कुरान में प्रसिद्ध आदम भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध आदिम विद्वान् ब्रह्मा है। लोकभाषा में प्रसिद्ध आदमी शब्द शुद्ध संस्कृत शब्द है। यह आङ् पूर्वक दम् धातु से (३।२।१४३ से) घिनुण् प्रत्यय होकर बनता है। अतः आदमी का मूल अर्थ है—इन्द्रिय-जयी। जो इन्द्रियजयी नहीं वह पशु है।

कालाट्ठञ् (४।३।११)—कालात् ५।१, ठञ् १।१॥ अनु०—शेषे। अर्थ—कालवाची प्रातिपदिकों से शेष अर्थों में ठञ् प्रत्यय होता है। जैसे—मासे भवः=मासिकः, सांवत्सरिकः।

जो शब्द साहचर्य आदि निमित्तों से कालवाचक बन जाते हैं, उनसे भी यह प्रत्यय होता है। जैसे—कदम्ब के पुष्प जिस काल में आते हैं, वह काल 'कदम्बपुष्प' कहाता है। अतः कदम्बपुष्पे भवः=कादम्बपुष्पिकः। काल का अधिकार ४।३।२४ तक है।

सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण् (४।३।१६)—सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्यः ५।३, अण् १।१॥ अनु०—शेषे, कालात्। अर्थ—सन्धिवेलादि गण में पठित प्रातिपदिकों, ऋतुवाची और नक्षत्रवाची प्रातिपदिकों से शेष अर्थों में अण् प्रत्यय होता है। जैसे—सन्धिवेलायाम् भवः=सान्धिवेलः, ऋतुवाची—ग्रीष्मे भवः=ग्रैष्मः, शैशिरः, नक्षत्रवाची—तिष्ये भवः=तैषः, पौषः।[1]

वर्षाभ्यष्ठक् (४।३।१८)—वर्षाभ्यः ५।३, ठक् १।१॥ अनु०—शेषे, कालात्। अर्थ—वर्षा शब्द से शेष अर्थों में ठक् प्रत्यय होता है। जैसे—वर्षासु भवः=वार्षिकः वासः (चातुर्मास्य नाम से प्रसिद्ध निवास), वार्षिकम् अनुलेपनम्। यह ४।३।१६ से ऋतुवाचक से होनेवाले अण् का अपवाद है।

छन्दसि ठञ् (४।३।१९)—छन्दसि ७।१, ठञ् १।१॥ अनु०—शेषे, कालात्, वर्षाभ्यः। अर्थ—वर्षा शब्द से छन्द में शेष अर्थों में ठञ् प्रत्यय होता है। वर्षासु भवः=वार्षिकः।

विशेष—ठक् और ठञ् में केवल स्वर का ही भेद होता है। ठक्—वार्षिकः, ठञ्—वार्षिकः।

वसन्ताच्च (४।३।२०)—वसन्तात् ५।१, च अ०॥ अनु०—शेषे, कालात्, छन्दसि, ठञ्। अर्थ—वसन्त शब्द से छन्द में शेष अर्थों में ठञ् प्रत्यय होता है। जैसे—वसन्ते भवः=वासन्तिकः। ४।३।१६ से प्राप्त अण् का अपवाद है।

हेमन्ताच्च (४।३।२१)—हेमन्तात् ५।१, च अ०॥ अनु०—शेषे, कालात्, ठञ्। अर्थ—हेमन्त शब्द से छन्द में शेष अर्थों में ठञ् प्रत्यय होता है। जैसे—हेमन्ते भवः=हैमन्तिकः। ४।३।१६ से प्राप्त अण् का अपवाद है।

विशेष—वेद में वसन्त आदि ऋतुओं के दो-दो मासों के नाम इस प्रकार लिखे हैं—

१. तैषः पौषः की सिद्धि के लिये देखो पूर्व पृष्ठ १६३ पर टि० १।

मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू। यजुः १३।२५॥
शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मावृतू। यजुः १४।६॥
नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृतू। यजुः १४।१५॥
इषश्चोर्जश्च शारदावृतू। यजुः १४।१६॥
सहश्च सहस्यश्च हैमन्तिकावृतू। यजुः १४।२७॥
तपश्च तपस्यश्च शैशिरावृतू। यजुः १५।५७॥

मधु, माधव=वसन्त; शुक्र, शुचि=ग्रीष्म; नभः, नभस्य=वर्षा; इष, ऊर्ज=शिशिर; और सह, सहस्य=हेमन्त ऋतुओं के मासों के नाम हैं।

सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च (४।३।२३)—सायं० अव्ययेभ्यः ५।३, ट्युट्युलौ १।२, तुट् १।१, च अ०॥ अनु०—शेषे, कालात्। अर्थः—सायं चिरं प्राह्णे प्रगे और अव्ययवाची शब्दों से शेष अर्थों में ट्यु और ट्युल् प्रत्यय होते हैं और उनको तुट् का आगम होता है। जैसे—सायं भवम्—सायं ट्यु=सायं यु=सायं अन=सायं तुट् अन=सायं त् अन=सायंतनं कार्यम्, चिरंतनम्, प्राह्णेतनम्, प्रगेतनम्, अव्यय से—दोषातनम्, दिवातनम्।

विशेष—सायंम् चिरम् के मकार को मोऽनुस्वारः (८।३।२३) सूत्र से अनुस्वार हो जाने पर वा पदान्तस्य (८।४।५८; द्र० भाग १, पृष्ठ १६६) से विकल्प से तकार का परसवर्ण नकार होता है—सायंतनम्; सायन्तनम्। प्राह्ण और प्रग शब्द को एकारान्त निपातन किया है इसी सूत्र में। ट्यु और ट्युल् में केवल स्वरभेद होता है। ट्यु—सायंतनम् (आद्युदात्तश्च ३।१।३ से प्रत्यय को आद्युदात्त होता है); ट्युल्—सायंतनम् (लित् होने से लिति ६।१।१८७ से प्रत्यय से पूर्व को उदात्त, द्र० पृष्ठ १२३)। प्रत्ययों के टित् होने से स्त्रीलिंग में टिड्ढाणञ्० (४।१।१५) से ङीप् होता है—सायन्तनी, चिरंतनी आदि।

विभाषा पूर्वाह्णापराह्णाभ्याम् (४।३।२४) विभाषा १।१, पूर्वाह्णापराह्णाभ्याम् ५।२॥ अनु०—शेषे, ट्युट्युलौ तुट् च। अर्थः—पूर्वाह्ण और अपराह्ण शब्द से शेष अर्थों में विकल्प से ट्यु ट्युल् प्रत्यय और तुट् का आगम होता है। जब ट्यु ट्युल् नहीं होते, तब कालाट्ठञ् (४।३।११) से ठञ् होता है। जैसे—पूर्वाह्णे भवम्=पूर्वाह्णेतनम्, पौर्वाह्णिकम्; अपराह्णेतनम्, आपराह्णिकम्। ट्यु ट्युल् प्रत्यय परे

१. स्वादिष्वसर्वनामस्थाने (१।४।१७) से पद संज्ञा।

प्रातिपदिक संज्ञा होकर सप्तमी विभक्ति को सुपो धातुप्रातिपदिकयोः (२।४।७१) से जो लुक् पाता है, उसको घकालतनेषु कालनाम्नः (६।३।१६) [अनु०—अलुक्, सप्तम्याः] से तन परे रहने पर प्रतिषेध हो जाता है।

शैषार्थ-प्रकरण

तत्र जातः (४।३।२५)—तत्र अ०। जातः १।१॥ अनु०—प्राग्दीव्यतोऽण् आदि की। अर्थ—तत्र=सप्तमी समर्थ प्रातिपदिक से 'जातः' अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होते हैं। 'यथाविहित' से अभिप्राय यहां पूर्व निर्दिष्ट प्राग्दीव्यतीय अण् अञ् ण्य आदि तथा शेषाधिकार में विहित प्रत्ययों से है, अर्थात् इनसे यथाप्राप्त प्रत्यय होते हैं। इसी प्रकार अगले प्रकरणों में भी जानना चाहिये। जैसे—मथुरायां जातः=माथुरः, राष्ट्रे जातः=राष्ट्रियः, ग्राम्यः, ग्रामीणः, मासिकः, सान्ध्यवेलः, सायन्तनः। अगले उत्सर्ग सूत्रों में भी इसी प्रकार उदाहरण समझें।

प्रायभवः (४।३।३९)—प्रायभवः १।१॥ अनु०—तत्र। 'प्रायेण भवतीति प्रायभवः=अधिकतर होनेवाला। अर्थ—तत्र=सप्तमी समर्थ प्रातिपदिक से 'प्रायः करके होनेवाला' अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होते हैं। जैसे—मथुरायां प्रायेण भवति=माथुरः, राष्ट्रियः, ग्राम्यः, ग्रामीणः।

संभूते (४।३।४१)—संभूते ७।१॥ अनु०—तत्र। संभूते=संभवने=संभव होना अर्थ अभिप्रेत है, सत्ता या उत्पत्ति नहीं। क्योंकि सत्ता के लिये तत्र भवः (४।३।५३), और उत्पत्ति अर्थ के लिये तत्र जातः (४।३।२५) पृथक् सूत्र पढ़े हैं। अर्थ—सप्तमी समर्थ प्रातिपदिक से 'संभव होनेवाला' अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है। जैसे—स्रुघ्ने सम्भवति=स्रौघ्नः, ग्राम्यः, ग्रामीणः।

कोशाड्ढञ् (४।३।४२)—कोशात् ५।१; ढञ् १।१॥ अनु०—तत्र सम्भूते। अर्थ—कोश शब्द से 'सम्भूत' अर्थ में ढञ् प्रत्यय होता है। 'कोश' शब्द से यहां रेशम का 'कोवा' (खोल, जिसे रेशम का कीड़ा बनाता है) ही लिया जाता है। अन्यार्थ के वाचक का ग्रहण नहीं होता। जैसे—कोशे सम्भूतम्=कौशेयं वस्त्रम्। ढ् को एय् आदेश ७।१।२ से होता है।

तत्र भवः (४।३।५३)—तत्र अ०; भवः १।१॥ अर्थ—तत्र=सप्तमी समर्थ प्रातिपदिक से भव (=वर्तमान होना) अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होते हैं। जैसे—मथुरायां भवः=माथुरः, राष्ट्रियः, ग्राम्यः, ग्रामीणः। यहां भव से सत्ता (=वर्तमान होना) ही अर्थ लिया जाता है। उत्पत्ति अर्थ के लिये तत्र जातः (४।३।२५) पूर्व सूत्रान्तर पढ़ा है।

दिगादिभ्यो यत् (४।३।५४)—दिगादिभ्यः ५।३, यत् १।१॥ अनु०—तत्र भवः। अर्थ—दिगादि सप्तमी समर्थ प्रातिपदिकों से भव अर्थ में यत् प्रत्यय होता है। जैसे—दिशि भवम्=दिश्यम्, वर्ग्यम्, मुख्यम्, रहस्यम्, आद्यम्, अन्त्यम्। यहां मुख्य शब्द, प्रधानार्थवाचक मुख शब्द से बना है। शरीरावयववाची 'मुख शब्द से मुखे भवम्=मुख्यम्' अगले सूत्र से बनेगा।

शरीरावयवाच्च (४।३।५५)—शरीरावयवात् ५।१, च अ०॥ अनु०—तत्र भवः यत्। अर्थ—शरीर के अवयववाची सप्तमी समर्थ प्रातिपदिकों से भव अर्थ में यत् प्रत्यय होता है। जैसे—दन्तेषु भवम्=दन्त्यम्, ओष्ठयो भवम्=ओष्ठ्यम्, कण्ठ्यम्।

तस्य व्याख्यान इति च व्याख्यातव्यनाम्नः (४।३।६६)—तस्य ६।१, व्याख्यानः १।१, इति अ०, च अ०, व्याख्यातव्यनाम्नः ५।१॥ अनु०—तत्र भवः। अर्थ—तस्य=षष्ठी समर्थ व्याख्यातव्य (=व्याख्यान के योग्य) ग्रन्थवाची प्रातिपदिक से, व्याख्यान अर्थ में, और सप्तमी समर्थ से भव अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है। जैसे—सुपां व्याख्यानो ग्रन्थः=सौपः, तैङः, कार्तः; सुप्सु भवम्=सौपम्, तैङम्, कार्तम्। संहितायाः[1] व्याख्यानो ग्रन्थः=सांहितः; संहितायां भवम्=सांहितम्।

बह्वचोऽन्तोदात्ताट्ठञ् (४।३।६७)—बह्वचः ५।१, अन्तोदात्तात् ५।१, ठञ् १।१॥ अनु०—तस्य व्या० नाम्नः, तत्र भवः। अर्थ—षष्ठी समर्थ बह्वच् अन्तोदात्त प्रातिपदिक से व्याख्यान अर्थ में, और सप्तमी समर्थ से भव अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है। जैसे—षत्वं च णत्वं च षत्वणत्वे, षत्वणत्वयोर्व्याख्यानो ग्रन्थः=षात्वणत्विकः, नतं च अनतं च नतानते, तयोर्व्याख्यानो ग्रन्थः=नातानतिकः, (नत=अनुदात्त, अनत=उदात्त)। इन उदाहरणों से वह ग्रन्थ कहा जाता है, जिसमें षत्व णत्व तथा नत अनत (उदात्तानुदात्त) का व्याख्यान किया गया हो। इसी प्रकार भवार्थ में—षात्वणत्विकं सूत्रम्, नातानतिकं सूत्रम्।

द्व्यज्‌ऋद्ब्राह्मणर्क्प्रथमाध्वरपुरश्चरणनामाख्याताट्ठक् (४।३।७२) द्व्यज्... नामाख्यातात् ५।१, ठक् १।१॥ अनु०—तस्य व्या... नाम्नः, तत्र भवः। अर्थ—षष्ठी समर्थ द्व्यच् (दो अचोंवाले), ऋकारान्त, ब्राह्मण, ऋक्, प्रथम, अध्वर, पुरश्चरण, नाम, आख्यात शब्दों से व्याख्यान अर्थ में, और सप्तमी समर्थों से भव अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। जैसे—इष्टेः

[1] संहिता शब्द गतिरनन्तरः (६।२।४९) से आद्युदात्त है। अन्तोदात्त बह्वच् से ४।३।६७ से ठञ् कहेंगे; और दो अचोंवालों से ४।३।७२ से ठक्।

व्याख्यानो ग्रन्थः=ऐष्टिकः, पाशुकः; ऋकारान्त-चतुर्होतॄणां व्याख्यानो ग्रन्थः =चातुर्होतृकः, पाञ्चहोतृकः, ब्राह्मण-ब्राह्मणिकः; ऋचां व्याख्यानो ग्रन्थः =आर्चिकः, प्रथम—प्राथमिकः, अध्वर—आध्वरिकः, पुरश्चरण—पौरश्चरणिकः, नाम—नामिकः, आख्यात—आख्यातिकः। नामाख्यात समुदाय से—नामाख्यातिकः। इसी प्रकार भवार्थ में उदाहरण होंगे।

शिक्षा से शैक्षः, स्वर से सौवरः, यहां द्वयच् होने से ठक् की प्राप्ति में ४।३।७३ से अण् होता है।

ततः आगतः (४।३।७४)—ततः ५।१, आगतः १।१॥ अर्थ—ततः= पञ्चमी समर्थ प्रातिपदिक से आगत (=आया हुआ) अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है। जैसे—मथुराया आगताः=माथुराः कायस्थाः, कान्यकुब्जाद् आगताः=कान्यकुब्जाः, गौडात् (देशात्) आगताः=गौडाः।

ठगायस्थानेभ्यः (४।३।७५)—ठक् १।१, आयस्थानेभ्यः ५।३॥ अनु०—ततः आगतः। अर्थ—पञ्चमी समर्थ आयस्थान (जहां से आमदनी हो) वाचक शब्दों से आगतः अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। जैसे—शुल्कशालाया आगतः=शौल्कशालिकः करः (=चुंगी का धन), आकराद् आगतः=आकरिकः करः (=खानों से प्राप्त होनेवाला कर)।

प्रभवति (४।३।८३)—प्रभवति क्रियापद॥ अनु०—ततः। अर्थ—पञ्चमी समर्थ प्रातिपदिक से 'प्रभवति' (=उत्पन्न होता है) अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है। 'प्रभवति' का अर्थ है—प्रकाशित होना, प्रथमतः प्रकट होना। जैसे—हिमवतः प्रभवति=हैमवती गङ्गा। दरदः (दरद् नामक प्रदेश से) प्रभवति=दारदी सिन्धुः।

तद् गच्छति पथिदूतयोः (४।३।८५)—तद् २।१, गच्छति क्रिया०, पथिदूतयोः ७।२॥ अर्थ—द्वितीया समर्थ प्रातिपदिक से 'गच्छति' (जाता है) अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है, यदि वह जानेवाला मार्ग[2] वा दूत हो तो। जैसे—स्रुघ्नं गच्छति पन्थाः दूतो वा=स्रौघ्नः, काश्मीरः।

अभिनिष्क्रामति द्वारम् (४।३।८६)—अभिनिष्क्रामति क्रियापद, द्वारम् १।१॥ अनु०—तद्। अर्थ—द्वितीया समर्थ प्रातिपदिक से 'अभि-

---

१. यहां इसुसुक्तान्तात् कः (७।३।५१) से ठ को क होता है।

२. यद्यपि जानेवाले चेतन प्राणी होते हैं, तथापि 'अचेतनेषु चेतनवदुपचारः' नियम से मार्ग में भी गति क्रिया की उपपत्ति समझनी चाहिये। अथवा मञ्चाः क्रोशन्ति के समान तात्स्थ्य उपाधि से 'मार्ग पर चलनेवाले' अर्थ समझना चाहिये।

निष्क्रामति' (=सामने की ओर निकलता है) अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है, यदि वह अभिनिष्क्रमण करने वाला द्वार[1] हो। जैसे—मथुरामभिनिष्क्रामति द्वारम्=माथुरम्, स्रौघ्नम्। जिस नगर वा देशविशेष की ओर निकलने का साधन जो द्वार होता है वह उस नाम से कहा जाता है। जैसे—आगरा दरवाजा, दिल्ली दरवाजा, कश्मीरी दरवाजा।

अधिकृत्य कृते ग्रन्थे (४।३।८७)—अधिकृत्य अ०, कृते ७।१, ग्रन्थे ७।१॥ अनु०—तद्। अर्थ—द्वितीया समर्थ प्रातिपदिक से 'अधिकृत्य' (प्रस्तुत करके) कृत ग्रन्थ अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है। जैसे—सुभद्रामधिकृत्य कृतो ग्रन्थः=सौभद्रः। भरतान् अधिकृत्य कृतो ग्रन्थः=भारतः[2]।

सोऽस्य निवासः (४।३।८९)—सः १।१, अस्य ६।१, निवासः १।१॥ अर्थ—सः=प्रथमा समर्थ प्रातिपदिक से 'इसका निवास' अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है। जैसे—मथुरा निवासोऽस्य=माथुरः, स्रौघ्नः, ग्राम्यः, ग्रामीणः।

अभिजनश्च (४।३।९०)—अभिजनः १।१, च अ०॥ अनु०—सः, अस्य। अर्थ—प्रथमा समर्थ प्रातिपदिक से 'इसका अभिजन' अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है। जैसे—मथुराऽभिजनोऽस्य=माथुरः, स्रौघ्नः, ग्राम्यः, ग्रामीणः।

---

१. यद्यपि निष्क्रमण क्रिया प्राणियों में ही सम्भव है अचेतन द्वार में नहीं, तथापि यहां 'अचेतनेषु चेतनवदुपचारः' नियम से द्वार में भी निष्क्रामति क्रिया की उपपत्ति समझनी चाहिये। अथवा अभिनिष्क्रामति क्रिया में द्वार करण है। करण में भी स्वातन्त्र्य की विवक्षा होने से जैसे 'साधु असिश्छिनत्ति' प्रयोग होता है, वैसे ही यहां 'द्वारम् अभिनिष्क्रामति' समझना चाहिये।

२. भारत और महाभारत ये दो स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं। भरत नाम के क्षत्रियों को प्रस्तुत करके जो ग्रन्थ लिखा गया, वह भारत ग्रन्थ है। इसमें २४००० श्लोक थे। जिस ग्रन्थ में भरत कुल के आख्यान के अतिरिक्त विषय वर्णित किया गया, वह महाभारत कहाता है। इसमें १००००० एक लाख श्लोक माने जाते हैं। इस समय एक महाभारत ग्रन्थ ही उपलब्ध है। भारत ग्रन्थ को इसी के अन्तर्गत समझना चाहिये। महाभारत शब्द का साक्षात् निर्देश पाणिनि ने ६।२।३८ में किया है। गृह्यसूत्रों में भी महाभारत का उल्लेख मिलता है। अतः पाश्चात्य विद्वानों का यह कहना कि महाभारत की रचना विक्रम की चौथी शती में हुई मिथ्या प्रलापमात्र है।

निवास-अभिजन में भेद—जहां वर्तमान काल में रहते हैं, वह निवास कहाता है। और जहां पूर्व पुरुष रहते रहे, वह (पूर्वजों का देश) अभिजन कहाता है।

तेन प्रोक्तम् (४।३।१०१)—तेन ३।१, प्रोक्तम् १।१॥ अर्थ—तेन= तृतीया समर्थ प्रातिपदिक से 'प्रोक्त' अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है। प्रोक्त का अर्थ है—अन्य द्वारा किये ग्रन्थ को विशेषरूप से कहना= पढ़ाना=उपदेश करना। इसका भाव यह है कि पूर्वतः वर्तमान शास्त्रों का नये रूप में, परिष्कृतरूप में कथन करना। जैसे—पाणिनिना प्रोक्तम्= पाणिनीयम् अष्टकम्, आपिशलम्, काशकृत्स्नम्।

प्रोक्त प्रत्ययान्त, ग्रन्थवाची, पाणिनीय शब्द से तदधीते तद्वेद (४।२। ५९) से उत्पन्न प्रत्यय का प्रोक्ताल्लुक् (४।२।६३) से लुक् हो जाता है। इसलिये पाणिनीय का अर्थ पाणिनि द्वारा प्रोक्त ग्रन्थ, और उसको पढ़ने वाले दोनों होते हैं। द्र०—पूर्व पृष्ठ १६४।

उपज्ञाते (४।३।११५)—उपज्ञाते ७।१॥ अनु०—तेन॥ अर्थ— तृतीया समर्थ प्रातिपदिक से 'उपज्ञात' अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है। जैसे—पाणिनिना उपज्ञातम्=पाणिनीयमकालकं व्याकरणम्, आपिशलं गुरुलाघवम्।

उपज्ञात का अभिप्राय है—विना किसी की सहायता से अपनी बुद्धि से जिसको जाना हो। तदनुसार उदाहरणों का अर्थ होगा—काल का अधिकार=विशेष परिभाषा का निर्देश विना किये भी व्याकरण का प्रवचन किया जा सकता है। ऐसा प्रथमतः आचार्य पाणिनि को ज्ञात हुआ। अतः पाणिनि से उपज्ञात व्याकरण का नाम है—पाणिनीयम् अकालकं व्याकरणम्। इसी प्रकार सूत्ररचना में गुरुता लघुता पर आपिशलि ने प्रथमतः विचार किया। अतः उसके लिये प्रयोग हुआ—आपिशलं गुरुलाघवम्।

कृते ग्रन्थे (४।३।११६)—कृते ७।१, ग्रन्थे ७।१॥ अनु०—तेन॥ अर्थ—तृतीया समर्थ प्रातिपदिक से 'कृत' अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है, यदि वह कृत ग्रन्थ हो तो। जैसे—वररुचिना कृताः श्लोकाः=वाररुचाः, तित्तिरिणा कृताः श्लोकाः=तैत्तिराः।

विशेष—पाणिनि के समय जितना भी संस्कृत वाङ्मय विद्यमान था[१],

१. आचार्य पाणिनि के समय विद्यमान विपुल संस्कृत वाङ्मय के परिचय के लिये—'आचार्य पाणिनि के समय विद्यमान संस्कृत वाङ्मय' पुस्तिका (मूल्य १-००)

उसे पाणिनि ने ५ भागों में बांटा है—दृष्ट, प्रोक्त, उपज्ञात, कृत, व्याख्यान। इनका परस्पर भेद इस प्रकार समझना चाहिये—

दृष्ट—जिनकी आनुपूर्वी किसी व्यक्ति विशेष की न हो, ऐसे अपौरुषेय ग्रन्थ। जिनका समय-समय पर ऋषियों ने दर्शन किया, 'दृष्ट' के अन्तर्गत आते हैं। जैसे—साम और मन्त्र।

प्रोक्त—जिन ग्रन्थों की अधिकतर आनुपूर्वी अपनी न हो, पूर्वतः विद्यमान ग्रन्थ में ही न्यूनाधिक परिष्कार या संस्कार करके शिष्यों को पढ़ाया हो, वह प्रोक्त कहाता है। इसके अन्तर्गत समस्त वैदिक शाखाएं, ब्राह्मण, आरण्यक उपनिषद् तथा समस्त शास्त्रीय मूल ग्रन्थ आते हैं।

उपज्ञात—पूर्वतः विद्यमान ग्रन्थ में परिष्कर्त्ता का जितना अंश स्व-प्रज्ञा-प्रसूत (=स्वोपज्ञ) होता है, उतना अंश 'उपज्ञात' कहाता है। जैसे—पाणिनीय शास्त्र में अकालकत्व=काल-परिभाषाओं का बहिष्कार रूप अंश।

कृत—जिन ग्रन्थों की सम्पूर्ण शब्दानुपूर्वी ग्रन्थकार की अपनी हो। इसमें काव्य इतिहास रामायण महाभारत आदि ग्रन्थों का समावेश होता है।

व्याख्यान—किसी मूल ग्रन्थ के स्पष्टीकरण के लिये जो ग्रन्थ लिखे गये, वे 'व्याख्यान' ग्रन्थ कहाते हैं। जैसे—वार्तिक, महाभाष्य, वृत्ति ग्रन्थ आदि।

तस्येदम् (४।३।१२०)—तस्य ६।१, इदम् १।१॥ **अर्थ**—तस्य=षष्ठी समर्थ प्रातिपदिक से 'इदम्' अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है। जैसे—उपगोरिदम्=औपगवम्, आश्वपतम्, प्राजापत्यम्, राष्ट्रियम्, ग्राम्यम्, ग्रामीणम्। 'तस्य' सम्बन्ध-सामान्य में षष्ठी है।

॥ इति शैषिक-प्रकरण ॥

तस्य विकारः (४।३।१३२)—तस्य ६।१, विकारः १।१॥ **अर्थ**—षष्ठी समर्थ प्रातिपदिक से विकार अर्थ में यथाविहित[1] प्रत्यय होता है। जैसे—भस्मनो विकारः=भास्मनः[2], मृत्तिकाया विकारः=मार्त्तिकः।

देखनी चाहिये। प्राप्ति स्थान—रा० ला० क० ट्रस्ट बहालगढ़-सोनीपत।

१. शेषाधिकार की निवृत्ति हो जाने से यथाविहित शब्द से यहां प्राग्दीव्यतीय अण् आदि प्रत्यय गृहीत होते हैं।

२. नस्तद्धिते (६।४।१४४) से प्राप्त टिलोप का प्रतिषेध अन् (६।४।१६७) से होता है।

यद्यपि विकार और अवयव (४।३।१३४ में निर्दिष्ट) भी तस्येदम् के अन्तर्गत ही आ जाते हैं, पुनरपि इनमें शैषिक प्रत्ययों की निवृत्ति के लिये अलग अधिकार तथा तस्य का पुनः परिग्रहण किया है। इससे आम्राणां मालानां वा विकारोऽवयवो वा इस अर्थ में वृद्धाच्छः (४।२।११३) से शैषिक छ प्रत्यय नहीं होता।

अवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः (४।३।१३५)—अवयवे ७।१, च अ०, प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः ५।३॥ अनु०—तस्य विकारः। अर्थ—षष्ठी समर्थ प्राणिवाची, ओषधिवाची और वृक्षवाची प्रातिपदिकों से अवयव, और चकार से विकार अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है। जैसे—प्राणी से—कपोतस्य विकारोऽवयवो वा=कापोतः[1], मायूरः; ओषधि से—मूर्वाया विकारोऽवयवो वा=मौर्वं भस्म, मौर्वं काण्डम्; वृक्षवाचियों से—कारीरं काण्डम् (करीर=कैर, डेले का पेड़)।

प्राणिरजतादिभ्योऽञ् (४।३।१५४)—प्राणिरजतादिभ्यः ५।३, अञ् १।१॥ अनु०—तस्य विकारः, अवयवे च प्राण्यो०। अर्थ—षष्ठी समर्थ प्राणिवाची और रजतादि प्रातिपदिकों से विकार और अवयव अर्थ में अञ् प्रत्यय होता है। जैसे—कपोतस्य विकारोऽवयवो वा=कापोतः, मायूरः, तैत्तिरः, रजतादि से—रजतस्य विकारः=राजतम्, सैसम्।

फले लुक् (४।३।१६३)—फले ७।१, लुक् १।१॥ अनु०—विकारे अवयवे च। अर्थ—विकार और अवयव अर्थ में उत्पन्न प्रत्यय का फल अर्थ में लुक् होता है। जैसे—आमलक्याः फलम्=आमलकम्, बदर्याः—बदरम्, आम्राणाम्—आम्रम्।

इति प्राग्दीव्यतीय प्रकरण॥

प्राग्वहतीय प्रकरण

प्राग्वहतेष्ठक् (४।४।१)—प्राक् अ०, वहतेः ५।१, ठक् १।१॥ अर्थ—वहति शब्द (तद् वहति० ४।४।७६) से पूर्व तक ठक् प्रत्यय का अधिकार है। 'ठ' को ठस्येकः (७।३।५०) से इक आदेश, और इस् उस् उक् (उ ऋ लृ) और तकार जिनके अन्त में हो, उन से परे इसुसुक्तान्तात्कः (७।३।५१) से 'ठ' को 'क' आदेश होता है। यह सर्वत्र ध्यान में रखें।

तेन दीव्यति खनति जयति जितम् (४।४।२)—तेन ३।१, दीव्यति

१. उत्तर-सूत्र (४।३।१५४) से अञ्।

खनति जयति क्रियापद, जितम् १।१ ॥ अनु०—**ठक्** । अर्थ—तेन=तृतीया समर्थ प्रातिपदिक से दीव्यति (=जुआ खेलता है), खनति (=खोदता है), जयति (=जीतता है) और जित (=जीता) अर्थों में ठक् प्रत्यय होता है। जैसे—अक्षैर्दीव्यति=आक्षिकः, शालाकिकः, खनित्रेण खनति=खानित्रिकः, कौद्दालिकः; अक्षेर्जयति=आक्षिकः, सैनिकः; अक्षैर्जितम्=आक्षिकम्, सैनिकम् ।

संस्कृतम् (४।४।३)—संस्कृतम् १।१ ॥ अनु०—**तेन ठक्** ॥ अर्थ—तृतीया समर्थ प्रातिपदिक से संस्कृतम् (=संस्कार किया हुआ) अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। दध्ना संस्कृतम्=दाधिकम्[1], शाङ्गवेरिकम्[2], मारीचिकम्।

तरति (४।४।५)—तरति क्रियापद ॥ अनु०—**तेन ठक्** । अर्थ—तृतीया समर्थ प्रातिपदिक से 'तरति' (=तैरता है) अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। जैसे—उडुपेन (छोटी नाव) तरति=औडुपिकः, काण्डप्लवेन (बांस या सरकण्ड का बना बेड़ा) तरति=काण्डप्लविकः ।

नौद्व्यचष्ठन् (४।४।७)—नौद्व्यचः ५।१, ठन् १।१ ॥ अनु०—**तेन तरति** । अर्थ—तृतीया समर्थ नौ और दो अच्वाले प्रातिपदिकों से 'तरति' अर्थ में ठन् प्रत्यय होता है। जैसे—नावा तरति=नाविकः, घटेन तरति=घटिकः, प्लविकः, बाहुकः[3] ।

चरति (४।४।८)—चरति क्रियापद ॥ अनु०—**तेन ठक्** । अर्थ—तृतीया समर्थ प्रातिपदिक से 'चरति' (=खाता है वा गति करता है) अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। **चर गतिभक्षणयोः** धातु है। इसके गति और भक्षण अर्थ हैं। दोनों का यथायोग्य सम्बन्ध जानना चाहिये। जैसे—दध्ना चरति (भक्षयति)=दाधिकः, अश्वेन चरति (गच्छति)=आश्विकः, हास्तिकः, शाकटिकः ।

वेतनादिभ्यो जीवति (४।४।१२)—वेतनादिभ्यः ५।३, जीवति क्रियापद ॥ अनु०—**तेन ठक्** । अर्थ—तृतीया समर्थ वेतनादि प्रातिपदिकों से 'जीवति' (=जीता है) अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। जैसे-वेतनेन जीवति=वैतनिकः कर्मकरः, धनुषा जीवति=धानुष्कः (७।३।५१ से 'क' आदेश)।

हरत्युत्सङ्गादिभ्यः (४।४।१५)—हरति क्रियापद, उत्सङ्गादिभ्यः ५।३ ॥ अनु०—**तेन ठक्** । अर्थ—तृतीया समर्थ उत्सङ्गादि प्रातिपदिकों से

---

१. 'ठ' को इक, दधि के इकार का लोप—६।४।१४८ से ।

२. शृङ्गवेर=अदरक ।

३. सूत्र ७।३।५१ से 'ठ' को 'क' ।

'हरति' (=उठाता या ले जाता है) अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। जैसे—उत्सङ्गेन (गोद से) हरति=औत्सङ्गिकः (गोद में उठाकर ले जानेवाला), औडुपिकः।

निर्वृत्तेऽक्षद्यूतादिभ्यः (४।४।१९) —निर्वृत्ते ७।१, अक्षद्यूतादिभ्यः ५।३॥ अनु०—तेन। अर्थ—तृतीया समर्थ अक्षद्यूतादि० शब्दों से निर्वृत्त (=बना=उत्पन्न हुआ) अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। जैसे—अक्षद्यूतेन निर्वृत्तम्=आक्षद्यूतिकं वैरं, जानुप्रहृतिकम्।

क्त्रेर्मम् नित्यम् (४।४।२०) —क्त्रेः ५।१, मप् १।१, नित्यम् १।१॥ अनु०—तेन निर्वृत्ते। अर्थ—क्त्रि-प्रत्ययान्त से निर्वृत्त अर्थ में नित्य मप् प्रत्यय होता है। जैसे—कृत्रिमम्, उप्त्रिमम्। द्र०—ड्वितः क्त्रिः (३।३।८८) सूत्र, पृष्ठ १४६।

संसृष्टे (४।४।२२)—संसृष्टे ७।१॥ अनु०—तेन। अर्थ—तृतीया समर्थ प्रातिपदिक से 'संसृष्ट' (=मिला हुआ) अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। जैसे—दध्ना संसृष्टम्=दाधिकम्, मारीचिकम्।

लवणाल्लुक् (४।४।२४)—लवणात् ५।१, लुक् १।१॥ अनु०—तेन संसृष्टे। अर्थ—तृतीया समर्थ लवण प्रातिपदिक से संसृष्ट अर्थ में उत्पन्न प्रत्यय का लुक् होता है। जैसे—लवणेन संसृष्टः=लवणः सूपः, लवणं शाकम्, लवणा यवागू।

मुद्गादण् (४।४।२५)—मुद्गात् ५।१, अण् १।१॥ अनु०—तेन संसृष्टे। अर्थ—तृतीया समर्थ मुद्ग प्रातिपदिक से संसृष्ट अर्थ में अण् प्रत्यय होता है। जैसे—मुद्गेन संसृष्टः=मौद्ग ओदनः, मौद्गी यवागू।

ओजःसहोऽम्भसा वर्तते (४।४।२७)—ओजःसहोम्भसा ३।१, वर्तते क्रियापद॥ अनु०—तेन। अर्थ—तृतीया समर्थ ओजस्, सहस्, अम्भस् प्रातिपदिकों से 'वर्तते' (=व्यवहार करता है) अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। जैसे—ओजसा (बलेन) वर्तते=ओजसिकः शूरः, साहसिकश्चौरः, आम्भसिको मत्स्यः।

उञ्छति (४।४।३२)—उञ्छति क्रियापद॥ अनु०—तत् २।१ (४।४।२८ से)। अर्थ—तत्=द्वितीया समर्थ प्रातिपदिक से 'उञ्छति' (बीनता है=चुनता है=एक-एक करके उठाता है) अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। जैसे—बदराण्युञ्छति=बादरिकः, कणानुञ्छति=काणिकः।

रक्षति (४।४।३३)—रक्षति क्रियापद॥ अनु०—तत्। अर्थ—द्वितीया

समर्थ प्रातिपदिक से 'रक्षति' (=रक्षा करता है) अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। जैसे—समाजं रक्षति=सामाजिकः पुरुषः, सन्निवेशं रक्षति=सान्निवेशिकः (पहरेदार)।

पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति (४।४।३५)—पक्षिमत्स्यमृगान् २।३, हन्ति क्रियापद ॥ अनु०—तत्। अर्थ—द्वितीया समर्थ पक्षी मत्स्य मृग प्रातिपदिकों से हन्ति (=मारता है, प्राप्त करता है[1]=पकड़ता है) अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। इस सूत्र में पक्षी मत्स्य मृग शब्दों के पर्यायवाची और विशेषवाची शब्दों का भी ग्रहण इष्ट है। जैसे—पक्षी—पाक्षिकः, शाकुनिकः, मायूरिकः, तैत्तिरिकः, मत्स्य—मात्स्यिकः, मैनिकः, शाफरिकः, शाकुलिकः, मृग—मार्गिकः, हारिणिकः, सारङ्गिकः, सौकरिकः। इन सभी उदाहरणों में पहला उदाहरण सूत्र-पठित शब्द का है, दूसरा पर्यायवाची शब्द का और तीसरा चौथा विशेषवाची का।

धर्मं चरति (४।४।४१)—धर्मम् २।१, चरति क्रियापद ॥ अनु०—तत्। अर्थ—द्वितीया समर्थ धर्म शब्द से 'चरति' (=आचरण करता है)[2] अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। जैसे—धर्मं चरति=धार्मिकः।

वा०—अधर्माच्चेति वक्तव्यम्। अर्थ—द्वितीया समर्थ अधर्म शब्द से भी 'चरति' अर्थ में ठक् प्रत्यय कह देना चाहिये। जैसे—अधर्मं चरति=आधर्मिकः।

समवायान् समवैति (४।४।४३)—समवायान् २।३, समवैति क्रिया० ॥ अनु०—तत्। अर्थ—द्वितीया समर्थ समवाय=समूहवाची प्रातिपदिकों से 'समवैति' (=इकट्ठा होता है) अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। जैसे—समवायान् समवैति (=मेले को प्राप्त होता है, मेलें में जाता है)=सामवायिकः, सामाजिकः।

तदस्य पण्यम् (४।४।५१)—तत् १।१, अस्य ६।१, पण्यम् १।१॥ अर्थ—तत्=प्रथमा समर्थ प्रातिपदिक से 'अस्य' (=इसका) अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है, यदि वह प्रथमा समर्थ पण्य=बेचने योग्य हो। जैसे—अपूपाः पण्यम् अस्य (भटरे=कुलचे बेचने योग्य हैं इसके)=आपूपिकः, शाष्कुलिकः (शष्कुली=पूरी), मौदकिकः।

शिल्पम् (४।४।५५)—शिल्पम् १।१॥ अनु०—तत् अस्य। अर्थ—

१. हन हिंसागत्योः। गतेस्त्रयोऽर्थाः—ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्च।

२. पूर्व सूत्र ४।४।८ में चरति का अर्थ—गति और भक्षण है। द्वितीया समर्थ विभक्ति होने से 'आचरण' अर्थ ही सम्भव है।

प्रथमा समर्थ प्रातिपदिक से 'अस्य' अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है, यदि प्रथमा समर्थ शिल्प (= कौशल) हो। जैसे—मृदङ्गवादनं शिल्पमस्य (मृदङ्ग बजाना इसका कौशल = विशेषता है) = मार्दङ्गिकः, पाणविकः, वैणिकः। यहां मृदङ्गवादन अर्थ में वर्तमान मृदङ्ग शब्द, पणववादन में पणव, वेणु-वादन में वेणु शब्द से प्रत्यय की उत्पत्ति होती है।

प्रहरणम् (४।४।५७)—प्रहरणम् १।१॥ अनु०—**तत् अस्य**। प्रह्रियतेऽनेनेति प्रहरणम्—प्रहार का साधन। अर्थ—प्रथमा समर्थ प्रातिपदिक से 'अस्य' इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है, यदि प्रथमा समर्थ प्रहरण (= मारने का साधन) हो। जैसे—असिः प्रहरणमस्य = आसिकः, धानुष्कः, चाक्रिकः।

शक्तियष्टयोरीकक् (४।४।५९)—शक्तियष्टयोः ६।२, ईकक् १।१॥ अनु०—**तत् अस्य प्रहरणम्**। अर्थ—प्रथमा समर्थ शक्ति और यष्टि शब्द से 'अस्य प्रहरणम्' (= इसका प्रहार-साधन) अर्थ में ईकक् प्रत्यय होता है। जैसे—शक्तिः प्रहरणम् अस्य = शाक्तीकः, याष्टीकः।

अस्तिनास्तिदिष्टं मतिः (४।४।६०)—अस्तिनास्तिदिष्टम् १।१, मतिः १।१॥ अनु०—**तत अस्य**। अर्थ—प्रथमा समर्थ अस्ति नास्ति और दिष्ट शब्द से 'अस्य' अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है, यदि प्रथमा समर्थ मति (= ज्ञान) हो तो। अस्ति यह अस्त्यर्थक अव्यय है, नास्ति भी अव्यय है, अतः प्रथमा समर्थ का सम्बन्ध केवल दिष्ट के साथ समझना चाहिये। दिष्ट का अर्थ है—भाग्य। जैसे—अस्ति मतिरस्य = आस्तिकः, नास्ति मतिरस्य = नास्तिकः, दिष्टं मतिरस्य = दैष्टिकः।

विशेष—सूत्रकार ने **अस्ति नास्ति** के साथ किसी ऐसे विशेष पद का प्रयोग नहीं किया, जिससे जाना जा सके कि किस विषय की अस्ति नास्ति मति होने से 'आस्तिक', 'नास्तिक' शब्दों का व्यवहार होता है। कुछ आचार्य ईश्वर का सम्बन्ध करते हैं। वे ईश्वर की सत्ता माननेवालों को **'आस्तिक'**, और उसे न माननेवालों को **'नास्तिक'** कहते हैं। इस अर्थ के अनुसार ईश्वर की सत्ता को न माननेवाले बौद्ध और जैन नास्तिक कहे जाते हैं। मनुस्मृति (२।११) में **'नास्तिको वेदनिन्दकः'** वचन द्वारा वेद-प्रामाण्य को मानने और न माननेवाले आस्तिक तथा नास्तिक पद के वाच्य होते हैं। अन्य आचार्य परलोक = परजन्म के अस्तित्व नास्तित्व का सम्बन्ध जोड़कर परलोक स्वीकार करनेवाले बौद्ध और जैन मत को भी 'आस्तिक' मतों के अन्तर्गत स्वीकार करते हैं। इस दृष्टि से पुराने चार्वाक लोकायत और नवीन भौतिकमतानुयायी 'नास्तिक' कहे जाते हैं।

'विष्ट' शब्द से पूर्वकृत कर्मों का ग्रहण माना गया है। अतः दैष्टिक का अर्थ है—भाग्यवादी। विष्टचा त्वां पश्यामि आदि वाक्यों में विष्टि पद का भी यही अर्थ है। दिष्ट और दिष्टि दोनों में भावार्थक प्रत्ययमात्र (=क्त, क्तिन) का भेद है।

शीलम् (४।४।६१)—शीलम् १।१॥ अनु०—तदस्य। अर्थ—प्रथमा समर्थ प्रातिपदिक से 'अस्य' इस अर्थ में प्रत्यय होता है, यदि प्रथमा समर्थ शील (=स्वभाव) हो। जैसे—मोदकभक्षणं शीलमस्य=मौदकिकः, शाष्कुलिकः। यहां भक्षण क्रिया और उसका विशेषण 'शील' तद्धितार्थ के अन्तर्भूत हो जाता है, अतः उनका पृथक् प्रयोग नहीं होता।

छत्रादिभ्यो णः (४।४।६२)—छत्रादिभ्यः ५।३, णः १।१॥ अनु०—**तदस्य शीलम्**। अर्थ—प्रथमा समर्थ छत्रादि शब्दों से 'अस्य शीलम्' (=इसका स्वभाव) में ण प्रत्यय होता है। जैसे—छत्रं शीलमस्य=छात्रः चुरा शीलमस्य=चौरः। छत्र शब्द उणादि ४।१५६ से छादि ण्यन्त धातु से कर्ता और कर्म में ष्ट्रन् प्रत्यय और **इस्मन्त्रन्०** (६।४।९७) से ह्रस्व होकर बनता है। कर्तृवाचक 'छत्र' छतरी का वाचक है और कर्मवाचक आच्छाद्यमान का वाचक होता है। यहां कर्मवाच्य **छाद्यत इति छत्रम्** लिया जाता है। अतः जिसका गुरु आदि की छत्रछाया में आच्छादित रहने का स्वभाव है, वह 'छात्र' कहाता है। और जो उद्दण्ड हो वह निन्दार्थक गुरु पद वाच्य होता है। जैसे—कहो गुरु!

प्राग्घितीय प्रकरण

प्राग्घिताद्यत् (४।४।७५)—प्राक् अ०, हितात् ५।१, यत् १।१॥ अर्थ—हित शब्द (**तस्मै हितम्** ५।१।५) से पूर्व जितने अर्थ कहेंगे, उनमें यत् प्रत्यय होता है। यह अधिकारसूत्र है। हितार्थ में छ प्रत्यय का **प्राक् क्रीताच्छः** (५।१।१) सूत्र से विधान हो जाने से यत् प्रत्यय का अधिकार ४।४।१४४ तक समझना चाहिये।

तद् वहति रथयुगप्रासङ्गम् (४।४।७६)—तत् २।१, वहति क्रिया०, रथयुगप्रासङ्गम् २।१॥ अनु०—यत्। अर्थ—तत् द्वितीया समर्थ रथ युग प्रासङ्ग शब्दों से 'वहति' (=ढोता है) अर्थ में यत् प्रत्यय होता है। जैसे—रथं वहति=रथ्योऽश्वः, युगं वहति=युग्यो गौः, प्रासङ्गं वहति=प्रासङ्ग्यो गौः। युग=गाड़ी का जुआ, जिसमें बैल जुड़ते हैं। प्रासङ्ग=गाड़ी के बगल-बगल के दोनों जुवे। जो बैल दाहिने बायें दोनों जुवों में लग सकता है,

वह 'प्रासङ्ग्य' कहाता है। अधिकतर बैल गाड़ी के [illegible] जायें एक जुए में ही चलने के अभ्यस्त होते हैं।

धनगणं लब्धा (४।४।८४)—धनगणम् २।१, लब्धा १।१। अनु०—यत्। अर्थ—द्वितीया समर्थ धन और गण प्रातिपदिक से 'लब्धा' (=प्राप्त करनेवाला) अर्थ में यत् प्रत्यय होता है। जैसे—धनं लब्धा=धन्यः (धन शब्द उपलक्षण है कठिनाई से प्राप्त होनेवाले पदार्थ का) भाग्यशाली, गणं लब्धा=गण्यः (गण शब्द में कर्म में घञ्—गण्यत इति गणः) प्रमुख (गिनती करने योग्य)।

धर्मपथ्यर्थन्यायाद् अनपेते (४।४।९२)—धर्म...न्यायात् ५।१, अनपेते ७।१।। अनु०—यत्। अर्थ—पञ्चमी समर्थ धर्म पथिन् अर्थ न्याय प्रातिपदिकों से 'अनपेत' (=दूर न हुआ, अर्थात् युक्त) अर्थ में यत् प्रत्यय होता है। जैसे—धर्मादनपेतम्=धर्म्यम् (धर्मानुकूल); पथः अनपेतम्=पथ्यम् (उचित); अर्थादनपेतम्=अर्थ्यम् (सार्थक); न्यायादनपेतम्=न्याय्यम् (युक्त)। **पथ्य**—पथिन् से यत् प्रत्यय परे रहने पर **यचि भम्** (१।४।१८) से भ संज्ञा होकर **नस्तद्धिते** (६।४।१४४, अनु०—**अंगस्य भस्य टेः लोपः**; अर्थ—तद्धित परे रहने पर नकारान्त भ संज्ञक अङ्ग की टि भाग का लोप हो जाता है) से 'इन्' भाग का लोप होकर बनता है।

तत्र साधुः (४।४।९८)—तत्र अ०; साधुः १।१।। अनु०—यत्। अर्थ—तत्र=सप्तमी समर्थ प्रातिपदिक से 'साधु' (=प्रवीण) अर्थ में यत् प्रत्यय होता है। जैसे—कर्मणि साधुः=कर्मण्यः, सामसु साधुः=सामन्यः। यहां यत् परे भ संज्ञा होने पर **अल्लोपोऽनः** (६।४।१३४) से अन् के अकार का लोप प्राप्त होता था, उसका **ये चाभावकर्मणोः** (६।४।१६८, भाव और कर्म से भिन्न अर्थवाले 'य' प्रत्यय के परे अन् प्रकृतिभाव से रहता है। अर्थात् जो लोपादि कार्य कहा है, वह नहीं होता) से निषेध हो जाता है।

सभाया यः (४।४।१०५)—सभायाः ५।१, यः १।१।। अनु०—**तत्र साधुः**। अर्थ—सप्तमी समर्थ सभा शब्द से साधु अर्थ में य प्रत्यय होता है। जैसे—सभायां साधुः=सभ्यः।

समानतीर्थे वासी (४।४।१०७)—समानतीर्थे ७।१, वासी १।१।। अनु०—**यत् तत्र**। अर्थ—सप्तमी समर्थ समानतीर्थ शब्द से 'तत्र वासी' (=वहां रहनेवाला) अर्थ में यत् प्रत्यय हो जाता है। जैसे—समानतीर्थे वसति=सतीर्थ्यः। यहां 'तीर्थ' शब्द गुरु का वाचक है। एक गुरु से पढ़ने-

वाले छात्र परस्पर 'सतीर्थ्य' कहाते हैं। समान शब्द को तीर्थे ये (६।३।८६; अनु०—सः समानस्य; अर्थ—य प्रत्यय परे है जिस के, ऐसे तीर्थ शब्द के परे रहने पर 'समान' शब्द को 'स' आदेश हो जाता है) से स आदेश होता है।

इति प्राग्घितीय प्रकरण ॥

तद्धित-प्रत्यय पूर्वार्ध समाप्त ॥

दशम-प्रकरण

तद्धित-प्रत्यय [उत्तरार्ध]

प्राक्क्रीतीय-प्रत्यय

प्राक्क्रीताच्छः (५।१।१)—प्राक् अ०, क्रीतात् ५।१, छः १।१॥ अर्थ—क्रीत शब्द (तेन क्रीतम् ५।१।३६) से पूर्व तक छ प्रत्यय का अधिकार है। यहां 'क्रीत' अर्थ का निर्देश करने से क्रीतार्थ से पूर्व तदस्य तदस्मिन् स्यादिति (५।१।१६, १७) अर्थ पर्यन्त छ का अधिकार जानना चाहिये। ५।१।१८ से नया अधिकार आरम्भ होता है।

उगवादिभ्यो यत् (५।१।२)—उगवादिभ्यः ५।३, यत् १।१॥ अनु०—प्राक्क्रीतात्। अर्थ—क्रीत शब्द तक जितने अर्थ कहेंगे, उनमें उकारान्त और गवादि प्रातिपदिकों से यत् प्रत्यय होगा। जैसे—शङ्कवे हितम्=शङ्कव्यं दारु (कीला बनाने के लिये हितकारी लकड़ी), पिचव्यः कार्पासः (पिचु=रूई के लिये हितकारी कर्पास), गवे हितम्=गव्यम् घासादिकम्, हविष्यम् अन्नम्।

तस्मै हितम् (५।१।५)—तस्मै ४।१, हितम् १।१॥ अनु०—छः यत्। अर्थ—तस्मै=चतुर्थी समर्थ प्रातिपदिक से 'हितम्' (=हितकारी) अर्थ में यथाविहित (छ और यत्) प्रत्यय होते हैं। जैसे—वत्सेभ्यो हितः=वत्सीयः गोधुक् (बछड़ों के लिये हितकारी गाय को दुहनेवाला, जो बछड़ों के लिये उचित दूध छोड़ देता है)। घटेभ्यो हिता मृत्=घटीया मृत्। शङ्कव्यं दारु, पिचव्यः कार्पासः, गव्यम्, हविष्यम्।

शरीरावयवाद् यत् (५।१।६) शरीरावयवात्, ५।१, यत्, १।१॥ अनु०—**तस्मै हितम्**। अर्थ—चतुर्थी समर्थ शरीरावयववाची प्रातिपदिकों से हित अर्थ में यत् प्रत्यय होता है। जैसे—कण्ठाय हितम् = कण्ठ्यम्, दन्त्यम्, नाभ्यम्।

तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ (५।१।१२)—तदर्थम् १।१, विकृतेः ५।१, प्रकृतौ ७।१॥ अनु०—**छः यत् तस्मै**। अर्थ—चतुर्थ्यन्त विकृतिवाची प्रातिपदिक से प्रकृति अर्थ में यथाविहित (छ यत्) प्रत्यय होते हैं, यदि वह प्रकृति उस विकृति के लिये ही हो। प्रकृति नाम उपादान कारण का है, जिससे कोई वस्तु बनाई जाती है। 'विकृति' उत्पद्यमान वस्तु कहाती है। जैसे—अङ्गारेभ्य इमानि काष्ठानि = अङ्गारीयाणि काष्ठानि, पिचव्यः कार्पासः, शङ्कव्यम् दारु, हविष्यम् अन्नम्। यहां क्रमशः अङ्गार विकृति है, काष्ठ प्रकृति। पिचु = रुई कृति है, कपास प्रकृति। शङ्कु (कीला) विकृति है, दारु प्रकृति। हविः विकृति है, अन्न प्रकृति।

प्राग्वतेष्ठञ् (५।१।१८)—प्राक् अ०, वतेः ५।१, ठञ् १।१॥ यह अधिकारसूत्र है। अर्थ—वति (५।१।११४) शब्द से पूर्व तक ठञ् प्रत्यय होता है, यह जानना चाहिये।

आर्हादगोपुच्छसंख्यापरिमाणाट्ठक् (५।१।१९)—आ अ०, अर्हात् ५।१, अगोपुच्छसंख्यापरिमाणात् ५।१, ठक् १।१॥ यह भी अधिकारसूत्र है। अर्थ—अर्ह (५।१।६२) अर्थ के प्रकरण तक ठक् प्रत्यय होता है (गोपुच्छ, संख्यावाची शब्द और परिमाणवाची[1] शब्दों को छोड़कर)।

विशेष—(१) यहां आ अभिविधि अर्थ में है। इसलिये **अर्हति** अर्थ में भी ठक् होता है।

(२) 'अर्हति' अर्थ पर्यन्त ठञ् और ठक् का इकट्ठा अधिकार है। इनका विषय-विभाग इस प्रकार जानना चाहिये।

'अर्हति' अर्थ पर्यन्त **गोपुच्छ, संख्यावाची, और परिमाणवाची** शब्दों

---

१. ऊर्ध्वमान—तराजू से तोल। उन्मान—जैसे तोला माशा। आयाम—लम्बाई का नाप, प्रमाण—बिलांत हाथ आदि, लम्बाई चौड़ाई की सब ओर से नाप परिमाण कहाता है। प्रस्थ आढक आदि। यहां प्रस्थ आदि के बाट अभिप्रेत नहीं हैं, अपितु पूर्वकाल में धान आदि के नापने के लिये बर्तन होते थे, उन का ग्रहण है। उनमें पूरी तरह भरा हुआ अनाज सब ओर से नप जाता था।

से ठञ् होगा (५।१।१९ में ठक् का निषेध होने से), और अन्य शब्दों से ठक्। ठक् ठञ् में स्वर का ही भेद है।

शताच्च ठन्यतावशते (५।१।२१)—शतात् ५।१, ठन्यतौ १।२, अशते ७।१॥ अनु०—**आर्हात्**। अर्थ—शत प्रातिपदिक से आर्हीय अर्थों में ठन् यत् प्रत्यय होते हैं, यदि शत अभिधेय न हो तो। जैसे—शतेन क्रीतम्=शत्यम्, शतिकं दुकूलम् (सौ रुपयों से खरीदा गया दुशाला)।

संख्याया अतिशदन्तायाः कन् (५।१।२२)—संख्यायाः ५।१, अतिशदन्तायाः ५।१, कन् १।१॥ अनु०—**आर्हात्**। अर्थ—ति अन्तवाली और शत् अन्तवाली संख्या को छोड़कर अन्य संख्यावाची प्रातिपदिकों से कन् प्रत्यय होता है। जैसे—पञ्चभिः क्रीतः=पञ्चकः, दशकः, एकादशकः। ति—षष्टिः, सप्ततिः; शत्—चत्वारिंशत्, पञ्चाशत् आदि से ठञ् प्रत्यय होगा (५।१।१९ में **असंगोपुच्छसंख्या** कहने से)।

तेन क्रीतम् (५।१।३६)—तेन ३।१, क्रीतम् १।१॥ अनु०—**ठञ्, ठक्, ठन्, यत्, कन्** आदि प्रत्यय। अर्थ—तेन=तृतीया समर्थ प्रातिपदिक से क्रीतम् (=खरीदा गया) अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होते हैं।[1] जैसे—पादेन क्रीतम्=पादिकम्[2], माषिकम् (ठञ्); शतेन क्रीतम्=शत्यम्, शतिकम्; द्वाभ्यां क्रीतम्=द्विकम्, त्रिकम्।

तस्येश्वरः (५।१।४१)—तस्य ६।१, ईश्वरः १।१॥ अनु०—**सर्वभूमिपृथिवीभ्याम् अणञौ**। अर्थ—तस्य=षष्ठीसमर्थ सर्वभूमि और पृथिवी शब्द से ईश्वर (=स्वामी) अर्थ में यथासंख्य[3] अण् अञ् प्रत्यय होते हैं। जैसे—सर्वभूमेरीश्वरः=सार्वभौमः, पृथिव्या ईश्वरः=पार्थिवः। अण् अञ् में स्वर का भेद है।

तदस्मिन् वृद्ध्यायलाभशुल्कोपदा दीयते (५।१।४६)—तत् १।१, अस्मिन् ७।१, वृद्ध्याय...प्रदाः १।३, दीयते क्रिया०॥ अर्थ—तत्=प्रथमा समर्थ प्रातिपदिक से अस्मिन्=सप्तम्यर्थ में यथाविहित प्रत्यय होते हैं, यदि प्रथमा समर्थ वृद्धि, आय, लाभ, शुल्क, उपदा हो। वृद्धि=बढ़ना, आय=आमदनी, लाभ=लागत से अधिक प्राप्त होनेवाला द्रव्य, शुल्क=

१. यहां क्रीत अर्थ निदर्शनमात्र के लिये है। अन्य आर्हीय अर्थों में भी इसी प्रकार प्रत्यय होंगे।

२. पाद=पाव, माष=मापा परिमाणवाची शब्द हैं।

३. द्र०—प्रथम भाग पृ० १००, १०१। यथासंख्य=क्रमशः, सर्वभूमि से अण्, पृथिवी से अञ्।

कर (राजकीय अंश), उपदा=घूस। जैसे—पञ्च (रूप्याणि) अस्मिन् वृद्धिर्वा, आयो वा, लाभो वा, शुल्को वा, उपदा वा दीयते=पञ्चकः, सप्तकः, शत्यः, शतिकः।

तदस्य परिमाणम् (५।१।५६)—तत् १।१, अस्य ६।१, परिमाणम् १।१॥ अर्थ—तत्=प्रथमा समर्थ प्रातिपदिक से "अस्य" अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है, यदि प्रथमा समर्थ परिमाणवाचक हो। जैसे—प्रस्थः परिमाणमस्य=प्रास्थिको राशिः, खारीकः, शत्यः, शतिकः।

संख्यायाः संज्ञासङ्घसूत्राध्ययनेषु (५।१।५७)—संख्यायाः ५।१, संज्ञा...ध्ययनेषु ७।३॥ अनु०—तदस्य परिमाणम्। अर्थ—परिमाण बोधक प्रथमा समर्थ संख्यावाची शब्द से "अस्य" अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है, संज्ञा, सङ्घ, सूत्र, अध्ययन अर्थ गम्यमान होने पर। जैसे—पञ्चैव पञ्चकाः शकुनयः (यह विशिष्ट शकुनियों की संज्ञा है), पञ्च परिमाणमस्य सङ्घस्य=पञ्चकः, अष्टकः, अष्टौ अध्यायाः परिमाणमस्य सूत्रस्य=अष्टकं पाणिनीयम्, दशकम् वैयाघ्रपदीयम्, पञ्च परिमाणमस्य अध्ययनस्य=पञ्चकम् अध्ययनम्, पञ्चावृत्तिरूपमध्ययनमित्यर्थः।

तदर्हति (५।१।६२)—तत् २।१, अर्हति क्रिया०॥ अर्थ—तत्=द्वितीया समर्थ प्रातिपदिक से "अर्हति" (=योग्य होता है) अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है। जैसे—श्वेतच्छत्रमर्हति—श्वैतच्छत्रिकः, शत्यः, शतिकः।

यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ (५।१।७०)—यज्ञर्त्विग्भ्याम् ५।२, घखञौ १।२॥ अनु०—तत् अर्हति। अर्थ—प्रथमा समर्थ यज्ञ और ऋत्विक् शब्द से 'अर्हति' अर्थ में घ, खञ् प्रत्यय यथासंख्य (=क्रमशः) होते हैं। जैसे—यज्ञमर्हति=यज्ञियो ब्राह्मणः, ऋत्विजमर्हति=आर्त्विजीनो ब्राह्मणः।

॥ इति आर्हीय प्रकरण ॥

कालात् (५।१।७७)—कालात् ५।१॥ अर्थ—'कालात्' यह अधिकार है ५।१।९६ तक।

तेन निर्वृत्तम् (५।१।७८)—तेन ३।१, निर्वृत्तम् १।१॥ अनु०—कालात्, ठञ् (५।१।१८ से)। अर्थ—तेन=तृतीया समर्थ कालवाची प्रातिपदिक से 'निर्वृत्तम्' (=बना) अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है। जैसे—अह्ना निर्वृत्तम्=आह्निकम् [अल्लोपोऽनः (६।४।१३८) से अकार लोप होता है], मासिकम्, अर्धमासिकम्।

तेन परिजय्यलभ्यकार्यसुकरम् (५।१।९२)—तेन ३।१, परि… सुकरम् १।१ ॥ अनु०—कालात् ठञ् । अर्थ—तृतीया समर्थ प्रातिपदिक से परिजय्य (=जीतने योग्य), लभ्य (=प्राप्त करने योग्य), कार्य (=करने योग्य) सुकर (=सुगमता से होना), अर्थों में ठञ् प्रत्यय होता है। जैसे—मासेन परिजय्यः=मासिको व्याधिः, मासेन लभ्यः=मासिकः पटः, मासेन कार्यं=मासिकं चान्द्रायणं व्रतम्, मासेन सुकरः=मासिकः प्रासादः।

तदस्य ब्रह्मचर्यम् (५।१।९३)—तत् २।१, अस्य ६।१, ब्रह्मचर्यम् १।१॥ अनु०—कालात् ठञ् । अर्थ—तत्=द्वितीया समर्थ प्रातिपदिक से 'अस्य' अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है ब्रह्मचर्य अर्थ गम्यमान होने पर। मासं ब्रह्मचर्यम् अस्य=मासिकः, सांवत्सरिकः।

तेन तुल्यं क्रिया चेद् वतिः (५।१।११४)—तेन ३।१, तुल्यम् १।१, क्रिया १।१, चेत् अ०, वतिः १।१॥ अर्थ—तेन=तृतीया समर्थ प्रातिपदिक से 'तुल्य' अर्थ में वति प्रत्यय होता है, वह तुल्य यदि क्रिया हो। जैसे—ब्राह्मणेन तुल्यं वर्तते=ब्राह्मणवत्, राजवत् (यथा ब्राह्मणे क्रिया तथा अस्येत्यर्थः)। वत् प्रत्यय स्वरादिगण (१।१।३६) में पढ़ा है। अतः वत्प्रत्ययान्त की अव्यय संज्ञा होती है।

तदर्हम् (५।१।११६)—तत् २।१, अर्हम् १।१॥ अनु०—**वतिः**। अर्थ—तत् द्वितीया समर्थ प्रातिपदिक से 'अर्ह' अर्थ में वति प्रत्यय होता है। जैसे—राजानमर्हति=राजवत्पालनम्, ब्राह्मणवद् वेदाध्ययनम्; राजा के योग्य पालन, ब्राह्मण के योग्य वेदाध्ययन।

तस्य भावस्त्वतलौ (५।१।११८)—तस्य ६।१, भावः १।१, त्वतलौ १।२ ॥ अर्थ—तस्य=षष्ठी समर्थ प्रातिपदिक से भाव अर्थ में त्व, तल् प्रत्यय होते हैं। शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त 'भाव' शब्द से कहा जाता है। जैसे—अश्वस्य भावः=अश्वत्वम्, अश्वता; गोत्वम्, गोता। तल्-प्रत्ययान्त तलन्त (पूर्व पृष्ठ ६९) सूत्र से स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होता है।

धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ् (५।२।१)—धान्यानाम् ६।३, भवने ७।१, क्षेत्रे ७।१, खञ् १।१ ॥ **धान्यानाम्** इस निर्देश से ही षष्ठ्यन्त से प्रत्यय होता है, यह जानना चाहिये। अर्थ—षष्ठी समर्थ धान्यवाची प्रातिपदिकों से 'भवने क्षेत्रे' (=उत्पत्ति के आधारस्वरूप खेत) अर्थ में खञ् प्रत्यय होता है। भवन्ति—जायन्तेऽस्मिन्निति भवनम्—अधिकरण में ल्युट्। जैसे—मुद्गानां भवनं क्षेत्रम्=मौद्गीनम्, गौधूमीनम्, कौलत्थीनम् (अर्थात् जिस क्षेत्र में मूंग गेहूं और कुलत्थ अच्छे उत्पन्न हों)।

साप्तपदीनं सख्यम् (५।२।२२)—साप्तपदीनम् १।१, सख्यम् १।१॥ अनु०—खञ् । अर्थ—'साप्तपदीनं' यह निपातन है, सख्य=मित्रता अर्थ में। सप्तपद शब्द से 'अवाप्यते' (=प्राप्त किया जाता है) अर्थ में खञ् प्रत्यय होता है। जैसे—साप्तपदीनं सख्यम् । सख्य के साहचर्य से 'साप्तपदीन' मित्र को भी कहते हैं।

विशेष—विवाह संस्कार में सप्तपदी की विधि में सप्तम मन्त्र है— **सखा सप्तपदी भव**—हे मित्र (भार्ये) ! सातवाँ कदम चलनेवाली होवो। इसी विधि के आश्रय से 'साप्तपदीन' शब्द सख्य का वाचक होता है।

हैयङ्गवीनं संज्ञायाम् (५।२।२३)—हैयङ्गवीनम् १।१, संज्ञायाम् ७।१॥ अनु०—खञ् । अर्थ—हैयङ्गवीन शब्द निपातित है, संज्ञा में। ह्योगोदोह (कल का दूध) शब्द से विकार अर्थ में खञ् प्रत्यय होता है, संज्ञा होने पर। कल (भूत) के दुहे हुये दूध से निष्पन्न जो घृत, उसका नाम 'हैयङ्गवीन' है। ह्योगोदोह शब्द को निपातन से ही 'हियङ्गु' आदेश भी होता है।

कर्मणि घटोऽठच् (५।२।३५)—कर्मणि ७।१, घटः १।१, अठच् १।१॥ अर्थ—कर्म शब्द से 'घट' (चेष्टा करनेवाला=यत्नशील) अर्थ में अठच् प्रत्यय होता है। जैसे—कर्मणि घटते=कर्मठः पुरुषः (पुरुषार्थी)।

प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः (५।२।३७)—प्रमाणे ७।१, द्वय॰ मात्रचः १।३ । अनु०—तत् अस्य । अर्थ—प्रथमा समर्थ प्रातिपदिक से 'अस्य' अर्थ में द्वयसच् दघ्नच् मात्रच् प्रत्यय होते हैं, यदि प्रथमा समर्थ प्रमाण को कहता हो। जैसे—ऊरुः प्रमाणमस्य=ऊरुद्वयसम्, ऊरुदघ्नम्, ऊरुमात्रम् ।

विशेष—द्वयसच् दघ्नच् ये दो प्रत्यय ऊंचाई नापने में ही प्रयुक्त होते हैं। मात्रच् प्रत्यय सभी प्रकार के प्रमाण के लिये प्रयुक्त होता है।

तस्य पूरणे डट् (५।२।४८)—तस्य ६।१, पूरणे ७।१, डट् १।१॥ अर्थ—तस्य=षष्ठी समर्थ प्रातिपदिक से 'पूरण' (जिससे संख्या पूरी की जाये) अर्थ में डट् प्रत्यय होता है। जैसे—एकादशानां पूरणः=एकादशः (ग्यारहवां), द्वादशः (बारहवाँ), विंशतेः पूरणः=विंशः, ति विंशतेर्डिति (६।४।१४२) से ति का लोप होता है।

नान्तादसंख्यादेर्मट् (५।२।४९)—नान्तात् ५।१, असंख्यादेः ५।१, मट् १।१॥ अनु०—डट् । अर्थ—संख्यावाची शब्द जिसके आदि में नहीं है, ऐसे नकारान्त शब्द से परे डट् प्रत्यय को मट् का आगम होता है। नान्तात् में जो पञ्चमी है, उसके कारण **तस्मादित्युत्तरस्य**

(१।१।६६) के नियम से डट् प्रत्यय को मट् का आगम होता है। टित् होने से प्रत्यय के आदि में होगा। पञ्चानां पूरणः=पञ्चन् म् अ=पञ्चमः, सप्तमः, दशमः। डट् प्रत्यय पूर्वसूत्र (५।२।४८) से प्राप्त है।

थट् च छन्दसि (५।२।५०)—थट् १।१, च अ०, छन्दसि ७।१॥ अनु०—**नान्तादसंख्यादेः डट्**। अर्थ—असंख्यादि नकारान्त शब्द से परे डट् प्रत्यय को वेद में थट् का आगम, और चकार से मट् भी होता है। जैसे—पञ्चानां पूरणः=पञ्चथः, सप्तथः। मट्—पञ्चमः, सप्तमः।

विशेष—वेद में पूरण प्रत्ययान्त के दो-दो रूप होते हैं—पञ्चमः पञ्चथः, सप्तमः सप्तथः, अष्टमः अष्टथः, नवमः नवथः, दशमः दशथः। इन दो दो रूपों में से मट् आगमवाले रूप तो लौकिक संस्कृत में चले गये, और थट् आगमवाले योरोपीय भाषाओं में जैसे अंग्रेजी में—**फिफ्थ सेवन्थ एट्थ नाइन्थ टैन्थ**।[1]

इसी प्रकार प्राचीन संस्कृतभाषा में—**विंशति विंशत्, त्रिंशति त्रिंशत्, चत्वारिंशति चत्वारिंशत्, पञ्चाशति पञ्चाशत्, सप्तति सप्तत्, अशीति अशत्, नवति नवत्** दो दो रूप प्रयुक्त होते थे। इन में से योरोपीय भाषाओं में तो ति वाले रूप व्यवहृत हुये—**ट्वण्टि थर्टि फोर्टि फिफ्टि सिक्सटि सेवन्टि एट्टि नाइन्टि**; और लौकिक संस्कृत में किन्हीं के ति अन्तवाले किन्हीं के अत् अन्तवाले (खिचड़ी रूप) रह गये। जैसे—विंशति, षष्टि, सप्तति अशीति नवति ये ति के और त्रिंशत्, चत्वारिंशत् पञ्चाशत् ये अत् के।

षट्कतिकतिपयचतुरां थुक् (५।२।५१)—षट्०... चतुराम् ६।३, थुक् १।१॥ अनु०—डट्। अर्थ—डट् प्रत्यय परे रहने पर षट् कति कतिपय और चतुर् शब्द को थुक् का आगम होता है। कित् होने से प्रकृतियों के अन्त में होगा। जैसे—षण्णां पूरणः=षष्ठः (षष् थ् अ), कतिथः, कतिपयथः, चतुर्थः।

विशेष—हिन्दीभाषा में पञ्चम सप्तम के अनुरूप **षष्टम** का प्रयोग भी होने लगा है, वह अशुद्ध प्रयोग है।

द्वेस्तीयः (५।२।५४)—द्वेः ५।१, तीयः १।१॥ अनु०—**तस्य पूरणे**। अर्थ—षष्ठी समर्थ द्वि शब्द से पूरण अर्थ में तीय प्रत्यय होता है। जैसे—द्वयोः पूरणः=द्वितीयः।

त्रेः सम्प्रसारणं च (५।२।५५)—त्रेः ५।१, सम्प्रसारणम् १।१, च

1. द्र०—सं० व्याकरण शास्त्र का इतिहास भाग १, पृष्ठ ४०।

अ०।। अनु०—तस्य पूरणे। अर्थ—षष्ठी समर्थ त्रि शब्द से, पूरण अर्थ में तीय प्रत्यय होता है, और त्रि को सम्प्रसारण हो जाता है। जैसे—त्रयाणां पूरणः=त्रि तीय=त इ तीय=तृतीयः।

श्रोत्रियंश्छन्दोऽधीते (५।२।८४)—श्रोत्रियन् अविभक्त्यन्त, छन्दः २।१, अधीते क्रिया। अर्थ—श्रोत्रियन् यह शब्द निपातित होता है, 'छन्दोऽधीते' (=वेद को पढ़ता है) अर्थ में। इसमें श्रुति या छन्दस् शब्द को 'श्रोत्र' भाव और घन् प्रत्यय होता है। जैसे—श्रुतिं छन्दो वाऽधीते=श्रोत्रियः।

साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम् (५।२।९१)—साक्षात् अ०, द्रष्टरि ७।१, संज्ञायाम् ७।१। अनु०—इनि (५।२।८६ से)। अर्थ—साक्षात् शब्द से 'द्रष्टा' (=देखनेवाला) अर्थ में इनि प्रत्यय होता है, संज्ञा गम्यमान हो तो। जैसे—साक्षाद् द्रष्टा=साक्षी साक्षिणौ साक्षिणः। साक्षात् इन्, इस अवस्था में **अव्ययानां भमात्रे टिलोपः** (वा० ६।४।१४४) से टिलोप होकर—साक्ष् इन्=साक्षिन्=साक्षी।

इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा (५।२।९३)—इन्द्रियम् १।१, इन्द्रलिङ्गम् १।१, इन्द्रदृष्टम् १।१, इन्द्रसृष्टम् १।१, इन्द्रजुष्टम् १।१, इन्द्रदत्तम् १।१, इति अ०, वा अ०। अर्थ—इन्द्रियम् यह पद निपातित है, इन्द्रलिङ्ग आदि अर्थों में षष्ठी समर्थ इन्द्र शब्द से घच् प्रत्यय का निपातन है। इन्द्र नाम आत्मा का है। जैसे—इन्द्रस्य लिङ्गम्=इन्द्रियम् (=आत्मा के लिङ्ग=अनुमिति=ज्ञान का साधन होने से), इन्द्रेण दृष्टम्=इन्द्रियम् (=आत्मा के द्वारा दृष्ट=ज्ञात होने से), इन्द्रेण सृष्टम्=इन्द्रियम् (=आत्मा से निर्मित होने से), इन्द्रेण जुष्टम्=इन्द्रियम् (=आत्मा से सेवित होने से), इन्द्रेण (विषयेभ्यः) दत्तम्=इन्द्रियम् (=आत्मा ने विषयों के ग्रहण के लिये छोड़ा होने से, अथवा आत्मा के लिये दिया गया होने से)।

मत्वर्थीय प्रत्यय

तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् (५।२।९४)—तत् १।१, अस्य ६।१, अस्ति क्रियापद, अस्मिन् ७।१, इति अ०, मतुप् १।१।। अर्थ—तत्=प्रथमा समर्थ प्रातिपदिक से 'अस्य' (=इसका) और 'अस्मिन्' (=इसमें) अर्थ में, मतुप् प्रत्यय होता है, यदि प्रथमा वर्तमान सत्ता से विशिष्ट हो। जैसे—गावो अस्य सन्ति=गोमान् देवदत्तः, वृक्षा अस्मिन् सन्ति=वृक्षवान् पर्वतः, यवमान्, प्लक्षवान्।

विशेष—(१) तदस्यास्त्यस्मिन्निति का अधिकार पाद के अन्त (५।२।१४०) तक जाता है।

(२) वृक्षवान् प्लक्षवान् में मतुप् के मकार को वकार मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः (८।२।९॥=मात्=मकारान्त और अकारान्त, तथा मकारोपध और अकारोपध से परे मतु के मकार को वकार होता है, यवादियों को छोड़कर=यवमान्) सूत्र से हो जाता है।

(३) मतुप् और मत्वर्थ में होनेवाले प्रत्यय निम्न अर्थों की विवक्षा में होते हैं—

अस्तिविवक्षा—वृक्षवान्, प्लक्षवान्।

भूमा (अधिकता)—गावोऽस्य सन्ति=गोमान्। एक गायवाला गोमान् नहीं कहलायेगा।

निन्दा—कुष्ठमस्यास्तीति—कुष्ठी, ककुदावर्ती (कुबड़ा)।

प्रशंसा—रूपवती कन्या।

—नित्ययोग—क्षीरमेषु वर्तते इति=क्षीरिणो वृक्षाः (जिसमें सदा दूध निकलता है। जैसे—बड़ गूलर आक)।

संसर्ग—दण्डोऽस्यास्तीति=दण्डी, छत्री।

(४) अपवाद प्रत्ययों के साथ भी मतुप् का सर्वत्र समुच्चय होता है। यथा—छत्री छत्रवान्, प्राज्ञः प्रज्ञावान् (इनि और ण को आगे विधान करेंगे)। मतुप् के समुच्चय के लिये सर्वत्र (५।२।१४० तक) ५।२।९६ से अन्यतरस्याम् की अनुवृत्ति जाननी चाहिये।

गुणवचनेभ्यो मतुपो लुगवक्तव्यः (वा० ५।२।९४)—अर्थ—गुणवाचक शब्दों से उत्पन्न मतुप् का लुक् हो जाता है। जैसे—शुक्लः पटः, कृष्णा रात्रिः, श्वेतः प्रासादः। गुणवचन की व्याख्या आगे ५।३।५८ पर देखें।

प्रज्ञाश्रद्धार्चाभ्यो णः (५।२।१०१)—प्रज्ञाश्रद्धार्चाभ्यः ५।३, णः १।१॥ अनु०—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, अन्यतरस्याम् (५।२।९६ से)। अर्थ—प्रज्ञा श्रद्धा और अर्चा शब्द से 'तदस्य' और 'तदस्मिन्' अर्थों में ण प्रत्यय विकल्प से होता है। जैसे—प्रज्ञाऽस्मिन्नस्ति=प्राज्ञः, प्रज्ञावान्; श्राद्धः, श्रद्धावान्; आर्चः, अर्चावान्।

अत इनिठनौ (५।२।११५)—अतः ५।१, इनिठनौ १।२॥ अनु०—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, अन्यतरस्याम्। अर्थ—अकारान्त प्रातिपदिक से 'तदस्य'

और 'तदस्मिन्' अर्थों में इनि और ठन् प्रत्यय होते हैं। जैसे—छत्रमस्यास्तीति छत्री, छत्रिकः, छत्रवान्; दण्डी, दण्डिकः, दण्डवान्।

ऊर्णाया युस् (५।२।१२३)—ऊर्णायाः ५।१; युस् १।१। अर्थ—ऊर्णा प्रातिपदिक से 'तदस्य' और 'तदस्मिन्' अर्थों में युस् प्रत्यय होता है। जैसे—ऊर्णायुः।

वाचो ग्मिनिः (५।२।१२४)—वाचः ५।१; ग्मिनिः १।१। अर्थ—वाच् शब्द से 'तदस्य' और 'तदस्मिन्' अर्थों में ग्मिनि प्रत्यय होता है। जैसे—वाग्मी वाग्मिनौ वाग्मिनः।

आलजाटचौ बहुभाषिणि (५।२।१२५)—आलजाटचौ १।२; बहुभाषिणि ७।१। अनु०—वाचः। अर्थ—वाच् शब्द से 'तदस्य' और 'तदस्मिन्' अर्थों में बहुभाषी अर्थ जाना जाये, तो आलच् और आटच् प्रत्यय होते हैं। जैसे—वाचालः, वाचाटः।

हस्ताज्जातौ (५।२।१३३)—हस्तात् ५।१, जातौ ७।१। अनु०—इनिः (५।२।१२८ से)। अर्थ—हस्त शब्द से 'तदस्य' और 'तदस्मिन्' अर्थों में इनि प्रत्यय होता है, यदि जाति अर्थ गम्यमान हो। जैसे—हस्तोऽस्यास्तीति =हस्ती हस्तिनौ हस्तिनः।

वर्णाद् ब्रह्मचारिणि (५।२।१३४)—वर्णात् ५।१, ब्रह्मचारिणि ७।१। अनु०—इनिः। अर्थ—वर्ण शब्द से 'तदस्य' और 'तदस्मिन्' अर्थों में इनि प्रत्यय होता है, यदि ब्रह्मचारी अर्थ गम्यमान हो। जैसे—वर्णी वर्णिनौ वर्णिनः।

इति मत्वर्थीय प्रकरण ॥

स्वार्थिक प्रत्यय (५।४।१० तक)

प्राग्दिशीय प्रत्यय

प्राग् दिशो विभक्तिः (५।३।१)—प्राक् अ०, दिशः ५।१, विभक्तिः १।१। अर्थ—दिश् (५।३।२७) शब्द से पूर्व विभक्ति का अधिकार है। अर्थात् यहां से आगे जिन प्रत्ययों का विधान करेंगे, उनकी 'विभक्ति' संज्ञा होती है। जैसे—**पञ्चम्यास्तसिल्**, **सप्तम्यास्त्रल्** (५।३।७, १०) से विधीय-मान तसिल् और त्रल् की विभक्ति संज्ञा होने से तद् तस् (=तसिल्) तद् त्र (=त्रल्) इस अवस्था में 'त्यदादीनामः'[1] (७।२।१०२) से दकार को अकार

---

1. सूत्रार्थ देखो—पूर्व पृष्ठ ११० ॥

आदेश होता है—त अ तस्; त अ त्र—ततः, तत्र।

यहां से आगे प्रत्यय-विधान में जहां अर्थ विशेष का विधान नहीं किया है, वे प्रत्यय स्वार्थ में होते हैं—'**अनिर्दिष्टार्थाः प्रत्ययाः स्वार्थे भवन्ति**' यह वैयाकरणों का नियम है। इसके अनुसार यहां से आगे ५।४।४१ तक विधीयमान प्रत्यय स्वार्थ में होने से 'स्वार्थिक' प्रत्यय कहाते हैं।

किंसर्वनामबहुभ्योऽद्वयादिभ्यः (५।३।२)—किंसर्वनामबहुभ्यः ५।३, अद्वयादिभ्यः ५।३॥ अनु०—**प्राग्दिशः**। अर्थ—दिक् शब्द से पूर्व विहित प्रत्यय किम् सर्वनाम और बहु शब्द से होते हैं; द्वि आदि को छोड़कर। जैसे—कुतः, कुत्र; ततः, तत्र; बहुतः, बहुत्र।

इदम इश् (५।३।३)—इदमः ६।१, इश् १।१॥ अनु०—**प्राग्दिशः**। अर्थ—प्राग्दिशीय प्रत्ययों के परे रहने पर इदम् शब्द के स्थान में इश् आदेश होता है। शित्करण सर्वादेश के लिये है—**अनेकाल्शित् सर्वस्य** (१।१।५४), जैसे—इह (५।३।११ से 'ह' प्रत्यय), इतः।

एतदोऽन् (५।३।५)—एतदः ६।१, अन् १।१॥ अनु०—**प्राग्दिशः**। अर्थ—प्राग्दिशीय प्रत्यय परे रहने पर एतद् शब्द को अन्[1] आदेश होता है। जैसे—अतः, अत्र।

सर्वस्य सोऽन्यतरस्यां दि (५।३।६)—सर्वस्य ६।१, सः १।१, अन्यतरस्याम् अ०, दि ७।१॥ अनु०—**प्राग्दिशः**। अर्थ—प्राग्दिशीय 'दा' प्रत्यय परे रहने पर सर्व शब्द को विकल्प से 'स' आदेश होता है। जैसे—सदा, सर्वदा (५।३।१५ से दा प्रत्यय)।

पञ्चम्यास्तसिल् (५।३।७)—पञ्चम्याः ५।१, तसिल् १।१॥ अर्थ—पञ्चम्यन्त किम् सर्वनाम और बहु शब्द से तसिल् प्रत्यय होता है। जैसे—कुतः, यतः। किम् ङसि तसिल्, **कृत्तद्धितसमासाश्च** (१।२।४६) से प्रातिपदिक संज्ञा, **सुपो धातु०** (२।४।७१) से सुप् (ङसि) का लुक्, तसिल् की विभक्ति संज्ञा होने से **कु तिहोः** (७।२।१०४—अनु० **किमः**, **विभक्तौ**। तकारादि हकारादि विभक्ति के परे रहने पर किम् को कु आदेश होता है) से कु तसिल्—कुतस्—कुतः। प्रातिपदिक संज्ञा होने से पञ्चमी विभक्ति 'ङसि' **तद्धितश्चासर्वविभक्तिः** (१।१।३७) से अव्यय संज्ञा, **अव्ययादाप्सुपः**

१. महाभाष्य के अनुसार 'अन्' में अ अन् इस प्रकार दो अ माने गये हैं। दो अ के अनेकाल् होने से अन् सर्वादेश होता है। काशिका में 'अश्' पाठ है, उसके अनुसार शित् होने से सर्वादेश हो जाता है।

(२।४।८२) से सुप् (ङसि) का लुक्। इसी प्रकार सर्वत्र तसिल् त्रल् हदा आदि प्रत्ययों में प्रक्रिया समझें। पूर्व पृष्ठ ४-५ भी पुनः देख लें।

सप्तम्यास्त्रल् (५।३।१०) सप्तम्याः ५।१, त्रल् १।१॥ अर्थ—सप्तम्यन्त किम् सर्वनाम और बहु शब्द से त्रल् प्रत्यय होता है। जैसे—कुत्र, यत्र, तत्र, सर्वत्र बहुत्र।

इदमो हः (५।३।११)—इदमः ५।१, हः १।१॥ अनु०—सप्तम्याः। अर्थ—सप्तम्यन्त इदम् शब्द से ह प्रत्यय होता है। त्रल् का अपवाद है। जैसे—अस्मिन् स्थाने=इह।

सर्वैकान्यकियत्तदः काले दा (५।३।१५)—सर्व—तदः ५।१, काले ७।१, दा १।१॥ अनु०—सप्तम्याः। अर्थ—सप्तम्यन्त सर्व एक अन्य किम् यत् तत् शब्द से काल अर्थ में दा प्रत्यय होता है। जैसे—सर्वदा, सदा; एकदा, अन्यदा, कदा, यदा, तदा। त्रल् का अपवाद है।

प्रकारवचने थाल् (५।३।२३)—प्रकारवचने ७।१, थाल् १।१॥ अर्थ—किम् सर्वनाम और बहु शब्द से प्रकार के कहने में थाल् प्रत्यय होता है, द्वयादियों को छोड़कर। जैसे—तेन प्रकारेण=तथा, यथा, सर्वथा।

इति प्राग्दिशीय प्रकरण

दिक्शब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः (५।३।२७)—दिक्शब्देभ्यः ५।३, सप्तमी...प्रथमाभ्यः ५।३, दिग्...कालेषु ७।३, अस्तातिः १।१॥ अर्थ—दिशा देश और काल में वर्तमान दिशावाची सप्तम्यन्त पञ्चम्यन्त और प्रथमान्त शब्दों से अस्ताति प्रत्यय होता है। यहां सप्तमी पञ्चमी प्रथमा तीन विभक्तियां पढ़ी हैं, और दिक् देश काल तीन विषय। समसंख्या होने पर भी इस सूत्र में यथासंख्य कार्य नहीं होता, यह जानना चाहिए। जैसे—पुरस्ताद् वसति, पुरस्ताद् आगतः, पुरस्ताद् रमणीयम्; अधस्ताद् वसति, अधस्ताद् आगतः, अधस्ताद् रमणीयम्। पूर्व अधर शब्द को 'पुर' 'अध' आदेश अगले सूत्र (५।३।४०) से होते हैं। अस्ताति प्रत्यय की **तद्धितश्चासर्वविभक्तिः** (१।१।३७) से अव्यय संज्ञा होती है।

पूर्वाधरावराणामसि पुरधवश्चैषाम् (५।३।३९)—पूर्वाधरावराणाम् ६।३, असि १।१, पुरधवः १।३, च अ०, एषाम् ६।३॥ अनु०—सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यः। अर्थ—सप्तम्यन्त पञ्चम्यन्त और प्रथमान्त पूर्व अधर अवर शब्दों से असि प्रत्यय होता है, और इनको यथासंख्य पुर् अध् अव्

आदेश होते हैं। असि में से 'अस्' शेष रहता है। जैसे—पुरो वसति, पुर आगतः, पुरोऽरमणीयम्; अधो वसति, अध आगतः, अधो रमणीयम्; अवो वसति, अव आगतः, अवो रमणीयम्।

अस्ताति च (५।३।४०)—अस्ताति[1] ७।१।। अनु०—**पूर्वाधरावराणाम् पुरधवः**। अर्थ—अस्ताति प्रत्यय परे रहने पर भी पूर्व अधर अवर शब्दों को क्रमशः पुर् अध् अव् आदेश होते हैं। अवर को अवादेश का विकल्प से विधान करेंगे (५।३।४१ से)। अतः यहां दो के ही उदाहरण होंगे। जैसे—पुरस्ताद् वसति, पुरस्ताद् आगतः, पुरस्ताद् रमणीयम्; अधस्ताद् वसति, अधस्ताद् आगतः; अधस्ताद् रमणीयम्।

विभाषाऽवरस्य (५।३।४१)—विभाषा १।१, अवरस्य ६।१।। अनु०—**अस्ताति**। अर्थ—अवर शब्द को अस्ताति प्रत्यय परे रहने पर विकल्प से अव् आदेश होता है। जैसे—अवस्ताद् वसति, अवरस्ताद् वसति; अवस्ताद् आगतः, अवरस्तादागतः; अवस्ताद् रमणीयम्, अवरस्ताद् रमणीयम्।

अतिशायने तमबिष्ठनौ (५।३।५५)—अतिशायने ७।१, तमबिष्ठनौ १।२।। अतिशायन=प्रकर्ष=श्रेष्ठता। अतिशायन यह प्रकृति का विशेषण है। अर्थ—अतिशायन विशेष अर्थ में वर्तमान प्रकृति से तमप् और इष्ठन् प्रत्यय होते हैं। जैसे—सर्वे इमे दर्शनीयाः, अयमेषामतिशयेन दर्शनीयः= दर्शनीयतमः, सुकुमारतमः; सर्वे इमे पटवः, अयमेषामतिशयेन पटुः=पटिष्ठः, लघिष्ठः। इष्ठन् तथा उत्तरविहित ईयसुन् गुणवचनों से ही होते हैं। पटु सु इष्ठ (इष्ठन्)=पटु इष्ठ=पटिष्ठः (टेः ६।४।१५५ से इष्ठन् इमनिच् ईयसुन् परे रहने पर टि का लोप हो जाता है)।

तिङश्च (५।३।५६)—तिङः ५।१, च अ०।। अनु०—**अतिशायने तमप्**। **ङ्याप्प्रातिपदिकात्** का अधिकार होने से तिङ् का ग्रहण किया है। अर्थ—तिङ् प्रत्ययान्तों से भी अतिशायन अर्थ गम्यमान हो, तो तमप् प्रत्यय होता है। जैसे—सर्वे इमे पचन्ति, अयमेषाम् अतिशयेन पचति= पचतितमाम्[2], जल्पतितमाम्।

द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ (५।३।५७)—द्विवचनविभज्योपपदे

१. 'अस्ताति' प्रत्यय में से इकार की इत्संज्ञा होने पर शेष रहे 'अस्तात्' शब्द का यह सप्तमी का एकवचन है।

२. **किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे** (५।४।११) से आम् प्रत्यय होता है। व्याख्या की जाएगी।

७।१, तरबीयसुनौ १।२॥ अनु०—अतिशायने तिङः। अर्थ—द्विवचन=दो अर्थों के कथन में, और विभाग के योग्य उपपद होने पर 'अतिशायने' अर्थ गम्यमान होने पर प्रातिपदिक और तिङन्त से तरप् और ईयसुन् प्रत्यय होते हैं। जैसे—द्वौ इमौ दर्शनीयौ, अयमनयोरतिशयेन दर्शनीयः=दर्शनीयतरः, सुकुमारतरः; द्वाविमौ पटू, अयमनयोरतिशयेन पटुः=पटीयान्, लघीयान्[1] (पूर्ववत् टिलोप)। तिङ्—द्वाविमौ पचतः, अयमनयोरतिशयेन पचति =पचतितराम्, जल्पतितराम्। विभज्योपपदे—माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतराः (मथुरा के निवासी पाटलिपुत्र के निवासियों से अधिक धनवान् हैं), दर्शनीयतराः (अधिक दर्शनीय हैं); पटीयांसः, लघीयांसः।

अजादी गुणवचनादेव (५।३।५८)—अजादी १।२॥ गुणवचनात् ५।१; एव अ०॥ अर्थ—अजादि इष्ठन् ईयसुन् प्रत्यय गुणवाचक शब्दों से ही होते हैं। गुणवचन का अर्थ है—गुणमुक्तवन्तः; जिन्होंने किसी रूप में गुण को कहा हो, और वर्तमान में तद्गुणविशिष्ट व्यक्ति को कह रहे हों। पटु और लघु आदि शब्द अपने गुणों को कहते हुए जब तद्गुणविशिष्ट व्यक्ति को कहते हैं, तब इन से इष्ठन् ईयसुन् प्रत्यय होते हैं। उदाहरण पूर्व लिख चुके।

प्रशस्यस्य श्रः (५।३।६०)—प्रशस्यस्य ६।१, श्रः १।१॥ अनु०—अजादी। यहां विभक्ति का परिवर्तन होकर अजाद्योः सप्तम्यन्त निर्देश समझना चाहिए। अर्थ—अजादी (इष्ठन् ईयसुन्) प्रत्यय परे रहने पर प्रशस्य शब्द को श्र आदेश होता है। जैसे—सर्वे इमे प्रशस्याः (=प्रशंसनीयाः), अयमेषामतिशयेन प्रशस्यः=श्रेष्ठः। उभौ इमौ प्रशस्यौ, अयमनयोरतिशयेन प्रशस्यः=श्रेयान्। श्र+इष्ठ; श्र+ईयस्, इस अवस्था में टेः (६।४।१५५) से टिलोप प्राप्त होता है। उसका प्रकृत्यैकाच् (६।४।१६३—एकाच् अङ्ग को प्रकृतिभाव होता है) से निषेध होता है। तदनन्तर आद् गुणः (६।१।८४) से गुण एकादेश होकर—श्रेष्ठः श्रेयान् रूप बनते हैं।

ज्य च (५।३।६१)—ज्य अविभक्त्यन्त, च अ०॥ अनु०—प्रशस्यस्य अजादी। अर्थ—अजादि प्रत्यय परे रहने पर प्रशस्य को ज्य भी आदेश होता है। जैसे—अतिशयेन प्रशस्यः=ज्येष्ठः, ज्यायान्। 'ज्येष्ठः' की रूपसिद्धि श्रेष्ठ के समान। ज्यायान् में—ज्यादादीयसः (६।४।१६०—ज्य से परे ईयस प्रत्यय के आदि को आकार होता है) से आकार होकर—ज्य आयस=ज्यायस्[1]।

१. ईयसुन् प्रत्ययान्त के रूप सर्वनामस्थान विभक्तियों में ७।१।७० से नुम् होकर 'विद्वस्' के समान; और आगे 'चन्द्रमस्' के समान (द्र०—पूर्व-पृष्ठ १०६) चलते हैं।

वृद्धस्य च (५।३।६२)—वृद्धस्य ६।१, च अ० ॥ अनु०—**अजादी ज्य**। अर्थ—वृद्ध शब्द को अजादी प्रत्यय परे रहने पर ज्य आदेश होता है। जैसे—सर्वे इमे वृद्धाः, अयमेषामतिशयेन वृद्धः = ज्येष्ठः, ज्यायान्।

ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः (५।३।६७)—ईषदसमाप्तौ ७।१, कल्प…यरः १।३॥ अनु०—**ङ्याप्प्रातिपदिकात् तिङः**। अर्थ—ईषद् असमाप्ति (—पूर्णता में कुछ न्यूनता) विशिष्ट अर्थ में वर्तमान ङ्यन्त आबन्त प्रातिपदिक और तिङन्त से कल्पप् देश्य, देशीयर् प्रत्यय होते हैं। जैसे—ईषद् असमाप्तः पटुः (=पूरा पटु = चतुर होने में थोड़ी सी न्यूनता है) = पटुकल्पः, पटुदेश्यः, पटुदेशीयः; गुडकल्पा, गुडदेश्या, गुडदेशीया द्राक्षा (=गुड़ की मिठास पूर्ण होने में कुछ ही कमी है ऐसी मुनक्का)। पचतिकल्पम्, पचतिदेश्यम्, पचतिदेशीयम् (=पचति क्रिया की पूर्णता में कुछ ही न्यूनता है)।

प्रागिवीय अर्थ

प्राग् इवात् कः (५।३।७०)—प्राक् अ०, इवात् ५।१, कः १।१॥ अनु०—**ङ्याप्प्रातिपदिकात्**। अर्थ—ङ्यन्त आबन्त और प्रातिपदिक से इव शब्द (५।३।६६) से पूर्व तक 'क' प्रत्यय का अधिकार है।

अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः (५।३।७१)—अव्ययसर्वनाम्नाम् ६।३, अकच् १।१, प्राक् अ०, टेः ५।१॥ अनु०—ङ्याप्प्राति०, **तिङश्च प्रागिवात्**। अर्थ—प्रागिवीय अर्थों में अव्यय और सर्वनामसंज्ञक ङ्यन्त आबन्त प्रातिपदिक, तथा तिङन्तों से 'टि' से पूर्व अकच् प्रत्यय होता है। जैसे—उच्चकैः (=उच्चैः = उच्च् अक् ऐः), नीचकैः, शनकैः; सर्वके (सर्वे = सर्व अक् ए), विश्वके। पचतकि (=पचति = पचत् अक् इ), जल्पतकि।

यहां से आगे सर्वत्र क और अकच् प्रत्ययों का यथायोग्य सम्बन्ध जानना चाहिए।

अज्ञाते (५।३।७३)—अज्ञाते ७।१। अर्थ—अज्ञात विशिष्ट अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक से यथाविहित (क अकच्) प्रत्यय होता है। अज्ञात का अभिप्राय है—स्वरूप से ज्ञात होने पर भी विशेषरूप से अज्ञात। ऐसे अज्ञात पदार्थ में इस प्रत्यय का विधान है। जैसे—अज्ञातोऽश्वः = अश्वकः, गर्दभकः (यहां स्वस्वामी सम्बन्ध अज्ञात है)। उच्चकैः, नीचकैः, सर्वके, विश्वके।

कुत्सिते (५।३।७४) = कुत्सिते ७।१॥ अर्थ—कुत्सित = निन्दित अर्थ विशिष्ट प्रातिपदिक से यथाविहित प्रत्यय होते हैं। जैसे—कुत्सितोऽश्वः = अश्वकः, गर्दभकः, उच्चकैः, सर्वके।

संज्ञायां कन् (५।३।७५) — संज्ञायाम् ७।१, कन् १।१॥ अनु०— कुत्सिते। अर्थ— कुत्सित विशिष्ट प्रातिपदिक से कन् प्रत्यय होता है संज्ञा के विषय में। जैसे—पूर्णकः, धारकः, शूद्रकः।

अल्पे (५।३।८५)—अल्पे ७।१॥ अल्प शब्द से यहां परिमाण (मात्रा) की न्यूनता अभिप्रेत है। अर्थ—अल्पार्थ विशिष्ट प्रातिपदिक से यथाविहित प्रत्यय होते हैं। जैसे—अल्पं तैलम् = तैलकम्, घृतकम्—थोड़ा तैल, थोड़ा घृत। तैलपने या घृतपने की अल्पता में ५।३।६७ से कल्पप् देश्य देशीयर् प्रत्यय होते हैं। उच्चकैः, सर्वके।

ह्रस्वे (५।३।८६) = ह्रस्वे ७।१, अर्थ—ह्रस्वत्व विशिष्ट अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक से यथाविहित प्रत्यय होते हैं। जैसे—ह्रस्वो वृक्षः = वृक्षकः, स्तम्भकः।

अवक्षेपणे कन् (५।३।९५)—अवक्षेपणे ७।१, कन् १।१॥ अर्थ—अवक्षेपण (= निन्दा के लिये प्रयुक्त) विषय में वर्तमान प्रातिपदिक से कन् प्रत्यय होता है। जैसे—व्याकरणकेन त्वं गर्वितः, याज्ञिक्यकेन त्वं गर्वितः। अर्थात् व्याकरण और याज्ञिक्य का सम्बन्ध होने से तू अभिमानी है। यहां व्याकरण और याज्ञिक्य विषयों की अपनी निन्दा अभिप्रेत नहीं है। जहां प्रयुज्यमान पद का वाच्य स्वयं निन्दित हो, वहां कुत्सिते (५।३।७४) से क प्रत्यय होता।

इति प्रागिवीय प्रकरण॥

इवे प्रतिकृतौ (५।३।९६)—इवे ७।१, प्रतिकृतौ ७।१॥ अनु०—कन्। अर्थ—इव = सादृश्य में वर्तमान प्रातिपदिक से प्रतिकृति विषय में कन् प्रत्यय होता है। प्रतिकृति फोटो चित्र या पाषाणादि की मूर्ति को कहते हैं। जैसे—अश्व इवेयं प्रतिकृतिः = अश्वकः, उष्ट्रकः। अश्व और ऊंट के सदृश प्रतिकृति मूर्ति या चित्र।

संज्ञायां च (५।३।९७)—संज्ञायाम् ७।१, च अ०। अनु०—इवे। अर्थ—इवार्थ गम्यमान होने पर प्रातिपदिक से कन् प्रत्यय होता है, यदि संज्ञा जानी जाये। जैसे—अश्व इव = अश्वकः (अश्वसदृश की संज्ञा है)। यह सूत्र प्रतिकृति से भिन्न अर्थ के लिये है।

लुम्मनुष्ये (५।३।९८)—लुप् १।१, मनुष्ये ७।१।। अनु०—**संज्ञायाम्**, कन् । अर्थ—संज्ञा में विहित कन् प्रत्यय का लुप् (अदर्शन) होता है,मनुष्य अभिधेय हो तो । जैसे—अश्व इव मनुष्यः=अश्वः, उष्ट्रः, दासी इव मनुष्यः=दासी, खरकुटी । प्रत्यय के लुप् होने से व्यक्तिवचन युक्तवत् होते हैं—**लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने** (१।२।५१,पृष्ठ १९९ पर व्याख्यात सूत्र)।

जीविकार्थे चापण्ये (५।३।९९)—जीविकार्थे ७।१, च अ०, अपण्ये ७।१।। अनु०—**कन् लुप्** । अर्थ—जीविका के लिये जो अपण्य (=बेचने के लिये नहीं) प्रतिकृति उसके विषय में वर्तमान प्रातिपदिकों से कन् का लुप् हो जाता है । जैसे—वासुदेवस्य प्रतिकृतिः=वासुदेवः,शिवः, विष्णुः,प्रतापः, गोविन्दसिंहः ।

इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि जो वासुदेव आदि की प्रतिकृतियां (फोटो चित्र मूर्तियां) जीविका के लिए तो हों, परन्तु बेचने योग्य (=विक्रयार्थ) न हों, अर्थात् जिन प्रतिकृतियों को दिखाकर मनुष्य अपनी जीविका करे, उनसे प्रत्यय का लुप् होता है । जो प्रतिकृतियां दुकान में बेचने के लिये हैं (विक्रय से भी जीविका होती हो तो) उनसे कन् का लुक् न हो ।

अनेक व्यक्ति इस सूत्र से मूर्तिपूजा सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। उनका कहना है कि देवमन्दिरों में रखी गई मूर्तियां जीविकार्थ तो होती हैं, पर पण्य (विक्रय के लिये) नहीं होती । वस्तुतः इस सूत्र का इस विषय के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है । यह सूत्र तो जिन चित्रादिकों को दिखाकर लोग जीविका कमाते हैं,उनके विषय में कन् के लुप् का विधान करता है। इतना ही नहीं, मन्दिरों में रखी गई मूर्तियां (मूर्तिपूजकों के मतानुसार भी) **उपासनार्थ हैं न कि जीविकार्थ** (यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है) । अतः इस सूत्र में उपास्य देवों की मूर्तियों के सम्बन्ध में कुछ भी चर्चा नहीं है, यह स्पष्ट है ।

जहां तक मूर्तिपूजा का सम्बन्ध है—यह जानना चाहिये कि घरों वा मन्दिरों में मूर्तियों को सजाकर रखना वर्जित नहीं । उन मूर्तियों को ईश्वर की मूर्ति मानकर उनकी षोडशोपचार से पूजा करना वैदिक सिद्धान्त के विपरीत है । क्योंकि ईश्वर सर्वव्यापक है । सर्वव्यापक पदार्थ की मूर्ति=प्रतिकृति नहीं होती । किसी भी वैदिक प्रामाणिक ग्रन्थ में ईश्वर की मूर्ति वा उसके अवतार लेने आदि का विधान नहीं है । अतः ईश्वर की मूर्ति या ईश्वर-बुद्धि से किसी पाषाणादिनिर्मित मूर्ति का पूजन करना वैदिक

आचार के विपरीत है। ईश्वर की उपासना का वैदिक स्वरूप है—सन्ध्योपासना द्वारा प्रभु के गुणों का वर्णन, और उन गुणों को अपने में धारण करने की अभिलाषा।

वैदिक माननीय ग्रन्थों में एकमात्र 'षड्विंश' ब्राह्मण ही ऐसा ग्रन्थ है, जिसमें प्रतिमाओं के हंसने कांपने आदि का उल्लेख है। परन्तु इस विषय में दो बातें ध्यान में रखनी चाहियें। एक—यहां भी ईश्वर की प्रतिमाओं का प्रकरण नहीं है। दूसरा षड्विंश ब्राह्मण स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है, यह तो पञ्चविंश ब्राह्मण = ताण्डय ब्राह्मण का परिशिष्ट है।

जहां तक वैदिक आर्ष ग्रन्थों का—वेद, शाखा, ब्राह्मण, आरण्यक, कल्पसूत्र, दर्शनशास्त्र आदि का सम्बन्ध है, किसी भी ग्रन्थ में एक भी वचन ऐसा नहीं है, जिसमें ईश्वर की मूर्ति की पूजा का या अवतार का स्पष्ट उल्लेख या संकेतमात्र भी हो। हां, इन ग्रन्थों के कुछ परिशिष्ट अवश्य ऐसे हैं, जिनमें इन विषयों के कुछ संकेत मिल जाते हैं, परन्तु परिशिष्ट उतने मान्य नहीं होते, जितना कि मूल ग्रन्थ मान्य होता है, यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है।

शाखादिभ्यो यत् (५।३।१०१)—शाखादिभ्यः ५।३, यत् १।१॥ अनु०—इवे। अर्थ—शाखादि प्रातिपदिकों से इवार्थ में यत् प्रत्यय होता है; जैसे—शाखा इव = शाख्यः, मुखमिव = मुख्यः, जघनमिव = जघन्यः।

कुशाग्राच्छः (५।३।१०४)—कुशाग्रात् ५।१, छः १।१॥ अनु०—इवे। अर्थ—कुशाग्र प्रातिपदिक से इवार्थ में छ प्रत्यय होता है। जैसे—कुशाग्रमिव = कुशाग्रीया बुद्धिः।

इति इवार्थ प्रत्यय ॥

किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे (५।४।११)—किमेत्तिङव्ययघात् ५।१, आमु १।१, अद्रव्यप्रकर्षे ७।१॥ अर्थ—किम्, एकारान्त, तिङन्त, और अव्यय से विहित जो घ (= तरप् तमप्) प्रत्यय तदन्त प्रातिपदिक से आम् प्रत्यय होता है, द्रव्यप्रकर्ष को छोड़कर। जैसे—'कितराम्' (किम् +

२. 'आमु' और आगे विहित 'अमु' प्रत्ययान्त को अव्यय संज्ञा होती है। महाभाष्यकार तद्धितश्चासर्वविभक्तिः (१।१।३७) सूत्र से अव्यय संज्ञा मानते हैं, और काशिकाकार अम् आम् का स्वरादिगण (१।१।३६) में पाठ होने से।

तरप्+आम्), कितमाम्; पूर्वाह्णेतराम्, पूर्वाह्णेतमाम्[1]; पचतितराम्, पचतितमाम्; उच्चैस्तराम्, उच्चैस्तमाम्[2]।

अमु च च्छन्दसि (५।४।१२)—अमु- १।१, च अ०, छन्दसि ७।१॥ अनु०—किमेत्तिङव्ययघात् प्रद्रव्यप्रकर्षे श्राम्। अर्थ—घ—(तरप्-तमप्) प्रत्ययान्त किम् एकारान्त तिङन्त और अव्यय से छन्द में अमु प्रत्यय होता है, और चकार से आमु भी, अद्रव्यप्रकर्ष में। जैसे—प्रतरं नयामः प्रतरां वस्यः।

संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच् (५।४।१७)—संख्यायाः ५।१, क्रियाभ्यावृत्तिगणने ७।१, कृत्वसुच् १।१॥ अभ्यावृत्ति = पौनः पुन्य = एक जैसी क्रिया का बार-बार होना। अर्थ-संख्यावाची प्रातिपदिक से क्रिया की अभ्यावृत्ति की गणना गम्यमान हो, तो कृत्वसुच् प्रत्यय होता है। जैसे—पञ्च वारान् भुङ्क्ते, पञ्चकृत्वो भुङ्क्ते सप्तकृत्वः[3]।

द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच् (५।४।१८)—द्वित्रिचतुर्भ्यः ५।३, सुच् १।१॥ अनु० क्रियाभ्यावृत्तिगणने। अर्थ—द्वि, त्रि और चतुर् शब्द से क्रिया की अभ्यावृत्ति की गणना में सुच् प्रत्यय होता है। जैसे—द्विर्भुङ्क्ते, त्रिर्भुङ्क्ते, चतुर्भुङ्क्ते।

एकस्य सकृच्च (५।४।१९)—एकस्य ६।१, सकृत् १।१, च अ०॥ अनु०—क्रियागणने सुच्॥ एक शब्द से प्रत्यय विधान में अभ्यावृत्ति (पौनःपुन्य) का अभाव होने से केवल क्रियागणन में प्रत्यय होता है। अर्थ—एक शब्द से क्रिया की गिनती में सुच् प्रत्यय होता है, और एक को सकृत् आदेश होता है। जैसे—सकृद् भुङ्क्ते।[4]

१. घकालतनेषु कालनाम्नः (६।३।१६) सूत्र में घ (तरप् तमप्) प्रत्यय के परे सप्तमी के अलुक् का विधान होने से सप्तम्यन्त से तरप् तमप् की उत्पत्ति समझनी चाहिये।

२. यहाँ उच्चैस्तराम् उच्चैस्तमाम् आदि में गुणमात्र की प्रकर्षता (अतिशय) होने पर आम् होता है। जब उच्चैस्तर उच्चैस्तम द्रव्य विवक्षित होगा, तब आम् नहीं होगा।

३. द्रष्टव्य पूर्वपृष्ठ २०१ की टिप्पणी १।

४. यहाँ भी भाष्यकार के मत में तद्धितश्चासर्वविभक्तिः (१।१।३७) सूत्र से, और काशिकाकार के मत में कृत्वसुच्, सुच् का स्वरादिगण (१।१।३७) में पाठ होने से अव्यय संज्ञा होती है।

अनन्तावसथेतिहभेषजाञ्ञ्यः (५।४।२३)—अनन्ता॰ भेषजात् ५।१, ञ्यः १।१ ॥ अर्थ—अनन्त आवसथ इतिह और भेषज प्रातिपदिक से (स्वार्थ में) ञ्य प्रत्यय होता है। जैसे—अनन्त एव = आनन्त्यम्; आवसथ (गृहम्) एव = आवसथ्यम्; इतिह एव = ऐतिह्यम्; भेषजमेव = भैषज्यम्।

देवात् तल् (५।४।२७)—देवात् ५।१, तल् १।१ ॥ अर्थ—देव शब्द से स्वार्थ में तल् प्रत्यय होता है। जैसे—देव एव = देवता। तलन्तः (पूर्व पृष्ठ ६६) सूत्र से स्त्रीलिङ्ग में प्रयोग होता है।

ओषधेरजातौ (५।४।३७)—ओषधेः ५।१, अजातौ ७।१ ॥ अनु॰—अण् (५।३।३६ से) अर्थ—जाति से भिन्न अर्थ में वर्तमान ओषधि शब्द से (स्वार्थ में) अण् प्रत्यय होता है। जैसे—ओषधिरेव = औषधं ददाति। यहां ओषधि शब्द दवा की प्रतीति है। ओषध्यः फलपाकान्ताः (फल पकने के पश्चात जिनका नाश हो जावे, वे ओषधियां कहाती हैं) के द्वारा जो गेहूं मूंग धान आदि की 'ओषधि' संज्ञा होती है। इनका वाचक ओषधि शब्द जातिवाचक है।

प्रज्ञादिभ्यश्च (५।४।३८)—प्रज्ञादिभ्यः ५।३, च अ॰ ॥ अनु॰—अण्। अर्थ—प्रज्ञ आदि प्रातिपदिकों से (स्वार्थ में) अण् प्रत्यय होता है। जैसे—प्रज्ञ एव = प्राज्ञः, वणिगेव = वाणिजः, उशिगेव = औशिजः।

मृदस्तिकन् (५।४।३९)—मृदः ५।१, तिकन् १।१ ॥ अर्थ—मृत् प्रातिपदिक से (स्वार्थ में) तिकन् प्रत्यय होता है। जैसे—मृदेव = मृत्तिका।

बह्वल्पार्थाच्छस्कारकादन्यतरस्याम् (५।४।४२)—बह्वल्पार्थात् ५।१, शस् १।१, कारकात् ५।१, अन्यतरस्याम् अ॰ ॥ अर्थ—बहुत और अल्प अर्थ को कहनेवाले कारकसंज्ञक शब्दों से (स्वार्थ में) शस् प्रत्यय विकल्प से होता है। जैसे—बहूनि ददाति; बहुशो ददाति; अल्पं ददाति, अल्पशो ददाति। अर्थग्रहण से—भूरिशो ददाति; स्तोकशो ददाति।

कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विः (५।४।५०)—कृभ्वस्तियोगे ७।१, सम्पद्यकर्तरि ७।१, च्विः १।१ ॥ अर्थ—सम्पद्य (सम्पूर्वक पद) धातु के कर्ता में वर्तमान प्रातिपदिक से कृ भू अस् धातुओं के योग में च्वि प्रत्यय होता है। यह प्रत्यय अभूततद्भाव (जो पहले न हो पीछे से हो जावे) अर्थ प्रतीयमान होने पर होता है। जैसे—अशुक्लः शुक्लः सम्पद्यते (तं करोति) = शुक्ली करोति मलिनम्, शुक्ली भवति, शुक्ली स्यात्। घटी करोति मृदम्, घटी भवति, घटी स्यात्। च्विप्रत्ययान्त की पूर्ववत् अव्यय

संज्ञा होती है। शुक्ल + अम् + च्वि = शुक्ल: च्वि = शुक्ल वि = शुक्ली व्, अस्य च्वौ (७।४।३२, अनु०—ई) से ईकार आदेश होता है। व् का वेरपृक्तस्य (६।१।६५, प्रथम भाग पृष्ठ ६७ पर व्याख्यात) से लोप हो जाता है।

॥ तद्धित प्रकरण समाप्त ॥

एकादश-प्रकरण

आख्यात-प्रक्रिया

सामान्य-प्रकरण

व्याकरण के संज्ञा-परिभाषा, कारक-विभक्ति, समास, लिङ्ग, नामिक, कृदन्त, और तद्धित-प्रकरणों का परिज्ञान कराने के पश्चात् आख्यात = तिङन्त-प्रक्रिया का परिज्ञान कराना शेष रहता है, सो अगले प्रकरणों में तिङन्त-प्रक्रिया का वर्णन किया जायेगा।

तिङन्त-प्रक्रिया के परिज्ञान के लिये कुछ सामान्य प्रकरणों का ज्ञान होना अत्यावश्यक है। इसलिये हम यहाँ तिङन्त-प्रक्रियोपयोगी सामान्य विषयों का निर्देश करते हैं।

आख्यात शब्द धातु का पर्याय है। धातुओं से लट् आदि लकारों की उत्पत्ति होकर तिप् तस् झि आदि जो आदेश होते हैं, उनकी 'तिङ्' प्रत्याहार के रूप में प्रसिद्धि है। अतः आख्यात-प्रक्रिया = धातु-प्रक्रिया के लिये तिङन्त-प्रक्रिया शब्द भी व्यवहृत होता है।

धातुप्रक्रिया के लिये धातु, लकार, पद (= आत्मने-परस्मै), विकरण, तिङादेश और सेट् अनिट् का ज्ञान होना अत्यावश्यक है। इसलिये इस प्रकरण में हम संक्षेप से इन विषयों का वर्णन करेंगे—

धातु—पाणिनि ने शब्दशास्त्रोपयोगी लगभग २००० दो सहस्र धातुओं का परिगणन अपने धातुपाठ में किया है। संस्कृत भाषा में व्यवहृत होनेवाले रूपों में वैविध्य की दृष्टि से पाणिनि आचार्य ने समस्त धातुओं को निम्न दश गणों में बांटा है—

१. भ्वादि	६. तुदादि
२. अदादि	७. रुधादि
३. जुहोत्यादि	८. तनादि
४. दिवादि	९. क्र्यादि
५. स्वादि	१०. चुरादि

इन दश गणों के रूपों को पृथक् करनेवाले प्रत्ययों को व्याकरणशास्त्र में **विकरण** (जिस से विकार = विविधता उत्पन्न हो) कहते हैं। इनका विधान आगे किया जायेगा।

गणान्तर्गत वैविध्य—एक गण में पठित धातुओं के रूपों में कुछ अंश में समानता होने पर भी वैविध्य परिलक्षित होता है। वह वैविध्य है—आत्मनेपद-परस्मैपद, सेट्त्व-अनिट्त्व का। कुछ धातुएं प्रत्येक गण में आत्मनेपदी ही हैं, कुछ परस्मैपदी ही, और कुछ उभयपदी (जिन के दोनों पदों में रूप बनते हैं)। इसी प्रकार कुछ धातुएं सेट् हैं, और कुछ अनिट्। यह वैविध्य सभी गणों में है।

धातुपाठ का प्रवचन प्रकार—आचार्य पाणिनि ने अपने धातुपाठ के प्रवचन में प्रत्येक धातु के रूप-वैविध्य का बोध कराने के लिये विशिष्ट निर्देश किये हैं। धातुपाठ में दिये गये इन विशेष निर्देशों पर ध्यान दिया जाये, तो तिङन्त-प्रक्रिया के रूपज्ञान में बहुत सरलता हो जाती है। इस-लिये हम सब से प्रथम धातुपाठ में निर्दिष्ट संकेतों की व्याख्या कर देना उचित समझते हैं।

१—गणविभाग—सब से प्रथम गणविभाग पर ध्यान देना चाहिये कि जिस धातु के रूप हम जानना चाहते हैं, वह धातु किस गण की है। गणज्ञान के अधीन ही विकरण-विधान है। भिन्न-भिन्न गण की धातुओं से भिन्न-भिन्न विकरण कहे गये हैं। यथा—**कर्तरि शप्** (३।१।६८); **दिवादिभ्यः श्यन्** (३।१।६९); **स्वादिभ्यः श्नु** (३।१।७३), इत्यादि।

२—पदज्ञान—गण का परिज्ञान करने के पीछे धातु किस पदवाली है, अर्थात् आत्मनेपदी है, या परस्मैपदी, या उभयपदी, इसका ज्ञान करना चाहिये। इसके ज्ञानार्थ पाणिनि ने धातुपाठ में धातुओं के अन्त में स्वर या व्यञ्जन

इत्संज्ञक प्रयुक्त किये हैं। उनमें से **अनुदात्तेत्** (=अनुदात्त वर्ण जिसके अन्त में इत्संज्ञक हो) और ङित् आत्मनेपद के लिये है—(**अनुदात्तङित आत्मनेपदम्**[1] १।३।१२)। और स्वरितेत् तथा ञित् उभयपदों के लिये—(**स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले**[2] १।३।७२)। इनसे शेष धातुओं से परस्मैपद होता है—(**शेषात् कर्तरि परस्मैपदम्**[3] १।३।७८)। ङित् और ञित् का ज्ञान तो धातु के दर्शनमात्र से हो जाता है, जैसे—**माङ् माने डुकृञ् करणे**। परन्तु अनुदात्तेत् और स्वरितेत् का परिज्ञान धातु के दर्शनमात्र से नहीं होता, क्योंकि धातुपाठ में स्वर-चिह्न उपलब्ध नहीं होते। इसका परिज्ञान कराने के लिये प्रत्येक गण के प्रघट्टक (=अवान्तर विभाग) के अन्त में इसका निर्देश लिखा हुआ मिलता है, उससे ज्ञात कर लेना चाहिये। यथा—धातुपाठ पृष्ठ ३[4] कालम २ में एधादि प्रघट्टक के अन्त में धातुसूत्र ३० के आगे लिखा है—"**इत्युदात्ता अनुदात्तेतः**"; तथा पृष्ठ २२ कालम १, धातुसूत्र ७२१ **शान तेजने** के आगे—**स्वरितेतः** लिखा हुआ है। जिन धातुओं में किसी अन्त्य स्वर की इत्संज्ञा नहीं होती—यथा **भू** धातु; या उदात्त की इत्संज्ञा होती है, यथा—**अत सातत्यगमने**; उनसे तथा ङ् ञ् भिन्न इत्संज्ञक व्यञ्जनान्त धातुओं से परस्मैपद ही होता है[5]।

३—**सेट् अनिट्**—धातुरूपों के ज्ञान के लिये कोई धातु सेट् है या अनिट् अर्थात् वलादि आर्धधातुक प्रत्ययों में इट् का आगम होगा या नहीं होगा, इसका परिज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। आचार्य पाणिनि को जिन धातुओं से इट् का आगम करना इष्ट नहीं था, उन धातुओं को धातुपाठ में **अनुदात्त** पढ़ा है। और जिन से इट् करना इष्ट था, उन्हें **उदात्त**। ध्यान रहे कि अनुदात्त और अनुदात्तेत्, तथा उदात्त और उदात्तेत् इनका परस्पर में कोई सम्बन्ध नहीं है। उदात्त होते हुये अनुदात्तेत् हो सकते हैं। जैसे—**एधादि** उदात्त हैं, और अनुदात्तेत् भी। इसीलिये अन्त में लिखा है—**इत्युदात्ता अनुदात्तेतः** (पृष्ठ ३, कालम २)। इसे इस प्रकार समझें—एध

१. व्याख्या देखें—प्रथम भाग पृष्ठ १६४।
२. व्याख्या देखें—प्रथम भाग पृष्ठ १६५।
३. व्याख्या देखें—प्रथम भाग पृष्ठ ५६।
४. यह पृष्ठसंख्या रा० ला० क० ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित 'धातुपाठ' की है। इस ग्रन्थ के अध्येता को यही संस्करण लेने से अधिक लाभ होगा।
५. प्रत्येक प्रघट्टक के आदि में आत्मनेभाषा परस्मैभाषा उभयतोभाषा शब्दों द्वारा साक्षात् निर्देश भी किया है।

स्पर्ध आदि में दो स्वर हैं। अन्तिम (ध में वर्तमान) स्वर अनुदात्तेत् है। इत्संज्ञा होने पर एध् स्पर्ध् रूप शेष रहता है, इसमें ए स्प स्वर उदात्त हैं। अतः उदात्त होने से एधादि सेट् हैं, और अनुदात्तेत् होने से आत्मनेपदी। इस प्रकार उदात्त का अभिप्राय है—सेट् धातु, और अनुदात्त का अभिप्राय है—अनिट् धातु।

इसी भाग में पृष्ठ १२७-१२९ तक सभी अनुदात्त धातुओं की सूची दे दी है, उससे लाभ उठाया जा सकता है।

इस प्रकार धातुओं के रूपज्ञान के लिये अपेक्षित धातुपाठस्थ अत्यन्त आवश्यक पाणिनीय संकेतों का निर्देश करके धातु-प्रक्रिया के लिये उपयोगी कतिपय प्रकरण यहां लिखते हैं। इनके परिज्ञान से आगे रूप-सिद्धि में सुगमता होगी। प्रमुख प्रकरण हैं—पद, विकरण, तिङादेश, द्विर्वचन-अभ्यास कार्य, सेट्-अनिट्।

पद (=आत्मने, परस्मै, उभय०) प्रकरण

धातुरूपों के ज्ञान के लिये सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक है कि किस धातु से कौनसे पद के प्रत्यय लाये जायेंगे। अतः सर्वप्रथम पद-प्रकरण लिखते हैं—

अनुदात्तङित आत्मनेपदम् (१।३।१२)—अनुदात्तङितः ५।१॥ आत्मनेपदम् १।१॥ इत् शब्द का 'अनुदात्त' और 'ङ' दोनों के साथ सम्बन्ध है।

अर्थ—अनुदात्त और ङकार जिसका इत्संज्ञक हो, ऐसे धातु से आत्मनेपद के प्रत्यय होते हैं।

परस्मैपद और आत्मनेपद संज्ञा विधायक—लः परस्मैपदम् (१।४।९८), तङानावात्मनेपदम् (१।४।९९) सूत्रों की व्याख्या प्रथम भाग पृष्ठ ५७, ५८, ६० पर कर चुके हैं। तदनुसार लस्य तिप्तस्झि० (प्रथम भाग पृष्ठ ५७) सूत्रों द्वारा विहित प्रत्ययों के विभाग इस प्रकार हैं—

परस्मैपद				आत्मनेपद			
पुरुष	एक०	द्वि०	बहु०	पुरुष	एक०	द्वि०	बहु०
प्रथम	तिप्	तस्	झि	प्रथम	त	आताम्	झ
मध्यम	सिप्	थस्	थ	मध्यम	थास्	आथाम्	ध्वम्
उत्तम	मिप्	वस्	मस्	उत्तम	इट्	वहि	महिङ्

प्रकृत सूत्र द्वारा अनुदात्तेत् तथा ङित् धातुओं से आत्मनेपद के प्रत्यय होते हैं। जैसे—अनुदात्तेत् से—एध—एधते; स्पर्ध—स्पर्धते (द०—

धातु० पृष्ठ ३; का० १)। ङित् से—स्मिङ्—स्मयते; गुङ्—गवते (धातु० पृष्ठ २०-सू०, का० २)।

यहां से आगे आत्मनेपद का अधिकार १।३।७७ तक जाता है।

भावकर्मणोः (१।३।१३)—भावकर्मणोः ७।२। अनु०—**आत्मनेपदम्**। अर्थ—भाव और कर्म अर्थ में सभी धातुओं से आत्मनेपद होता है। सकर्मक धातु से कर्म में और अकर्मक से भाव में प्रत्यय होता है। यथा—**लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः** (३।४।६९) सूत्र (प्रथम भाग पृष्ठ ५७, १७७ में व्याख्यात)।

जैसे—भाव में—आस्यते देवदत्तेन, शय्यते देवदत्तेन। कर्म में—क्रियते कटो देवदत्तेन, पठ्यते वेदो यज्ञदत्तेन।

नेर्विशः (१।३।१७)—नेः ५।१; विशः ५।१॥ अनु०—**आत्मनेपदम्**। अर्थ नि उपसर्ग से उत्तर विश धातु से आत्मनेपद होता है। जैसे—निविशते, निविशेते, निविशन्ते। **विश प्रवेशने** धातु के उदात्तेत् होने से **शेषात् कर्त्तरि परस्मैपदम्** (१।३।७८) से परस्मैपद के प्रत्यय प्राप्त होते हैं। इस सूत्र ने निपूर्वक विश से आत्मनेपद का विधान किया है।

विपराभ्यां जेः (१।३।१९)—विपराभ्याम् ५।२; जेः ५।१॥ अनु०—**आत्मनेपदम्**। अर्थ—वि और परा (उपसर्ग से परे) जि धातु से आत्मनेपद होता है। जैसे—विजयते, पराजयते। 'जि जये' भी परस्मैपदी धातु है।

समो गम्यृच्छिभ्याम् (१।३।२९)—समः ५।१, गम्यृच्छिभ्याम् ५।२॥ अनु०—**आत्मनेपदम् अकर्मकात्** (१।३।२६ से)। अर्थ—सम् उपसर्ग से परे गम और ऋच्छ अकर्मक धातुओं से आत्मनेपद होता है। जैसे—संगच्छते देवदत्तः, समृच्छते।

पूर्ववत् सनः (१।३।६२)—पूर्ववत् अ०, सनः ५।१॥ अनु०—**आत्मनेपदम्**। अर्थ—सन्नन्त धातुओं से पूर्ववत् आत्मनेपद होता है। अर्थात् जिस धातु से जिस निमित्त के होने पर आत्मनेपद कहा है, उस धातु से उसी निमित्त के होने पर सन्नन्त से आत्मनेपद हो जाता है। जैसे—अनुदात्तङित् से आत्मनेपद होता है, उसी तरह अनुदात्तङित् के सन्नन्त से भी हो जाता है। अनुदात्तेत् से—एदिधिषते, पिस्पर्धिषते। ङित् से—सिस्मयिषते, जिगमिषते। निपूर्वक विश से आत्मनेपद कहा है सो निपूर्वक सन्नन्त से भी आत्मनेपद होगा—निविविक्षते। इसी प्रकार विपरा पूर्वक जि से—विजिगीषते।

भुजोऽनवने—(१।३।६६)—भुजः ५।१, अनवने ७।१॥ अनु०—**आत्मनेपदम्**। अर्थ—भुज धातु से अनवन (अवन=पालन अर्थ को छोड़कर अन्य) अर्थ में आत्मनेपद होता है। **भुज पालनाभ्यवहारयोः** (रुधादि) धातुसूत्र में भुज के पालन और अभ्यवहार=खाना, दो अर्थ बताये हैं। सो पालन अर्थ में निषेध होने से खाने अर्थ में इस सूत्र से आत्मनेपद होगा—भुङ्क्ते भुञ्जाते भुञ्जते।

विशेष—अनेक व्यक्ति भोजन से पूर्व **सह नाववतु सह नौ भुनक्तु** मन्त्र का प्रयोग करते हैं, वह अशुद्ध है। क्योंकि 'भुनक्तु' में परस्मैपद है और वह प्रकृत सूत्र द्वारा पालन अर्थ में उपदिष्ट है। यदि खाना अर्थ अभिप्रेत होता, तो आत्मनेपद होना चाहिये था। 'भुनक्तु' का अर्थ **पालयतु** होने के कारण **अवतु** का अर्थ पालन से अतिरिक्त गति कान्ति तृप्ति आदि करना चाहिये। अथवा रक्षण और पालन में अवान्तरभेद दर्शाना चाहिये। हमारे विचार में रक्षण का अर्थ दुःख आदि से बचाना है, और पालन का अर्थ आहार द्वारा शरीर पोषण है।

स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले—(१।३।७२)—स्वरितञितः ५।१, कर्त्रभिप्राये ७।१, क्रियाफले ७।१॥ अनु०—**आत्मनेपदम्**। अर्थ—स्वरितेत् तथा ञित् धातुओं से क्रिया का फल कर्ता के लिये हो, तो आत्मनेपद होता है। मनुष्य जब पाक आदि क्रिया प्रधानरूप से अपने लिए करता है, तब उसका फल=निष्पन्न हुआ भोजन उसे प्राप्त होता है। ऐसी अवस्था में इस सूत्र से आत्मनेपद होता है—देवदत्तः ओदनं पचते। अर्थ होगा—देवदत्त अपने खाने के लिये ओदन पकाता है। इसी प्रकार—देवदत्तः यजते। ञित् से—देवदत्तः कटं कुरुते, देवदत्तः सोमं सुनुते। अर्थ होगा—देवदत्त अपने लिये चटाई बनाता है, वा स्वयं पीने के लिये सोम का रस निकालता है। किन्तु जब क्रिया प्रधानरूप से दूसरे के लिये की जाती है, तो उसमें आत्मने-पद नहीं होता, परस्मैपद होता है। जैसे भृत्यः ओदनं पचति; ऋत्विजः यजन्ति=नौकर स्वामी के लिये चावल पकाता है, ऋत्विक् यजमान के लिये यज्ञ कर रहे हैं। यहाँ पच का पाक, और यज का याग अपने लिये न होकर पर के लिये है। अतः यहाँ **शेषात् कर्तरि०** (१।३।७८) से परस्मैपद होगा।

णिचश्च—(१।३।७४)—णिचः ५।१, च अ०॥ अनु०—**कर्त्रभिप्राये क्रियाफले, आत्मनेपदम्**। अर्थ—णिजन्त धातु से आत्मनेपद होता है यदि क्रिया का फल कर्ता के लिये हो। जैसे—देवदत्तः कटं कारयते; ओदनं

पाचयते—देवदत्त अपने लिये चटाई बुनवाता है, वा चावल पकवाता है। यदि चटाई अन्य के लिये बनवाई जा रही हो, या चावल अन्य के लिये पकवाये जा रहे हों, तो णिजन्त से परस्मैपद होगा। जैसे—देवदत्तः कटं कारयति; ओदनं पाचयति।

विभाषोपपदेन प्रतीयमाने (१।३।७७)—विभाषा १।१, उपपदेन ३।१, प्रतीयमाने ७।१॥ अनु०—**कर्त्रभिप्राये क्रियाफले, आत्मनेपदम्॥** अर्थ—क्रिया का फल कर्त्ता के लिये है, यह अर्थ उपपद = क्रियापद के समीप में उच्चरित किसी पद से प्रतीयमान हो जावे = जाना जावे, तो विकल्प से आत्मनेपद होता है। यथा—देवदत्तः स्वम् ओदनं पचते पचति वा; देवदत्तः स्वं यज्ञं यजते यजति वा; देवदत्तः स्वं कटं कुरुते करोति वा॥ इसी प्रकार णिजन्त से—देवदत्तः स्वम् ओदनं पाचयते पाचयति वा; स्वं यज्ञं याजयते याजयति वा; स्वं कटं कारयते कारयति वा।

शेषात् कर्तरि परस्मैपदम् (१।३।७८)—शेषात् ५।१, कर्तरि ७।१, परस्मैपदम् १।१॥ शेष का अर्थ है—बचा हुआ, अर्थात् ऊपर के प्रकरण में जिन धातुओं से या जिन निमित्तों के होने पर आत्मनेपद कहा है, उनसे अवशिष्ट। अर्थ—शेष धातुओं वा निमित्तों से कर्ता में परस्मैपद होता है। जैसे—अनुदात्तेत् से आत्मनेपद कहा है। तो जो उदात्तेत् हैं, यथा—**अत सातत्यगमने** (धातु०, पृष्ठ ४ कालम १, २) आदि धातुओं से परस्मैपद होगा—अतति, चिन्तति। इसी प्रकार जिसमें कोई वर्ण इत्संज्ञक नहीं, उससे भी परस्मैपद होगा। जैसे—**भू सत्तायाम्** (धा० पृ० ३, का० १)—भवति। इसी प्रकार ङित् से आत्मनेपद कहा है। सो जिनमें ङ् से भिन्न वर्ण इत्संज्ञक होगा, उनसे परस्मैपद होगा। जैसे—**इण् गतौ** (धा० पृ० ३५, का० २)—एति; **इक् स्मरणे** (धा० पृ० ३५, का० २)—अध्येति।

नेर्विशः से निपूर्वक विश् से, और **विपराभ्यां जेः** से वि परा पूर्वक जि से आत्मनेपद कहा है, सो अन्य उपसर्ग पूर्व में होने पर या विना उपसर्ग के परस्मैपद होगा। जैसे—प्रविशति, विशति; अभिजयति, जयति।

पूर्ववत् सनः सूत्र से सन्नन्त से पूर्ववत् आत्मनेपद कहा। तो जहाँ पूर्वनिमित्त नहीं होंगे, वहाँ परस्मैपद होगा। जैसे—निविविक्षते में निपूर्वक से आत्मनेपद होता है, तो अन्य उपसर्ग होने या, न होने पर परस्मैपद होगा—प्रविविक्षति, विविक्षति। इसी प्रकार वि परा से भिन्न उपसर्ग पूर्व होने पर जि सन्नन्त से परस्मैपद होगा—अभिजिगीषति।

स्वरितञितः—स्वरितेत् और ञित् धातुओं से क्रियाफल कर्ता के लिये

गम्यमान होने पर आत्मनेपद कहा है। सो जहां क्रियाफल कर्ता के लिये न होकर अन्य के लिये होगा, वहां परस्मैपद होगा। जैसे—देवदत्तः ओदनं पचति; कटं करोति।

णिजन्त से भी कर्त्रभिप्राय क्रियाफल गम्यमान होने पर आत्मनेपद कहा है। परन्तु जहां क्रियाफल कर्ता के लिये—आदेश देनेवाले के लिये न हो, वहां परस्मैपद होगा। जैसे—देवदत्तः स्वाम्यर्थं कटं कारयति, ओदनं पाचयति। अर्थात् देवदत्त स्वामी के लिये चटाई बनवाता है, वा चावल पकवाता है।

अनुपराभ्यां कृञः (१।३।७९)—अनुपराभ्याम् ५।२, कृञः ५।१॥ अनु०—**परस्मैपदम्**। अर्थ—अनु परा पूर्वक कृञ् धातु से परस्मैपद होता है। जैसे—अनुकरोति, पराकरोति। यह सूत्र **स्वरितञितः** (१।३।७२) का अपवाद है। इस कारण यह कर्त्रभिप्राय क्रियाफल में आत्मनेपद की प्राप्ति होने पर परस्मैपद का विधान करता है।

इसी प्रकार **प्राद् वहः** (१।३।८१) से प्रपूर्वक **वह प्रापणे** से कर्त्रभिप्राय क्रियाफल में भी परस्मैपद का विधान करता है। जैसे—प्रवहति। **व्याङ्परिभ्यो रमः**; **उपाच्च** (१।३।८३,८४) से अनुदात्तेत् **रमु क्रीडायाम्** धातु से वि आङ् परि और उप उपसर्ग पूर्व में होने पर परस्मैपद होता है—विरमति, आरमति, परिरमति, उपरमति।

इति पद-प्रकरण ॥

विकरण-प्रकरण

स्यतासी लृलुटोः (३।१।३३)—स्यतासी १।२, लृलुटोः ७।२॥ अनु०—**धातोः** (३।१।२२ से)। अर्थ—लृ और लुट् प्रत्यय परे रहने पर, यथासंख्य स्य और तासि प्रत्यय होते हैं। लृ से लृट् और लृङ् दोनों का ग्रहण होता है। जैसे—स्य—भविष्यति, करिष्यति, अभविष्यत्, अकरिष्यत्; लुट्—भविता, कर्ता। साधनिका (=सिद्धि) प्रकार यथास्थान सुगमता से समझ में आयेगी। यहां तत्तत् लकारों में वा गणों से प्रयुक्त होनेवाले विकरणों का ज्ञान कराना ही मुख्य प्रयोजन है।

कास्प्रत्ययाद् आममन्त्रे लिटि (३।१।३५)—कास्प्रत्ययात् ५।१, आम् १।१, अमन्त्रे ७।१, लिटि ७।१॥ अनु०—**धातोः**। अर्थ—लिट् परे रहने पर कास् धातु और प्रत्ययान्त (सन्नन्त आदि) धातुओं से मन्त्र को छोड़कर

(लोक में) आम् प्रत्यय होता है। जैसे—कासाञ्चक्रे, एदिधिषांचक्रे, लोलूयांचक्रे।[1]

इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः (३।१।३६)—इजादेः ५।१, च अ०, गुरुमतः ५।१, अनृच्छः ५।१॥ अनु०—**धातोः लिटि आम् अमन्त्रे**। अर्थ—इच् (=इ उ ऋ ए ऐ ओ औ) जिसके आदि में हो, तथा जो गुरुमान् (=जिस में कोई अक्षर गुरुसंज्ञक) हो, ऐसी धातु से अमन्त्र विषय में लिट् परे आम् प्रत्यय होता है। ऋच्छ को छोड़कर। जैसे—ईहाञ्चक्रे, ऊहाञ्चक्रे, एधाञ्चक्रे।

च्लि लुङि (३।१।४३)—च्लि १।१, लुङि ७।१॥ अनु०—धातोः। अर्थ—लुङ् लकार में धातु से च्लि प्रत्यय होता है।

च्लेः सिच् (३।१।४४)—च्लेः ६।१, सिच् १।१॥ अर्थ—च्लि प्रत्यय के स्थान पर सिच् आदेश होता है। जैसे—ऐधिष्ट, ऐधिषाताम्, ऐधिषत।

शल इगुपधादनिटः क्सः (३।१।४५)—शलः ५।१, इगुपधात् ५।१, अनिटः ५।१, क्सः १।१॥ अनु०—च्लेः। अर्थ—शल् प्रत्याहारस्थ वर्ण जिसके अन्त में हो, इक् उपधा हो और अनिट् (=इट्-रहित) हो, ऐसी धातु से परे च्लि को क्स आदेश होता है। जैसे—दुह—अधुक्षत्; लिह—अलिक्षत्।

णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ् (३।१।४८)—णिश्रिद्रुस्रुभ्यः ५।३, कर्तरि ७।१, चङ् १।१॥ अनु०—च्लेः। अर्थ—ण्यन्त (=णिजन्त) श्रि द्रु और स्रु धातु से च्लि के स्थान में चङ् आदेश होता है। जैसे—णि—अचीकरत्, अजीहरत्; श्रि—अशिश्रियत्; द्रु—अदुद्रुवत्; स्रु—असुस्रुवत्।

पुषादिद्युताद्यॢदितः परस्मैपदेषु (३।१।५५)—पुषा० ॢदितः ५।१, परस्मैपदेषु ७।३॥ अनु०—च्लेः, अङ् (३।१।५२ से)। अर्थ—पुषादि द्युतादि और ॢ जिसका इत्संज्ञक हो, ऐसी धातु से परस्मैपद परे रहने पर च्लि के स्थान पर अङ् आदेश होता है। जैसे—अपुषत्, अद्युतत्, अगमत्।

लृट् लृङ् लुट् लुङ् में सामान्यरूप से, और लिट् में विशिष्ट धातुओं से होने वाले, विकरणों का निर्देश कर दिया। शेष लकार रहे—लट् लेट् लोट् लङ् विधिलिङ् आशिषि लिङ् और लिट् का अवशिष्ट अंश। इनमें से लिट् और आशिषि लिङ् की आर्धधातुक संज्ञा होती है (**लिट् च, लिङा-**

---

१. आम् प्रत्यय के मकार की इत्संज्ञा प्रयोजनाभाव से नहीं होती। अथवा यह विभक्तिरहित अकारान्त प्रत्यय है। सूत्र में दोनों अकारों का पररूप हो गया है।

शिषि सूत्र, पूर्व पृष्ठ १३० पर) । अतः इनमें सार्वधातुक परे रहने पर कहे गये विकरण प्राप्त नहीं होंगे। लेट् प्रधानतया वेद में ही प्रयुक्त होता है, अतः उसका भी यहां निर्देश नहीं करेंगे। इस प्रकार लट् लोट् लङ् और विधिलिङ् शेष रहते हैं। उनमें अगले सूत्रों से विकरण का विधान कहते हैं—

कर्तरि शप् (३।१।६८)—कर्तरि ७।१, शप् १।१॥ अनु०—सार्वधातुके (३।१।६७ से)। अर्थ—कर्ता अर्थ में आया सार्वधातुक प्रत्यय परे हो, तो धातु से शप् प्रत्यय होता है। जैसे—भवति, एधते।

विशेष—शप् यह सामान्य विकरण प्रत्यय है। दिवादि आदि ६ गणों से विशेष प्रत्ययों का विधान करेंगे। इस प्रकार भ्वादि अदादि जुहोत्यादि गणों की, तथा सन्नन्त, यङन्त, यङ्लुगन्त, णिजन्त तथा अन्य क्यच् आदि प्रत्ययान्त धातुओं से शप् विकरण होता है।

अदादिगण की धातुओं से परे शप् का **अदिप्रभृतिभ्यः शपः** (२।४।७२, अनु०—लुक् २।४।५८ से) से लुक् हो जाता है, और जुहोत्यादिगण की धातुओं से परे शप् का **जुहोत्यादिभ्यः श्लुः** (२।४।७५, अनु०—शपः) से श्लु हो जाता है। इस प्रकार शप् की स्पष्ट उपस्थिति भ्वादि तथा कतिपय प्रत्ययान्त धातुओं में ही लक्षित होती है।

दिवादिभ्यः श्यन् (३।१।६९)—दिवादिभ्यः ५।३, श्यन् १।१॥ अनु०—कर्तरि सार्वधातुके। अर्थ—कर्तृवाची सार्वधातुक प्रत्यय परे हो, तो दिवादिगण की धातुओं से श्यन् प्रत्यय होता है। जैसे—दीव्यति, शाम्यति।

स्वादिभ्यः श्नुः (३।१।७३)—स्वादिभ्यः ५।३, श्नुः १।१॥ अनु०—कर्तरि सार्वधातुके। अर्थ—कर्तृवाची सार्वधातुक प्रत्यय परे रहने पर स्वादिगण की धातुओं से श्नु प्रत्यय होता है। जैसे—सुनोति, चिनोति।

श्रुवः शृ च (३।१।७४)—श्रुवः ६।१, शृ १।१, च अ०॥ अनु०—कर्तरि सार्वधातुके श्नुः। अर्थ—कर्तावाची सार्वधातुक प्रत्यय परे हो, तो श्रु धातु को शृ आदेश और श्नु प्रत्यय होता है। श्रु श्रवणे भ्वादिगण की धातु है, उससे श्नु का विधान और शृ आदेश का विधान इस सूत्र से किया है।

तुदादिभ्यः शः (३।१।७७)—तुदादिभ्यः ५।३, शः १।१॥ अनु०—कर्तरि सार्वधातुके। अर्थ—कर्तावाची सार्वधातुक प्रत्यय परे रहने पर तुदादिगण की धातुओं से श प्रत्यय होता है। जैसे—तुदति, नुदति।

रुधादिभ्यः श्नम् (३।१।७८)—रुधादिभ्यः ५।३, श्नम् १।१॥ अनु०—**कर्तरि सार्वधातुके**। अर्थ—कर्तृवाची सार्वधातुक प्रत्यय परे रहने पर रुधादिगण की धातुओं से श्नम् प्रत्यय होता है। जैसे—रुणद्धि, भिनत्ति। मित् होने से अन्त्य अच् से परे होता है।

तनादिकृञ्भ्यः उः (३।१।७९)—तनादिकृञ्भ्यः ५।३, उः १।१॥ अनु०—**कर्तरि सार्वधातुके**। अर्थ—कर्तृवाची सार्वधातुक प्रत्यय परे रहने पर तनादिगण की धातुओं से, तथा कृञ् धातु से उ प्रत्यय होता है। जैसे—तनोति, तनुते; करोति, कुरुते।

क्र्यादिभ्यः श्ना (३।१।८१)—क्र्यादिभ्यः ५।३, श्ना १।१॥ अनु०—**कर्तरि सार्वधातुके**। अर्थ—कर्तृवाची सार्वधातुक प्रत्यय परे रहने पर क्र्यादिगण की धातुओं से श्ना प्रत्यय होता है। जैसे—क्रीणाति, पुनाति।

व्यत्ययो बहुलम् (३।१।८५)—व्यत्ययः १।१, बहुलम् १।१॥ अनु०—**छन्दसि** (३।१।८४)। यह सूत्र समस्त विकरण प्रत्ययों के अन्त में पढ़ा है। अतः इसका अर्थ होगा—पूर्व निर्दिष्ट विकरण प्रत्यय वेद में व्यत्यय से बहुल करके—बहुधा होते हैं। अर्थात् जहां जिसका विधान किया है, उससे अन्यत्र भी देखे जाते हैं। यथा—भेदति, श्रवति। भिदिर् विदारणे रुधादिगण की धातु है। उससे श्नम् विकरण होनी चाहिये, परन्तु शप् हो गया। इसी प्रकार श्रु श्रवणे से ३।१।७४ सूत्र से श्नु विकरण और शृ आदेश का विधान किया है, वह न होकर शप् हो गया।

॥ इति विकरण प्रकरण ॥

तिङादेश-प्रकरण

अब यह बताया जायेगा कि किस लकार में किस तिङ् प्रत्यय को क्या आदेश होते हैं। इन आदेशों का ज्ञान हो जाने पर प्रायः दसों लकारों के प्रत्ययों में जो अन्तर दिखाई देता है, वह समझ में आ जायेगा।

टित आत्मनेपदानां टेरे (३।४।७९)—टितः ६।१, आत्मनेपदानाम् ६।३, टेः ६।१, ए अविभ०॥ अनु०—**लस्य** (३।४।७७ से)। अर्थ—टित् लकार के आत्मनेपदसंज्ञक प्रत्ययों की टि भाग को 'ए' आदेश हो जाता है। जैसे—

त=ते आताम्=आते (झ=)[1] अन्त=अन्ते

१. झोऽन्तः, अदभ्यस्तात्, आत्मनेपदेष्वनतः (७।१।३,४,५) अत=अते—दधते, आसते।

थास्=से आथाम्=आथे ध्वम्=ध्वे
इट्=ए वहि=वहे महि=महे

थासः से (३।४।८०)—थासः ६।१, से १।१॥ अनु०—लस्य, टितः। अर्थ—टित् लकार के थास् के स्थान पर से आदेश होता है। जैसे—एधसे, पचसे। भविष्यसे, पक्ष्यसे।[1]

लिटस्तझयोरेशिरेच् (३।४।८१)—लिटः ६।१, तझयोः ६।२, एशिरेच् १।१॥ अर्थ—लिट्-सम्बन्धी त झ के स्थान में क्रमशः एश् और इरेच् आदेश होते हैं। जैसे—

त=ए (मुद्=मुमुदे) झ=इरे (मुमुदिरे)

एश् आदेश एकाल् होने पर भी शित् होने के कारण '**अनेकाल्शित्सर्वस्य**' (१।१।५४) के नियम से सर्वादेश होता है।

'**परस्मैपदानां णलतुसुस्थलथुसणल्वमाः**' (३।४।८२)—परस्मैपदानाम् ६।३, णल्...वमाः १।३॥ अर्थ—लिट् को परस्मैपदसंज्ञक प्रत्ययों के स्थान पर क्रमशः णल्, अतुस्, उस्; थल्, अथुस्, अ; णल्, व, म आदेश होते हैं। इस प्रकार लिट् के प्रत्ययों का रूप इस प्रकार बना—

णल्=अ (बभूव) अतुस् (बभूवतुः) उस् (बभूवुः)
थल्=थ (बभूविथ) अथुस् (बभूवथुः) अ (बभूव)
णल्=अ (बभूव) व (बभूविव) म (बभूविम)

लोटो लङ्वत् (३।४।८५)—लोटः ६।१, लङ्वत् अव्यय॥ अर्थ—लोट् को लङ्वत् कार्य होता है। लङ् प्रत्यय ङित् हैं, अतः ङित् लकारों को आगे कहे गये कार्य लोट् में भी होंगे। ङित् के कार्य हैं—उत्तम पुरुष के स् का लोप, इकार का लोप, और तस् थस् थ मिप् प्रत्ययों के स्थान में क्रमशः ताम् तम् त अम् आदेश (अ० ३।४।९९-१०१ सूत्रों से) होता।

लोट को लङ्वत् अतिदेश करने से तिप् सिप् मिप् और झि के इकार का लोप प्राप्त होता है, उसका अपवाद—

एरुः (३।४।८६)—एः ६।१, उः १।१॥ अनु०—लोटः। अर्थ—लोट् के इकार को उकार आदेश होता है। इससे ति=तु, अन्ति (झि)=अन्तु हो जाता है।

सेर्ह्यपिच्च (३।४।८७)—सेः ६।१, हि १।१, अपित् १।१, च अ०॥

---

1. अगले ३।४।८० से 'से' आदेश।

अनु०—लोटः। अर्थ—लोट् लकार के सि (=सिप्) के स्थान पर हि आदेश हो जाता है, और वह 'हि' अपित् होता है। सि=(सिप्) प्रत्यय पित् था, उसके स्थान पर जो 'हि' आदेश होता, वह भी **स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ** (१।१।५५) के नियम से पित् ही होता। उसे यहां अपित् कहकर स्थानिवद्भाव से प्राप्त पित्त्व धर्म की निवृत्ति कर दी। पित् सार्वधातुक ङित् नहीं होता है—**सार्वधातुकम् अपित्** (१।२।४), अपित् द्वारा पित्त्व को हटा देने से वह ङित् होगा। और ङित् होने से उसके परे **क्ङिति च** (१।१।५) से गुण का निषेध होगा। जैसे—विद् हि=विद्धि।

मेर्निः (३।४।८९)—मेः ६।१; निः १।१॥ अनु०—लोटः। अर्थ—लोट् सम्बन्धी मि को नि आदेश हो जाता है। जैसे—पठानि।

इस प्रकार इ के स्थान पर उ, सि के स्थान पर हि और मि के स्थान पर नि का विधान कर देने से लङ्वत् अतिदेश से जो ३।४।१०० सूत्र से इकार का लोप प्राप्त होता था, वह नहीं होता। शेष लङ् कार्य हो जाते हैं। इस प्रकार परस्मैपद के लोट् लकार के प्रत्ययों के निम्न रूप बनते हैं—

तिप्=ति=तु	तस्=ताम्	अन्ति=अन्तु
सिप्=सि=हि	थस्=तम्	थ=त
मिप्=मि=नि	वस्=व	मस्=म

आडुत्तमस्य पिच्च (३।४।९२)—आट् १।१, उत्तमस्य ६।१, पित् १।१, च अ०॥ अनु०—लोटः। अर्थ—लोट् लकार के उत्तम पुरुष को आट् का आगम होता है, और वह पित् होता है। आट् का आगम होने पर उत्तम पुरुष के प्रत्ययों का रूप होगा—

परस्मैपद में—**आनि** **आव** **आम**

आत्मनेपद में—आ ऐ=ऐ, आवहि=**आवहै**, आमहि=**आमहै**

इस आट् आगम का साक्षात् फल शप् श्यन् श विकरणों में उपलब्ध नहीं होता। अकारान्त विकरणों में तो **अतो दीर्घो यञि** (७।३।१०१) से भी दीर्घ होकर बिना आट् आगम के भी कार्य चल सकता था। इसलिये इसके रूप समझें—

(प०)	करवाणि	करवाव	करवाम
(आ०)	करवै	करवावहै	करवामहै

अब लोट् के आत्मनेपद में आदेशों का निर्देश करते हैं—

आमेतः (३।४।९०)—आम् १।१, एतः ६।१ ॥ अनु०—लोटः । अर्थ—लोट् सम्बन्धी एकार के स्थान में आम् आदेश होता है। पहले सूत्र ३।४।७९ से टि को एकार आदेश हो जाने पर लोट् लकार में 'ए' के स्थान पर 'आम्' हो जाता है। जैसे—

त= ते= त् आम्= ताम्=पचताम्
आताम्= आते= आत् आम्= आताम्=पचेताम्
अन्त= अन्ते= अन्त् आम्= अन्ताम्=पचन्ताम्
आथाम्= आथे= आथ् आम्= आथाम्=पचेथाम्

सवाभ्यां वामौ (३।४।९१)—सवाभ्याम् ५।२, वामौ १।२ ॥ अनु०—लोटः, एतः । अर्थ—लोट् सम्बन्धी जो स् व् इनसे परे विद्यमान एकार को यथाक्रम व अम् आदेश होते हैं। जैसे—

थास्=से= स् व= स्व=पचस्व
ध्वम्=ध्वे= ध्व् अम्= ध्वम्=पचध्वम्

एत ऐ (३।४।९३)—एतः ६।१, ऐ अविभ० ॥ अनु०—लोटः उत्तमस्य । अर्थ—लोट् सम्बन्धी उत्तम पुरुष के एकार को ऐकार हो जाता है। जैसे—

आ (आट्) इ= आ ए= आ ऐ=ऐ =पचै
आ वहि= आ वहे= आवहै =पचावहै
आ महि= आ महे= आमहै =पचामहै

नित्यं ङितः (३।४।९९)—नित्यम् १।१, ङितः ६।१ ॥ अनु०—लोपः स उत्तमस्य परस्मैपदेषु । अर्थ—ङित् लकार सम्बन्धी उत्तम पुरुष के सकार का परस्मैपद में नित्य लोप होता है। जैसे—वस्=व; मस्=म ।

इतश्च (३।४।१००)—इतः ६।१, च अ० ॥ अनु०—लोपः परस्मैपदेषु ङितः । अर्थ—ङित् लकार सम्बन्धी इकार का परस्मैपद में लोप होता है। जैसे—तिप्=ति=त्; झि=अन्ति=अन्त्=अन्; सिप्=सि=स् ।

तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः (३।४।१०१)—तस्थस्थमिपाम् ६।३, तान्तन्तामः १।३ ॥ अनु—ङितः, परस्मैपदेषु । अर्थ—ङित् लकार सम्बन्धी तस् थस् थ मिप् प्रत्ययों के स्थान में यथासंख्य ताम् तम् त अम् आदेश होते हैं। इस प्रकार लिङ् को छोड़कर (विशेष विधान होने से) लङ् लुङ् लृङ् लकारों के प्रत्ययों का रूप होगा—

तिप्=ति=त् तस्=ताम् झि—अन्ति=अन्त्=अन्

सिप्=सि=स्, थस्=तम्, थ=त
मिप्=मि=अम् वस्=व मस्=म

	लङ्			लृङ्	
जैसे– अपचत्	अपचताम्	अपचन्	अपक्ष्यत्	अपक्ष्यताम्	अपक्ष्यन्
अपचः	अपचतम्	अपचत	अपक्ष्यः	अपक्ष्यतम्	अपक्ष्यत
अपचम्	अपचाव	अपचाम	अपक्ष्यम्	अपक्ष्याव	अपक्ष्याम

लिङ् लकार में कुछ विशेष—

लिङः सीयुट् (३।४।१०२)—लिङः ६।१, सीयुट् १।१ ॥ अर्थ—लिङ् के स्थान पर होनेवाले प्रत्ययों को सीयुट् का आगम होता है। परस्मैपद में अगले सूत्र से यासुट् का आगम कहा है। अतः यह आत्मनेपद में होता है, ऐसा जानना चाहिये। टित् होने से आरम्भ में होता है। जैसे—सीयुट् त।

यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च (३।४।१०३)—यासुट् १।१, परस्मैपदेषु ७।३, उदात्तः १।१, ङित् १।१, च अ० ॥ अनु०—लिङः। अर्थ—लिङ् के प्रत्ययों को परस्मैपद में यासुट् का आगम होता है और वह उदात्त तथा ङित् होता है।

किदाशिषि (३।४।१०४)—कित् १।१, आशिषि ७।१ ॥ अनु०—लिङः यासुट् परस्मैपदेषु उदात्तः। अर्थ—आशिषि लिङ् में यासुट् का आगम होता है, और वह उदात्त तथा कित् होता है।

झस्य रन्[1] (३।४।१०५)—झस्य ६।१, रन् १।१ ॥ अनु०—लिङः। अर्थ—लिङ् के झ प्रत्यय को रन् आदेश होता है।

इटोऽत् (३।४।१०६)—इटः ६।१, अत् १।१ ॥ अनु०—लिङः। अर्थ—लिङ् के इट् (आत्म०, उ० पु०, एकव०) को अत् आदेश होता है।

सुट् तिथोः (३।४।१०७)—सुट् १।१, तिथोः ६।२ ॥ अनु०—लिङः। अर्थ—लिङ् सम्बन्धी तकार थकार को सुट् का आगम होता है।

विशेष—सीयुट् और यासुट् लिङ् को आगम होते हैं, और सुट् त, थ वर्ण को। अतः सुट् का सकार आत्मनेपद आताम् आथाम् के मध्य में प्रविष्ट हो जाता है—कृञ् सीयुट् आ सुट् ताम्। जैसे—कृषीष्ट, कृषीया-

---

१. 'हलन्त्यम्' से प्राप्त नकार का लोप न विभक्तौ तुस्माः (१।३।४) से प्रतिषिद्ध हो जाता है।

स्ताम्; कृषीष्ठाः, कृषीयास्थाम्। यह सुट् परस्मैपद आत्मनेपद दोनों में होता है। परन्तु परस्मैपद में एक सकार ही सुनाई देता है—भूयास्ताम्; क्रियास्ताम्।

झेर्जुस् (३।४।१०८)—झेः ६।१, जुस् १।१ ॥ अनु०—**लिङः**। अर्थ—लिङ् के झि को जुस् आदेश होता है। यह झोऽन्तः (७।१।३) का अपवाद है।

लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य (७।२।७९)—लिङः ६।१, सलोपः १।१, अनन्त्यस्य ६।१ ॥ अनु०—**सार्वधातुके** (७।२।७६ से)। अर्थ—सार्वधातुक लिङ् (=विधिलिङ्) के अनन्त्य (=जो अन्त में नहीं है ऐसे) सकार का लोप होता है। इससे दोनों सकारों का लोप हो जाता है। जैसे—भू अ यास् स् त् =भू अ या त्। एध् अ सीय् स् त=एध् अ ईय् त। शेष कार्य अगले सूत्र में देखें।

अतो येयः (७।२।८०)—अतः ५।१, या, अवि०, इयः १।१ (इय में अकार उच्चारणार्थ) ॥ अनु०—**सार्वधातुकस्य**, **लिङः**। अर्थ—अकारान्त अङ्ग से उत्तर सार्वधातुक लिङ् के 'या' को 'इय्' आदेश होता है। जैसे—भू अ या त्=भू अ इय् त्=भो अ इय् त्=भव इय् त्। **आद् गुणः** (६।१।८४) से गुण, और **लोपो व्योर्वलि** (६।१।६४) से य् लोप होकर=भवेत्। इसी प्रकार एध् अ ईय् त=एधेत।

आशिषि लिङ् के आर्धधातुक होने से आत्मनेपद में दोनों सकार, और परस्मैपद में एक सकार (भूयास्ताम् आदि) सुनाई पड़ता है। विशेष यथास्थान प्रक्रिया भाग में देखें।

आतो ङितः (७।२।८१)—आतः ६।१, ङितः ६।१ ॥ अनु०—**सार्वधातुकस्य**, **अतः**, **इयः**। ङितः=अवयवार्थ में षष्ठी है। अर्थ—अकारान्त अङ्ग से उत्तर ङित् के अवयव आकार को इय् आदेश होता है। जैसे—पच् अ आताम्=पच् अ इय् ताम्=पच् अ इ ताम्=पचेताम्।

विशेष—लिङ् लकार के विधि और आशिषि भेद से प्रत्ययों के रूपों में अन्तर पड़ता है। अतः हमने इसके रूप यहाँ नहीं दिखाये, यथास्थान ही समझने का प्रयत्न करें।

इति तिङादेश प्रकरण ॥

द्विर्वचन-प्रकरण

एकाचो द्वे प्रथमस्य (६।१।१)—एकाचः ६।१, द्वे १।२, प्रथमस्य

६।१ ॥ यह अधिकारसूत्र है। इसकी अनुवृत्ति ६।१।११ तक जाती है। 'एकाच्' शब्द में बहुव्रीहि समास है—एक अच् है जिस समुदाय में। अर्थ—प्रथम एकाच् को द्विर्वचन होता है। उदाहरण आगे इसी प्रकरण में देखें।

अजादेर्द्वितीयस्य (६।१।२)—अजादेः ६।१, द्वितीयस्य ६।१। अनु०—द्वे एकाचः। यह भी अधिकार है ६।१।११ तक। अर्थ—जिसके आदि में अच् है, उसके द्वितीय एकाच् को द्विर्वचन होता है।

न न्द्राः संयोगादयः (६।१।३)—न अ०, न्द्राः १।३, संयोगादयः १।३॥ अनु०—**द्वितीयस्य एकाचः द्वे**। अर्थ—द्वितीय एकाच् के संयोग के आदि में न् द् र् आदि हों, तो उनको द्विर्वचन नहीं होता। जैसे—इन्ध इ स= इन्धिष, यहां ६।१।१० से द्विर्वचन प्राप्त होने पर अजादि होने से द्वितीय एकाच् न्धि को द्विर्वचन प्राप्त होता है। यहां न् ध् का संयोग है, और न् उसके आदि में है, अतः उसको द्विर्वचन नहीं होगा—इन् दि धिष=इन्दिधिषते। इसी प्रकार द् र् के सम्बन्ध में भी समझें।

पूर्वोऽभ्यासः (६।१।४)—पूर्वः १।१, अभ्यासः १।१॥ अनु०—द्वे। यहां अनुवर्तमान 'द्वे' पद पूर्व शब्द के योग में षष्ठ्यन्त हो जाता है। अर्थ—द्विर्वचन को प्राप्त हुये का प्रथम अवयव अभ्याससंज्ञक होता है। अभ्याससंज्ञक पूर्व भाग को विहित कार्यों का निदर्शन इस प्रकरण के पश्चात् करेंगे।[1]

उभे अभ्यस्तम् (६।१।५)—उभे १।२, अभ्यस्तम् १।१॥ अनु०—द्वे। अर्थ—जो द्विर्वचन को प्राप्त हुये दोनों भाग हैं, उनकी अभ्यस्त संज्ञा होती है। अभ्यस्त संज्ञा के कार्य **अदभ्यस्तात्** (७।१।४) आदि हैं। इस सूत्र से अभ्यस्तसंज्ञक दादा से परे प्रथम पुरुष बहुवचन झि के झकार को अत् होकर अति रूप बनता है। इससे दा दा अति=द[2] दा अति=दद् अति=ददति; दधति आदि प्रयोग निष्पन्न होते हैं।

लिटि धातोरनभ्यासस्य (६।१।८)—लिटि ७।१, धातोः ६।१, अनभ्यासस्य ६।१॥ अनु०—**एकाचो द्वे प्रथमस्य अजादेर्द्वितीयस्य**। अर्थ—लिट् परे रहने पर धातु के प्रथम एकाच् को द्विर्वचन होता है, और अजादि

---

१. ह्रस्वः (७।४।५९) से अभ्यास को ह्रस्व होता है।

२. श्नाभ्यस्तयोरातः (६।४।११२) से अभ्यस्तसंज्ञक 'ददा' अंग के आकार का लोप होता है।

धातु के द्वितीय एकाच् को, अभ्यास को छोड़कर[1]। जैसे—अजागार (=जागृ तिप्=जागृ णल्=जागृ अ=जा जागृ अ=ज[2] जागृ अ=अजागार[3] अ)। प्रोर्णुनाव (=ऊर्णु तिप्=ऊर्णु णल्=ऊर्णु अ=उर् नु नु अ=ऊर्णुनु अ=ऊर्णुनौ[3] अ=ऊर्णुनाव् अ=प्र+ऊर्णुनाव=प्रोर्णुनाव)।

विशेष—द्विवचन करने में जहां धातु अनेकाच् होती है, वहां प्रथम और द्वितीय एकाच् को द्विवचन सुगमता से हो जाता है। जैसे—'जागृ' में जा को; 'ऊर्णु' में 'नु' को। परन्तु जो एकाच् धातु होती है, जैसे—पच् अत्, इनमें एक ही एकाच् होने से प्रथम और द्वितीय एकाच् को कहां द्विवचन कैसे हो, इसके लिये 'व्यपदेशिवद् एकस्मिन्' परिभाषा इसी भाग में पूर्व पृष्ठ १३ पर लिखी है। उसके अभिप्राय को भली प्रकार समझ लें। इसका तात्पर्य यह है कि मुख्य प्रथमत्व और द्वितीयत्व न होने पर एक में ही प्रथम द्वितीय का गौण प्रयोग मानकर द्विवचन कर लेना चाहिये। जैसे—लोक में किसी का एक ही पुत्र हो, तो वही उसके लिये ज्येष्ठ भी है और कनिष्ठ भी। अतः उक्त परिभाषा-बोधित लौकिक न्याय के अनुसार पच् को प्रथम एकाच् मानकर पच् पच्, और अत् को अजादि का द्वितीय एकाच् मानकर अत् अत् द्विवचन हो जाता है।

इसी प्रकार यदि कोई एक अच् रूप ही धातु हो, जैसे—इण्=इ,

---

१. 'अभ्यास को छोड़कर' का अभिप्राय यह है कि यदि किसी धातु को किसी प्रत्यय के परे रहने पर एक बार द्विवचन हो गया हो, और उससे पुनः कोई ऐसा प्रत्यय आये, जिसके परे रहने पर पुनः द्विवचन प्राप्त होता हो, तो वह प्रथम एकाच् अजादि में द्वितीय एकाच् वही भाग होगा, जो पूर्व प्रत्यय निमित्त द्विवचन होकर अभ्याससंज्ञक बन चुका है, उसे पुनः द्विवचन नहीं होगा। जैसे—लू यङ्=लू लू य (६।१।९) से यङ्-निमित्त द्विवचन होने पर प्रथम लू की अभ्यास संज्ञा होती है। इस लू लू य से सन् प्रत्यय आने पर सन्निमित्तक पुनः द्विवचन (६।१।९ से) प्राप्त होता है। इस अवस्था में प्रथम एकाच् लू है, यह यङ्निमित्तक द्विवचन होने पर अभ्याससंज्ञक है। अतः इसे पुनः द्विवचन नहीं होगा। इसी प्रकार अजादि—ऊर्णु यङ्=ऊर्णु नूय। पुनः सन्—ऊर्णु नूय स' अब यहां पुनः प्रथम नु (णु) को प्राप्त होनेवाला द्विवचन नहीं होगा।

२. ह्रस्वः (७।४।५९) से अभ्यास को ह्रस्व।

३. अचो ञ्णिति (७।२।११५) से अजन्त अंग को वृद्धि।

४. 'ऊर्णु' में रेफ के कारण णत्व हुआ है, मूलतः 'नु' ही है, अतः 'नु नु' द्विवचन होता है।

इक्—इ, इनमें भी 'एक अच् समुदाय में है जिसके' अर्थ का मुख्यत्व होने पर 'व्यपदेशिवद् एकस्मिन्' परिभाषा से ही एकाच् का गौण प्रयोग = एक में भी समुदाय शब्द का प्रयोग मानकर द्विवचन हो जाता है।

सन्यङोः (६।१।९)—सन्यङोः ६।२॥ अनु०—**धातोः अनभ्यासस्य एकाचो द्वे प्रथमस्य अजादेर्द्वितीयस्य**। अर्थ—सनन्त और यङन्त धातु के प्रथम एकाच् को, और अजादि के द्वितीय एकाच् को द्विवचन होता है, अभ्यास को छोड़कर। जैसे—बुभूषति, एदिधिषते; पापच्यते। (सिद्धि सन्नन्त यङन्त प्रकरण में बताई जायेगी)।

श्लौ (६।१।१०)—श्लौ ७।१॥ अनु०—**धातोरनभ्यासस्य एकाचो द्वे प्रथमस्य अजादेर्द्वितीयस्य**। अर्थ—श्लु होने पर धातु के प्रथम एकाच् को, और अजादि के द्वितीय एकाच् को द्विवचन होता है, अभ्यास को छोड़कर। जैसे—ददाति, जुहोति।

चङि (६।१।११)—चङि ७।१॥ अनु०—**धातोरनभ्यासस्य एकाचो द्वे प्रथमस्य अजादेर्द्वितीयस्य**। अर्थ—चङ् परे रहने पर धातु के प्रथम एकाच् को, और अजादि के द्वितीय एकाच् को द्विवचन होता है, अभ्यास को छोड़कर। जैसे—अपीपचत्, अपीपठत्; आटिटत् आशिशत् (सिद्धि णिजन्तप्रकरण में देखें)।

इति द्विवचन-प्रकरण॥

अभ्यास-कार्य-प्रकरण

अत्र लोपोऽभ्यासस्य (७।४।५८) यहां से आगे **अभ्यासस्य** का अधिकार ७।४।९७ तक जाता है।

ह्रस्वः (७।४।५९)—ह्रस्वः १।१॥ अनु०—**अभ्यासस्य**। अर्थ—अभ्याससंज्ञक को ह्रस्व होता है। जैसे—जागृ णल्=जा जागृ अ=ज जागृ अ=जजागार। ढौकृ एश् (लिट् आ० प्र०)=ढौ ढौक् ए, ढु ढौक् ए (**एच इग्घ्रस्वादेशे** १।१।४७ से 'औ' के स्थान पर 'उ' ह्रस्व होता है); ढु ढौक् ए (**अभ्यासे चर्च** ८।४।५३ से 'ढ' को ड)=डुढौके।

हलादिः शेषः (७।४।६०)—हल् १।१, आदिः १।१, शेषः १।१॥ अनु०—**अभ्यासस्य**। अर्थ—अभ्यास का आदि हल् शेष रहता है अर्थात् अनादि हल् निवृत्त (लुप्त) हो जाते हैं। जैसे—पच् णल्=पच् पच् अ=

पे पच् अ = पपाच् अ = पपाच ; अट् णल् = अट् अट् अ = अ अट् अ = अ आट् अ, आ आट् अ = आट ।

शर्पूर्वाः खयः (७।४।६१)—शर्पूर्वाः १।३, खयः १।३ ।। अनु०—अभ्यासस्य । अर्थ—अभ्यास के शर् वर्ण जिसके पूर्व में हैं, ऐसे खय् वर्ण शेष रहते हैं । जैसे—स्था—तिष्ठासति (स्था सन् = स्था स्था स = थ स्था स = त[1] स्था स, ति[2] स्था स = तिष्ठासति) ।

कुहोश्चुः (७।४।६२)—कुहोः ६।२, चुः १।१ ।। अनु०—अभ्यासस्य । अर्थ—अभ्यास के कवर्ग और हकार को चवर्ग हो जाता है । जैसे—क—चकार, गम्—जगाम; हृ—जहार (हृ णल् = हृ अ = हृ हृ अ = भृ[3] हृ अ = ज[3] हृ अ = जर्[4] हृ अ = ज हृ अ = ज हार् अ = जहार) ।

उरत् (७।४।६६)—उः ६।१, अत् १।१।। अनु०—अभ्यासस्य । अर्थ—अभ्यास के ऋकार को अकारादेश हो जाता है । यह अकारादेश उरण् रपरः (१।१।५०) के नियम से रपर होकर अर् होता है । जैसे—हृ—जहार; भृ—बभार । अर् के रेफ का हलादिः शेषः (७।४।६०) से लोप हो जाता है ।

अत आदेः (७।४।७०)—अतः ६।१, आदेः ६।१।। अनु०—अभ्यासस्य, दीर्घः (७।४।६७ से), लिटि (७।४।६८ से) । अर्थ—लिट् परे अभ्यास के आदि अकार को दीर्घ होता है । जैसे—अट्—णल् = अट् अ = अट् अट् अ = अ अट् अ = आ अट् अ = आ आट् अ = आट, आटतुः, आटुः ।

भवतेरः (७।४।७३)—भवतेः ६।१, अः १।१।। अनु०—अभ्यासस्य लिटि । अर्थ—भू के अभ्यास को अकारादेश होता है, लिट् परे रहने पर । जैसे—बभूव (भू—णल्, भू अ, भू वुक्[5] अ, भू व् अ, भूव् भूव् अ, भू भूव् अ, भु भूव् अ, भ भूव् अ, बभूव् अ = बभूव) ।

सन्यतः (७।४।७९)—सनि ७।१।। अतः ६।१।। अनु०—अभ्यासस्य,

---

१. अभ्यासे चर्च (८।४।५३) से थ को त ।

२. सन्यतः (७।४।७९) से इकार ।

३. ह को चवर्ग होने पर स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) के नियम से झ होगा (हकारेण चतुर्थः) । ४. अभ्यासे चर्च (८।४।५३) ।

५. उरत् (७।४।६६) से अत्, उरण् रपरः (१।१।५०) से रपर ।

६. भुवो वुग् लुङ्लिटोः (६।४।८८) से वुक् का आगम ।

इत् (६।४।७४ से)। अर्थ—सन् परे रहने पर अभ्यास के अकार को इकार आदेश हो जाता है। जैसे—तिष्ठासति, पिपक्षति।

गुणो यङ्लुकोः (७।४।८२)—गुणः १।१, यङ्लुकोः ७।२।। अनु०—अभ्यासस्य। अर्थ—यङ् और यङ्लुक् परे अभ्यास को गुण हो जाता है। जैसे—लोलूयते (लू—यङ्, लू लू य, लो लू य, यङ् के ङित् से होने से आत्मनेपद=लोलूयते); यङ्लुक् लोलवीति।

दीर्घोऽकितः (७।४।८३)—दीर्घः १।१, अकितः ६।१।। अनु०—अभ्यासस्य यङ्लुकोः। अर्थ—यङ् और यङ्लुक् परे अकित् अभ्यास को दीर्घ होता है। जैसे—पच्—य=पापच्यते; पापचीति। अकित् से उस अभ्यास को निषेध किया है, जिसको नीक् नुक् (७।४।८४,८६ से) का आगम होता है।

सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे (७।४।९३)—सन्वत् अ०, लघुनि ७।१, चङ्परे ७।१, अनग्लोपे ७।१।। अनु०—अभ्यासस्य। अर्थ—चङ् परे है जिस णि के उसके परे रहने पर अभ्यास को सन्वत् कार्य हो, लघु अक्षर परे रहते पर, अक् का लोप न हो तो। सन्वत् कार्य का अतिदेश होने से सन्यतः (७।४।७९) से विहित इकारादेश चङ् परे भी होता है। जैसे—अपीपचत्। साधनिका णिजन्त प्रक्रिया में देखें।

दीर्घो लघोः (७।४।९४)—दीर्घः १।१, लघोः ६।१।। अनु०—अभ्यासस्य, लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे। अर्थ—चङ् परे णि परे रहने पर लघु अभ्यास को दीर्घ हो जाता है। लघु अक्षर परे रहने पर, अग्लोपी अङ्ग को छोड़कर। जैसे—अपीपचत्।

॥ इति अभ्यास-कार्य-प्रकरण ॥

इट्-इट्-निषेध-प्रकरण

आर्धधातुकस्येड् वलादेः (७।२।३५)—आर्धधातुकस्य ६।१, इट् १।१, वलादेः ६।१।। अनु०—अङ्गस्य। अर्थ—अङ्ग के वलादि आर्धधातुक को इट् का आगम होता है। जैसे—भविता, भवितव्यम्।

एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् (७।२।१०)—एकाचः ५।१, उपदेशे ७।१, अनुदात्तात् ५।१।। अनु०—न इट् (७।२।८ से)। अर्थ—उपदेश अवस्था में जो धातु एकाच् और अनुदात्त है, उससे परे प्रत्यय को इट् का आगम नहीं होता। यहाँ आर्धधातुकस्येड् वलादेः (७।२।३५) से जो सामान्य विहित

इडागम प्राप्त था, उसको एकाच् अनुदात्त से परे निषेध किया है। कौन-कौनसी धातुएं अनुदात्त हैं, इस का परिगणन पृष्ठ १२५–१२६ तक कर दिया गया है।

कृसृभृवृस्तुद्रुस्रुश्रुवो लिटि (७।२।१३)—कृसृ... श्रुवः ६।१, लिटि ७।१।। अनु०—न इट्। अर्थ—कृ सृ भृ वृ स्तु द्रु स्रु श्रु धातुओं को लिट् परे इट् का आगम नहीं होता। जैसे—कृ—चकृव, चकृम; सृ—ससृव, ससृम; भृ—बभृव, बभृम; वृ—ववृव, ववृम; स्तु—तुष्टुव, तुष्टुम; द्रु—दुद्रुव, दुद्रुम; स्रु—सुस्रुव, सुस्रुम; श्रु—शुश्रुव, शुश्रुम।

विशेष—इस सूत्र में पठित कृ सृ भृ आदि धातुएं एकाच् और अनुदात्त हैं। अतः इनमें इट् का निषेध पूर्वसूत्र (७।२।१०) से प्राप्त ही है। पुनः निषेध करने का प्रयोजन यह है कि लिट् में ये धातुएं ही अनिट् हों, अन्य एकाच् अनुदात्त धातुओं से इट् हो जावे। जैसे—बिभिदिव, बिभिदिम। यह नियम व्याकरण में क्रादि-नियम कहाता है।

गमेरिट् परस्मैपदेषु (७।२।५८)—गमेः ५।१, इट् १।१, परस्मैपदेषु ७।३।। अनु०—से (७।२।५७ से)। अर्थ—गम् अङ्ग से परे परस्मैपद परे रहने पर सकारादि प्रत्यय को इट् का आगम हो। जैसे—गमिष्यति, अगमिष्यत्। गम् धातु के अनुदात्त होने से इट् का निषेध प्राप्त था।

अचस्तास्वत् थल्यनिटो नित्यम् (७।२।६१)—अचः ५।१, तास्वत् अ०, थलि ७।१, अनिटः ५।१, नित्यम् १।१।। अनु०—इट् न (७।२।५९ से)। अर्थ—जो अजन्त धातुएं तास् (तासि-लुट् विक०) परे नित्य अनिट् हैं, उनसे थल् परे इट् का आगम नहीं होता। तास् परे नित्य अनिट् धातुएं हैं एकाच् अनुदात्त (७।२।१०)। उनमें से अजन्त धातुओं को थल् परे इट् का आगम नहीं होता। वस्तुतः एकाच् अनुदात्त अजन्त धातुओं से थल् (लिडादेश) को इट् के आगम का निषेध **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** (७।२।१०) से प्राप्त था। परन्तु कृसृभृ० (७।२।१३) के क्रादि-नियम से कृ सृ भृ आदि सूत्र पठित धातुओं के अतिरिक्त सभी एकाच् अनिट् धातुओं को लिट् (थल् व म) में इडागम हो जाता है। इससे अजन्त नित्य अनिट् धातुओं से भी थल् में इडागम प्राप्त हुआ, उसका यह पुनः निषेध करता है। इसके उदाहरण हैं—तास् में नित्य अनिट्—याता, नेता, होता। इन्हीं से थल् में—ययाथ, निनेथ, जुहोथ।

उपदेशेऽत्वतः (७।२।६२)—उपदेशे ७।१, अत्वतः ५।१।। अनु०—इट् न तास्वत् थल्यनिटः। अर्थ—उपदेश अवस्था में जो धातु अत्वत् =

ह्रस्व अकारवान् हो, और तास् परे रहते नित्य अनिट् हो, उस से तास् के समान ही थल् में इडागम नहीं होता। जैसे—पच्—पक्ता, पपक्थ; यज्—यष्टा, इयष्ट; शक्—शक्ता, शशक्थ।

विशेष—इन दो सूत्रों से क्रादि-नियम से नित्यानिट् धातुओं को प्राप्त इट् का थल् में पुनः निषेध कर दिया है। परन्तु व म प्रत्ययों में क्रादि-नियम से इट् हो जाता। जैसे—अजन्तों से—ययिव, ययिम; निन्यिव, निन्यिम; जुहुविव जुहुविम। इसी प्रकार ह्रस्व ऋकारान्त धातुओं से भी थल् में ७।२।६१ से इट्-निषेध प्राप्त है। उसके विषय में विशेष सूत्र है—

ऋतो भारद्वाजस्य (७।२।६३)—ऋतः ५।१, भारद्वाजस्य ६।१॥ अनु०—इट् न तास्वत् थलि अनिटः। अर्थ—भारद्वाज आचार्य के मत में ऋतः=ह्रस्व ऋकारान्त धातुओं से तास् के समान थल् में इट् का आगम न हो। जैसे—स्मर्ता, सस्मर्थ; ध्वर्ता, दध्वर्थ।

विशेष—ह्रस्व ऋकारान्त धातुओं से भी क्रादि-नियम से पुनः प्रसक्त इट् का **अचस्तास्वत्०** (७।२।६१) से निषेध कर दिया है। अतः इनसे थल् में इडागम प्राप्त ही नहीं होता, तो पुनः भारद्वाज आचार्य का ऋकारान्तों से इट् का निषेध करना व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि भारद्वाज आचार्य के मत में थल् परे केवल ऋकारान्त धातुओं से ही इट् का आगम नहीं होता, अन्यों से हो जाता है। इसका भाव यह है कि भारद्वाज आचार्य के मत में अजन्तों से और ह्रस्व अकारवान् धातुओं से, जिनमें ७।२।६१,६२ से थल् में इट् का निषेध किया है, इट् हो जाता है। यह थल् में इट् की पुनः प्राप्ति व्याकरणशास्त्र में **भारद्वाज-नियम** के नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार अजन्त और अकारवान् अनिट् धातुओं से थल् में भारद्वाज के मत में इट् हो जायगा—ययिथ, निनयिथ, जुहुविथ, पेचिथ, शेकिथ, इयजिथ। अन्य आचार्यों के मत में पूर्व ६१, ६२ सूत्रों से निषेध होने से इट् नहीं होगा। अर्थात् इट् अनिट् के दो-दो रूप होंगे।

सब का सारांश=सार यह है कि—

१. **कृ सृ भृ** (७।२।१३)—सूत्रपठित धातुओं से लिट् मात्र में इट् नहीं होता।

२. शेष सब अनिट् धातुओं से व म में इट् हो जाता है।

३. थल् में ह्रस्व ऋकारान्तों से **इट् का आगम** (भारद्वाज तथा अन्यों के मत में) **नहीं होता।**

४. थल् में शेष (=ह्रस्व ऋकारान्तों को छोड़कर) अजन्तों तथा ह्रस्व अकारवान् धातुओं को इट् का आगम विकल्प से होता है।

ऋद्धनोः स्ये (७।२।७०)—ऋद्धनोः, ६।२, स्ये ७।१॥ अनु०—इट् (७।२।६६ से)। अर्थ—ह्रस्व ऋकारान्त और हन् धातु को स्य प्रत्यय परे इट् का आगम हो जाता है। जैसे—करिष्यति, हरिष्यति, हनिष्यति।

रुदादिभ्यः सार्वधातुके (७।२।७६)—रुदादिभ्यः, ५।३, सार्वधातुके ७।१॥ अनु०—वलादेः (७।२।३५ से), पञ्चभ्यः (७।२।७५ से)। अर्थ—रुदादि पांच धातुओं से वलादि सार्वधातुक परे रहते पर इट् का आगम होता है। जैसे—रोदिति, रुदितः; स्वपिति, स्वपितः॥

इति इड् अनिट् प्रकरण॥

एकादश-प्रकरण

आख्यात-प्रक्रिया [भ्वादिगण][1]

१. भू सत्तायाम्, उदात्तः परस्मैभाषः। यह धातु परस्मैपदी है। भू शब्द सत्ता = 'होने' अर्थ का वाचक है।

भूवादयो धातवः (१।३।१)—भू शब्द से लेकर जो गणों में शब्द पढ़े हैं, उन सब की धातु संज्ञा होती है। इससे 'भू' शब्द की धातु संज्ञा होकर—

धातोः (३।१।९१)—यह अधिकारसूत्र है। आगे कहे हुए प्रत्यय धातुसंज्ञक शब्दों से होते हैं।

---

[1] १. यहां से आगे आख्यात-प्रक्रिया में जो सूत्र लगेंगे, उनमें से अधिकांश प्रथम और द्वितीय भाग में आ चुके हैं। अतः हम यहां इन सूत्रों के पदच्छेद विभक्ति अनुवृत्ति आदि का निर्देश नहीं करेंगे। जो नये सूत्र आयें, उनमें स्वयं पदच्छेद विभक्ति और अनुवृत्ति का ज्ञान भाषार्थ से कर लेना चाहिये।

वर्तमाने लट् (३।२।१२३)—आरम्भ से लेकर जब तक क्रिया की समाप्ति न हो, तब तक वर्तमान काल समझना चाहिये। अर्थ—धातु से वर्तमान काल को कहने में लट् प्रत्यय होवे।

लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः (३।४।६९)—सकर्मक धातुओं से कर्म और कर्त्ता अर्थ में, तथा अकर्मक धातुओं से भाव और कर्त्ता अर्थ में लकार होते हैं। यहां 'भू' धातु से कर्त्ता अर्थ में लट् आया। 'भू—लट्' इस अवस्था में—

हलन्त्यम् (१।३।३)—उपदेश में धातु आदि के समुदाय का जो अन्त्य वर्ण है, वह इत्संज्ञक होवे। इससे टकार की इत्संज्ञा हुई।

उपदेशेऽजनुनासिक इत् (१।३।२)—उपदेश में धात्वादि में जो अनुनासिक अच् है, उसकी इत्संज्ञा हो। इससे लट् के अकार की इत्संज्ञा हुई।

तस्य लोपः (१।३।९)—इत् संज्ञावाले वर्ण का लोप हो जाता है। इससे टकार और अ का लोप होकर ल् शेष रहा।

लस्य (३।४।७७)—लकार[1] के स्थान में वक्ष्यमाण आदेश हों।

तिप्तस्झिसिप्थस्थमिब्वस्मस्तातांझथासाथांध्वमिड्वहिमहिङ् (३।४।७८)—लकार के स्थान में तिप्, तस्, झि; सिप्, थस्, थ; मिप्, वस्, मस्; त, आताम्, झ; थास्, आथाम्, ध्वम्; इट्, वहि, महिङ् ये १८ अठारह आदेश होते हैं।

लः परस्मैपदम् (१।४।९८)—लकार के स्थान में जो आदेश होते हैं, वे परस्मैपदसंज्ञक हों।

इससे सामान्यरूप से १८ प्रत्ययों की परस्मैपद संज्ञा प्राप्त हुई। परन्तु तङानावात्मनेपदम् (१।४।९९) से 'त' से 'महिङ्' तक ९ की आत्मनेपद संज्ञा का विधान होने से शेष तिप् से मस् पर्यन्त ९ की परस्मैपद संज्ञा हुई। अब भू धातु से परस्मैपद हो वा आत्मनेपद इस सन्देह की निवृत्ति के लिये—

शेषात् कर्तरि परस्मैपदम् (१।३।७८)—जिन धातुओं से आत्मनेपदसंज्ञक प्रत्यय कहे हैं, उनको छोड़के शेष धातुओं से परस्मैपदसंज्ञक प्रत्यय हों। इससे भू से तिप् आदि ९ प्रत्यय प्राप्त हुए।

तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रथममध्यमोत्तमाः (१।४।१००)—तिङ् सम्बन्धी

---

१. यहां लकार में अकार उच्चारणार्थ है।

जो तिप् आदि प्रत्यय हैं, वे यथाक्रम तीन-तीन प्रथम मध्यम और उत्तम-संज्ञक हों। अर्थात्—तिप्, तस्, झि प्रथम, सिप्, थस्, थ मध्यम, और मिप्, वस्, मस् उत्तम पुरुष जानो।

युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः (१।४।१०५)—तिङ् के समानाधिकरण युष्मद् शब्द उपपद के रहते हुए युष्मद् शब्द का प्रयोग हो वा न हो, तो भी धातु से मध्यम पुरुष हो।

अस्मद्युत्तमः (१।४।१०६)—तिङ् के साथ एकाधिकरण अस्मद् शब्द उपपद हो, उसका प्रयोग हो वा न हो, तो भी धातु से उत्तम पुरुष हो।

शेषे प्रथमः (१।४।१०७)—तिङ् के साथ युष्मद् और अस्मद् से भिन्न कोई एकाधिकरण उपपद हो, उसका प्रयोग हो वा न हो, तो भी धातु से प्रथम पुरुष हो। इससे तिप् तस् झि ये तीन प्रत्यय प्राप्त हुए।

तान्येकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः (१।४।१०१) उन्हीं तिङ्सम्बन्धी तिप् आदि तीन-तीन के समुदायों में प्रत्येक की क्रमशः एकवचन, द्विवचन और बहुवचन संज्ञा हो। अर्थात् तिप् एकवचन, तस् द्विवचन और झि बहुवचन। इसी प्रकार सिप् आदि में भी जानना चाहिये।

बहुषु बहुवचनम् (१।४।२१)—बहुत अर्थ को कहने में बहुवचन होता है।

द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने (१।४।२२)—दो और एक अर्थ को कहने के लिये क्रमशः द्विवचन और एकवचन होता है। सो यहां एक अर्थ को कहने के लिये एकवचन तिप् आया। भू तिप्।

तिङ्शित् सार्वधातुकम् (३।४।११३)—धातु के अधिकार में कहे जो तिङ् और शित् प्रत्यय हैं, वे सार्वधातुकसंज्ञक हों। इससे तिप् आदि की सार्वधातुक संज्ञा हुई।

कर्तरि शप् (३।१।६८)—कर्तावाची सार्वधातुक परे हो, तो धातु से परे शप् हो। शप् प्रत्यय होकर "भू—शप्—तिप्" इस अवस्था में दोनों प्रत्ययों के हल् पकारों की पूर्ववत् इत् संज्ञा और लोप होकर "भू—श—ति" रहा। पुनः—

लशक्वतद्धिते (१।३।८)—प्रत्यय के आदि में जो लकार, शकार और कवर्ग हैं, उन की इत्संज्ञा होवे। इससे "श्" की इत्संज्ञा होकर पूर्ववत् लोप हो गया। "भू—अ—ति" इस अवस्था में—

यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् (१।४।१३)—जिस धातु वा

प्रातिपदिक से प्रत्यय का विधान हो, उस धातु वा प्रातिपदिक का आद्यक्षर जिसकि आदि में हो, उस समुदाय की प्रत्यय के परे रहने पर अङ्ग संज्ञा होती है। इससे शप् के परे 'भू' की अङ्ग संज्ञा होकर—

सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७।३।८४)—सार्वधातुक और आर्धधातुक-संज्ञक प्रत्यय परे हों, तो इगन्त अङ्ग के स्थान में गुण आदेश हो। इससे उकार का अन्तरतम ओकार गुण होकर "भो—अ—ति" इस अवस्था में—

एचोऽयवायावः (६।१।७५)—एच् प्रत्याहार के स्थान में अय्, अव्, आय्, आव् ये चार आदेश यथासंख्य करके हों, अच् परे रहने पर। ओकार को अव् होकर—भव् अ ति = भवति।

द्विवचन की विवक्षा में—"भू—तस्"। तिङ् प्रत्ययों की विभक्ति संज्ञा पूर्व (पृष्ठ ७५ पर) कर चुके हैं। यहां तस् के सकार की हलन्त्यम् (१।३।३) से इत् संज्ञा प्राप्ति है।

न विभक्तौ तुस्माः (१।३।४)—विभक्ति में जो तवर्ग, सकार और मकार हैं, वे इत्संज्ञक न हों। शेष कार्य पूर्ववत् होकर—भू अ तस् = भो अ तस् = भव् अ तस् = भवतस्, इस अवस्था में सुप्तिङन्तं पदम् (१।४।१४) से पद संज्ञा होकर—

ससजुषो रुः (८।२।६६)—पदान्त सकार और सजुष् शब्द के अन्त्य वर्ण को रु आदेश हो।

उपदेशेऽजनुनासिक इत् (१।३।२)—उपदेश में जो अनुनासिक अच् है, उसकी इत्संज्ञा हो। इससे उकार की इत्संज्ञा होकर "भव—तर्"।

खरवसानयोर्विसर्जनीयः (८।३।१५)—खर् प्रत्याहार के परे तथा अवसान में वर्तमान जो रेफ उसके स्थान में विसर्जनीय आदेश हो। इस से रेफ को विसर्ग होकर—भवतः।

"भव—झि" यहां—

झोऽन्तः (७।१।३)—प्रत्यय के आदि अवयव झकार को अन्त आदेश होवे। तकार में अकार उच्चारणार्थ है, किन्तु आदेश हलन्त ही होता है। "भव—अन्त—इ" यहां दोनों अकारों को अतो गुणे (६।१।९४ से) पररूप एकादेश होकर—भवन्ति।

भव + सिप् = भवसि। भव + थस् = भवथः, भव + थ = भवथ। भव + मिप्—

अतो दीर्घो यञि (७।३।१०१)—यञादि सार्वधातुक प्रत्यय परे हो, तो अदन्त अङ्ग को दीर्घ आदेश होवे। यहां मिप् को मानकर 'भव् अ' की अङ्ग संज्ञा होने से दीर्घ होता है—भवामि। भव+वस्=भवावः। भव+मस्=भवामः। पूरे रूप इस प्रकार होंगे—

स भवति	तौ भवतः	ते भवन्ति
त्वं भवसि	युवां भवथः	यूयं भवथ
अहं भवामि	आवां भवावः	वयं भवामः

इन लकारों का क्रम वर्णक्रम से चलाया करते हैं। जैसे—लट्, लिट्, लुट्, लृट्, लेट्[1], लोट् ये छः टित्, और ऐसा ही क्रम ङित् लकार लङ्, लिङ्, लुङ्, लृङ् में जानो। इस क्रम के अनुसार लट् के आगे लिट् प्राप्त हुआ। जितने सूत्र प्रथम लकार में लिख दिये, उनको अब नहीं लिखेंगे। जो विशेष आते जावेंगे, उनको लिखेंगे। लिट्—

परोक्षे लिट् (३।२।११५)—यहां भूत और अनद्यतन की अनुवृत्ति आती है। परोक्ष अनद्यतन भूतकाल में धातुओं से लिट् लकार होवे। भू—लिट्, यहां टकार इकार की इत्संज्ञा और लोप होकर लकार के स्थान में तिप् आदि ६ हो जाते हैं। उनमें से पहले के समान प्रथम पुरुष का एकवचन लकार—भू—तिप्।

लिट् च (३।४।११५)—यह सूत्र सार्वधातुक संज्ञा का अपवाद है। लिट् के स्थान में जो तिप् आदि आदेश हैं, वे आर्धधातुकसंज्ञक हों। इससे लिट्स्थानीय प्रत्ययों की आर्धधातुक संज्ञा होती है। अतः शप् विकरण नहीं होता।

परस्मैपदानां णलतुसुस्थलथुसणल्वमाः (३।४।८२)—धातु से परे लिट् लकार के स्थान में परस्मैपदसंज्ञक जो तिप् आदि आदेश हैं, उनको णल् आदि ९ आदेश यथासंख्य करके हो जावें। इससे तिप् के स्थान में णल् होकर—

चुटू (१।३।७)—प्रत्यय के आदि जो चवर्ग टवर्ग उनकी इत्संज्ञा हो। यहां णकार लकार की इत्संज्ञा और लोप होकर "भू—अ" इस अवस्था में—

अचो ञ्णिति (७।२।११५)—से वृद्धि प्राप्त होने पर—

इन्धिभवतिभ्यां च (१।२।६)—इन्धि और भू धातु से परे जो लिट्

१. लेट् लकार वेद में ही प्रयुक्त होता है। अतः इसके रूप यहां नहीं दिखायेंगे।

वह कित्वत् हो। यह सूत्र पित् लिट् के लिये है। इससे णल् को कित् होकर—

क्ङिति च (१।१।५)—कित् गित् और ङित् प्रत्यय परे हों, तो इक् के स्थान में गुण वृद्धि न हो। इससे वृद्धि का निषेध हो गया। 'भू अ' इस अवस्था में—

भुवो वुग् लुङ् लिटोः (६।४।८८)—अजादि लुङ् और लिट् लकार परे हों, तो 'भू' अङ्ग को वुक् का आगम होता है। उ क् की इत्संज्ञा होकर "भूव्—अ"।

एकाचो द्वे प्रथमस्य (६।१।१)—यह अधिकारसूत्र है। धातु के प्रथम एकाच् अवयव को द्विर्वचन होवे।

अजादेर्द्वितीयस्य (६।१।२)—यहां भी "एकाच्" की अनुवृत्ति आती है। अर्थ—अजादि धातुओं के द्वितीय एकाच् अवयव को द्वित्व होवे। इनकी अनुवृत्ति होने पर—

लिटि धातोरनभ्यासस्य (६।१।८)—लिट् लकार परे हो, तो अनभ्यास धातु के प्रथम एकाच्, और अजादि धातु के द्वितीय एकाच् अवयव को द्विर्वचन होवे। इससे प्रथम एकाच् अवयव 'भूव' मात्र को द्विर्वचन होकर 'भूव्—भूव्—अ', यहां—

पूर्वोऽभ्यासः (६।१।४)—द्विर्वचन का जो पूर्वभाग है, वह अभ्यासः संज्ञक हो। इससे प्रथम 'भूव्' की अभ्यास संज्ञा होकर—

हलादिः शेषः (७।४।६०)—अभ्यास का आदि हल् शेष रहे, अर्थात् अन्य हलों का लोप हो जावे। इससे प्रथम 'भूव्' के "व्" का लोप होके—'भू—भूव्—अ'।

ह्रस्वः (७।४।५९)—अभ्यास के अच् को ह्रस्व आदेश हो। इससे ह्रस्व होकर—'भु भूव् अ'।

भवतेरः (७।४।७३)—लिट् लकार परे हो, तो भू धातु के अभ्यास को अकार आदेश हो। ह्रस्व उकार को प्रमाणकृत आन्तर्य (द्र० भाग १, पृष्ठ ९५) से ह्रस्व अकार होकर—'भ—भूव्—अ'।

अभ्यासे चर्च (८।४।५३)—अभ्यास में जो झल् उनको चर् और जश् आदेश हों। इस सूत्र से अभ्यास में चतुर्थ वर्ण को तृतीय और द्वितीय वर्ण को प्रथम हो जाता है। यहां भकार को बकार होकर—बभूव् अ=बभूव। 'भू—अतुस्' यहां गुण प्राप्त है।

असंयोगाल्लिट् कित् (१।२।५) —असंयोगान्त धातुओं से परे जो अपित् लिट् वह कित्-वत् होवे । तिप्, सिप्, मिप् के स्थान में जो आदेश हैं, उनको छोड़कर अन्य 'अपित्' समझने चाहियें । इससे कित् होकर क्ङिति च से गुण नहीं होता। वुक् होकर—भूव्—अतुस्=भूव् भूव् अतुस् =भु भूव् अतुस्=भभूव् अतुस्=बभूव् अतुस्=बभूवतुः। बभूव् उस्= बभूवुः। बभूव्—थल्, थल् की आर्धधातुक संज्ञा होने से—

आर्धधातुकस्येड् वलादेः (७।२।३५)—अङ्ग से परे जो वलादि आर्धधातुक उसको इट् का आगम हो। थल् के आदि में इट् होकर—बभूव् इ थ=बभूविथ। बभूव्—अथुस्=बभूवथुः। बभूव्—अ=बभूव। बभूव्— णल्=बभूव। बभूव्—इट्—व=बभूविव। बभूव्—इट्—म=बभूविम।

लिट् के पूरे रूप इस प्रकार होंगे—

बभूव	**बभूवतुः**	**बभूवुः**
बभूविथ	**बभूवथुः**	**बभूव**
बभूव	**बभूविव**	**बभूविम**

क्रम से प्राप्त 'लुट्'—

अनद्यतने लुट् (३।३।१५)—पूर्व रात्रि के मध्य से लेकर अपर रात्रि के मध्य पर्यन्त, 'अद्यतनकाल' कहाता है, वह जिसमें न हो उसको 'अनद्यतन' कहते हैं। अर्थ—भविष्यत् अनद्यतन में धातु से लुट् लकार होवे। भू— लुट्।

स्यतासी लृलुटोः (३।१।३३)—यहां 'लृ' करके लृट् और लृङ् दोनों का बोध होता है। और यह सूत्र शप् आदि विकरण प्रत्ययों का अपवाद है। अर्थ—लृ और लुट् लकार परे हों, तो धातु से स्य और तासि प्रत्यय यथासंख्य करके हों। यहां लुट् के परे 'तासि' हुआ। 'भू तासि लुट्'। लुट् के स्थान में तिबादि आदेश होकर—भू तासि तिप्, यहां 'तासि' में अनुनासिक इकार की इत्संज्ञा[1] और लोप होकर—

लुटः प्रथमस्य डारौरसः (२।४।८५)—लुट् लकार के प्रथम पुरुष को डा, रौ रस् आदेश यथासंख्य करके हों। इससे तिप् के स्थान में डा आदेश होकर डकार की इत् संज्ञा होकर—भू—तास् आ, इस अवस्था में—

आर्धधातुकं शेषः (३।४।११४)—धात्वधिकार में कहे—तिङ् और

१. उपदेशेऽजनुनासिक इत् (१।३।२) से। किन्हीं आचार्यों के मत से तासि में इकार उच्चारणार्थ है। उच्चारणार्थ वर्ण स्वतः निवृत्त हो जाता है।

शित् प्रत्ययों से भिन्न जो प्रत्यय, वे आर्धधातुकसंज्ञक होते हैं। इससे तास् प्रत्यय की आर्धधातुक संज्ञा होकर, और इट् का आगम होकर—'भू इ तास् आ'। 'आ' के डित् होने से डित्त्वभ यापि अनुबन्धकरणसामर्थ्यात् नियम (द्र०—पूर्व पृष्ठ १३९) से टेः (६।४।१४३) से टि का लोप होकर—'भू—इ—त्—आ'। यहां 'आ' प्रत्ययनिमित्तक 'भू इ त्' की अंग संज्ञा होने से—

पुगन्तलघूपधस्य च (७।३।८६)—सार्वधातुक और आर्धधातुक प्रत्यय परे हों, तो पुगन्त और लघु वर्ण जिसकी उपधा में हो, उस अङ्ग को गुण हो। इससे इट् के आगम को लघु उपधा मानकर गुण प्राप्त हुआ। इसलिये—

दीधीवेवीटाम् (१।१।६)—दीधी और वेवी धातु तथा इट् आगम, इन को गुण वृद्धि न हों। फिर आर्धधातुक तास् के परे भू को गुण और अवादेश होकर—'भविता'। भू इ तास् रौ=भवितास् रौ। पुनः—

रि च (७।४।५१)—रेफादि प्रत्यय परे हो, तो तास् और अस्ति के सकार का लोप हो जावे। इससे 'भवितास् रौ' में स् का लोप होकर—'भविता रौ'। भवितास् + रस्=भवितारः। भवितास्—सिप्, यहां—

तासस्त्योर्लोपः (७।४।५०)—सकारादि प्रत्यय परे हो, तो तास् और अस्ति के सकार का लोप हो जावे। जैसे—भवितास्—सि=भवितासि। भवितास्—थस्=भवितास्थः। भवितास्—थ=भवितास्थ। भवितास्—मिप्=भवितास्मि। भवितास्—वस्=भवितास्वः। भवितास्—मस्=भवितास्मः। लृट्—

लृट् शेषे च (३।३।१३)—क्रियार्थ क्रियापद हो वा न हो, तो भी भविष्यत् अर्थ में धातु से लृट् लकार होवे। भू—लृट्। यहां स्यतासी लृलुटोः (३।१।३३) से स्य प्रत्यय, गुण, तिबादि आदेश, स्य प्रत्यय को इट् का आगम और अवादेश होकर—'भविस्यति'। पुनः—

आदेशप्रत्यययोः (८।३।५९)—इण् और कवर्ग से परे जो आदेश और प्रत्यय का अवयव सकार उस को मूर्द्धन्य आदेश हो जावे। जैसे—भवि—स्य—तिप्=भविष्यति, भविष्यतः, भविष्यन्ति। भविष्यसि, भविष्यथः, भविष्यथ। भविष्यामि, भविष्यावः, भविष्यामः। लोट्—

लोट् च (३।३।१६२)—विधि आदि अर्थों में धातु से लोट् लकार होवे।

आशिषि लिङ्लोटौ (३।३।१७३)—आशीर्वाद अर्थ में भी लिङ् और लोट् लकार होवें। इससे लोट् प्रत्यय, उसके स्थान में तिप् और शप् तथा गुण अवादेश होकर—'भवति'। पुनः—

एरुः (३।४।८६)—लोट् लकार के इकार को उकार आदेश हो जावे। इससे इ को उ होकर—**भवतु**।

तुह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम् (७।१।३५)—आशीर्वाद अर्थ में जो तु और हि उनको तातङ् आदेश विकल्प कर के होवे। इससे तु के स्थान पर तातङ् होकर—भू अ तातङ्। अङ् मात्र की इत्संज्ञा और गुण अवादेश होकर—**भवतात्**।

लोटो लङ्वत् (३।४।८५)—लोट् लकार को लङ्वत् कार्य हों। लङ्वत् अतिदेश होने से ङित् लकार के कार्य होते हैं। यथा—

तस्थस्थमिपां तांतंतामः (३।४।१०१)—ङित् लकार के जो तस् थस् थ और मिप् उनको ताम् तम् त और अम् आदेश यथासंख्य करके हों। जैसे—भव् अ तस् = भव् अ ताम् = **भवताम्**। 'भव + झि', भव + अन्ति, एरुः (३।४।८६) से 'उ' होकर—**भवन्तु**। 'भव + सिप्'—

सेर्ह्यपिच्च (३।४।८७)—लोट् लकार का जो सि उस को अपित् हि आदेश होवे। सिप् पित् है इस कारण उसके स्थानि पर होनेवाला हि आदेश भी स्थानिवद्भाव से पित् होता है। उसको अपित् कह दिया है।

अतो हेः (६।४।१०५)—अदन्त अङ्ग से परे जो हि उसका लुक् हो जावे। **भव**। पक्ष में तातङ् होकर—**भवतात्**। भव—थस्=**भवतम्**। भव—थ=**भवत**।

मेर्निः (३।४।८९)—लोट् लकार का जो मि उसको नि आदेश हो। भव—नि।

आडुत्तमस्य पिच्च (३।४।९२)—लोट् लकार के उत्तम पुरुष को आट् का आगम हो, और वह पित् हो जावे। भव-आ-नि=**भवानि**। 'भव + वस्' लङ्वत् अतिदेश होने से—

नित्यं ङितः (३।४।९९)—ङित् लकार के उत्तम पुरुष का जो सकार उसका नित्य ही लोप होवे। **भवाव**। **भवाम**। 'लङ्'—

अनद्यतने लङ् (३।२।१११)—अनद्यतन भूत अर्थ में धातु से लङ् लकार होवे। भू अ ति = भव् अ ति—

लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः (६।४।७१)—लुङ् लङ् और लृङ् लकार परे

हों, तो अङ्ग को अट् का आगम हो, और वह उदात्त हो। टित् होने से अङ्ग (=भव) के आदि में होता है। अभवअति।

इतश्च (३।४।१००)—ङित् लकार का जो परस्मैपदविषयक इकार उसका लोप होवे। **अभवत्**। अभव—तस्=**अभवताम्**। **अभवन्**। **अभवः**। **अभवतम्**। **अभवत**। अभव—मिप्, मिप् को अम् और अतो गुणे (६।१।९४) से पररूप एकादेश होकर=**अभवम्**। **अभवाव**। **अभवाम**।

'लिङ्'—

विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसम्प्रश्नप्रार्थनेषु लिङ् (३।३।१६१)—विधि=प्रेरणा, निमन्त्रण=अवश्याचरण, आमन्त्रण=यथेष्ट आचरण, अधीष्ट=सत्कारपूर्वक क्रिया, सम्प्रश्न=सम्यक् पूछना, प्रार्थना=मांगना इन अर्थों में धातु से लिङ् लकार होवे। भू अ तिप्=भव् अ ति—

यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च (३।४।१०३)—यह सूत्र सीयुट् का अपवाद है। अर्थ—परस्मैपदविषयक लिङ् लकार को यासुट् का आगम हो, तथा वह उदात्त और ङित् हो जावे। भव-यासुट् ति=भवयास् ति—

सुट् तिथोः (३।४।१०७)—लिङ् लकार के जो तकार थकार उनको सुट् का आगम हो। 'भव यास स् ति'। सुट् का आगम यासुट् का बाधक इसलिए नहीं होता कि यासुट् लिङ् को, और सुट् तकार थकार को विहित होने से दोनों में विषयभेद हो जाता है। उत्सर्गापवाद की प्रवृत्ति एक-विषय में होती है, यहां विषय भेद है।

लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य (७।२।७९)—सार्वधातुकविषयक लिङ् के अनन्त्य सकार का लोप हो जावे। इससे यासुट् और सुट् दोनों के सकारों का लोप हो जाता है। 'भव या ति'। पुनः—

अतो येयः (७।२।८०)—अदन्त अङ्ग से परे जो सार्वधातुक का अवयव 'या' उसको इय् आदेश होवे। 'भव इय् ति', लोपो व्योर्वलि (६।१।६६) सूत्र से हल् यकार का लोप होकर—भव—इ तिप्। आद् गुणः (६।१।८४) से गुण और तिप् के इकार का (३।४।१०० से) लोप होकर भवेत्। भव—इ—तस्=**भवेताम्**। भव यास् झि—

झेर्जुस् (३।४।१०८)—लिङ् लकार का जो झि उसको जुस् आदेश होवे। जकार की इत्संज्ञा होकर—भव इय् उस्=**भवेयुः**। भव—इय्—सिप्=**भवेः**। भव—इय्—थस्=**भवेतम्**। भव—इय्—थ=**भवेत**। भव—इय्—मिप्=**भवेयम्**। भव—इय्—वस्=**भवेव**। भव—इय्—मस्=**भवेम**।

आशिषि लिङ्लोटौ (३।३।१७३)—से आशीर्वाद अर्थ में—'**आशिषि लिङ्**'—

लिङाशिषि (३।४।११६)—आशीर्वाद अर्थ में जो लिङ् उसके स्थान में जो तिबादि आदेश, वे आर्धधातुकसंज्ञक हों।

किदाशिषि (३।४।१०४)—परस्मैपदविषयक लिङ् लकार को जो यासुट् का आगम ङित् कहा है, वह आशीर्वाद अर्थ में कित् समझना चाहिये। कित् समझने से धातु को गुण नहीं होता। आर्धधातुक संज्ञा होने से शप् का विकरण प्राप्त नहीं होता। अन्य किसी का विधान नहीं है। विधिलिङ् के समान यासुट् सुट् होने पर—'भू यास् स् ति'। यासुट् के कित् होने से अंग को गुण नहीं होता। पूर्ववत् 'ति' के इकार का लोप होने पर—'भू यास् स् त्' इस अवस्था में—

स्कोः संयोगाद्योरन्ते च (८।२।२९)—झल् परे रहने पर और पदान्त में जो संयोग उसके आदि सकार ककार का लोप होता है। इससे तिप् के त् झल् परे रहने पर 'स् स्' संयोग के आदि (यासुट् के) सकार का लोप हो गया। तत्पश्चात् पद के अन्त में 'स् त्' का जो संयोग उसके आदि सकार का लोप होकर—**भूयात्**। भू—यास्—ताम्=**भूयास्ताम्**। यहां झल् तकार परे रहने पर 'स् स्' संयोग के आदि स् का लोप होता है। भू—यास्—झि=**भूयासुः**। भू—यास्—सिप्, यहां पदान्त में संयोग के आदि यासुट् के सकार का लोप हो जाता है—**भूयाः**। भू—यास्—स्—थस्=**भूयास्तम्**। भू—यास्—स्—थ=**भूयास्त**। भू—यास्—मिप्=**भूयासम्**। भू—यास्—वस्=**भूयास्व**। भू—यास्—मस्=**भूयास्म**। 'लुङ्'—

लुङ् (३।२।११०)—सामान्यभूत अर्थ में धातु से लुङ् लकार हो। शप् विकरण की प्राप्ति में—

च्लि लुङि (३।१।४३)—लुङ् लकार परे हो तो धातु से च्लि प्रत्यय होवे।

च्लेः सिच् (३।१।४४)—लुङ् लकार परे हो तो च्लि के स्थान में सिच् आदेश हो जावे। इकार चकार की इत्संज्ञा हो जाती है। भू स् तिप्—

गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु (२।४।७७)—गाति, स्था, घुसंज्ञक, पा, भू इन धातुओं से परे जो सिच् उसका लुक् हो जावे। भू तिप् अब भू अङ्ग को तिप् के परे गुण पाता है इसलिये—

भूसुवोस्तिङि (७।३।८८)—अव्यवहित सार्वधातुक तिङ् परे हो तो

भू और सू अङ्गों को गुण न होवे। पूर्ववत् अडागम होकर अट्+भू+तिप् =अभूत्, अभू+तस् =अभूताम्। 'भुवो वुग् लुङ् लिटोः'—अभू+वुक्+झि =अभूवन्, अभू+सिप् =अभूः, अभू+थस् =अभूतम्, अभू+थ =अभूत, अभू+वुक्+अम् =अभूवम्, अभू+वस् =अभूव, अभू+मस् =अभूम।

न माङ्योगे (७।४।७४)—माङ् अव्यय के योग में लुङ्, लङ् और लृङ् लकारों को जो अट् और आट् के आगम कहे हैं वे न हों। जैसे—इह मा भूत्, मा भवान् भूत्, मा स्म भवत्, मा स्म भविष्यत् इत्यादि में अट् का आगम नहीं होता और आट् के आगम का निषेध आगे अजादि धातुओं के "मा भवान् अतीत्' आदि में दिखलाया जावेगा। "लृङ्"—

लिङ् निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ (३।३।१३९)—जो हेतुहेतुमद्भाव आदि लिङ् लकार के निमित्त अर्थ हैं, उनमें क्रिया की असिद्धि गम्यमान हो, तो धातु से लृङ् लकार हो जावे। स्य प्रत्यय, इट् का आगम आदि कार्य होकर—भू+इट्+स्य+तिप्, अङ्ग को गुण, अवादेश और अट् का आगम होकर—अ भव् इ स्य त् =अभविष्यत्, अभविष्यताम्, अभविष्यन्। अभविष्यः, अभविष्यतम्, अभविष्यत। अभविष्य+मिप् =अभविष्यम्, यहां अम् के अकार के साथ पररूप हो जाता है। अभविष्याव, अभविष्याम।

आत्मनेभाषाः

एध वृद्धौ=बढ़ना। एध् शप् त =एधे अ त, इस अवस्था में—

टित आत्मनेपदानां टेरे (३।४।७९)—टित् लकारों के प्रत्ययों की टि को एकार आदेश होता है। इससे एकार होकर—एध् अ ते =एधते। एध् अ आताम् =एध् अ आते—

आतो ङितः (७।२।८१)—ह्रस्व अकार से परे ङित् सार्वधातुक के अवयव आकार को इय् आदेश होता है। एध् अ इय् ते। लोपो व्योर्वलि (६।१।६४) से यकार का लोप और आद् गुणः (६।१।८४) से अ+इ को ए गुण होकर—एधेते। एध् अ झ =एध् अ अन्त =एध् अ अन्ते = एधन्ते। एध् अ थास्—

थासः से (३।४।८०)—टित् लकार के थास् को से आदेश होता है। एध् अ से =एधसे। एध्+शप्+आथाम् =एधेथे। एध्+शप्+ध्वम् = एधध्वे। एध्+शप्+इट् =एध् अ ए =एधे। यहां गुण एकार के परे अतो गुणे से पररूप एकादेश हो जाता है। एध्+शप्+वहि =एधावहे, एध्+शप्+महिङ् =एधामहे। "लिट्"—

इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः (३।१।३६)—लिट् लकार परे हो तो इजादि

और गुरुमान् धातुओं से आम् प्रत्यय हो जावे, परन्तु ऋच्छ धातु से न होवे। एध् आम् लिट्—

आमः (२।४।८१)—आम् से परे जो लि उसका लुक् हो जावे। इससे लिट् का लुक् होकर—एध् आम्—

कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि (३।१।४०)—आमन्त से परे लिट् परे है जिसके, ऐसे कृञ् का अनुप्रयोग होता है। इस सूत्र में कृञ् प्रत्याहार है। यह **कृभ्वस्ति०** (५।४।५०) के कृ से लेकर **कृञो द्वितीय०** (५।४।५८) के ञकार पर्यन्त का है। इसके मध्य में कृञ् भू अस् तीन धातुओं का सन्निवेश होने से आमन्त से परे कृञ् भू अस् का अनुप्रयोग होता है। एध् आम् कृ लिट्—

आम्प्रत्ययवत् कृञोऽनुप्रयोगस्य (१।३।६३)—आम्प्रत्यय में बहुव्रीहि समास है—'आम् प्रत्यय का विधान जिससे किया है, उसी की तरह= आम्प्रत्ययवत्। अर्थ—आम्प्रत्ययान्त की तरह ही अनुप्रयोग वाली कृञ् धातु से आत्मनेपद होता है। अर्थात् आम्प्रत्ययान्त आत्मनेपदी है, तो कृञ् से भी आत्मनेपद होगा, यदि आम्प्रत्ययान्त परस्मैपदी है तो कृञ् से भी परस्मैपद होगा। अनुप्रयोगवाली भू और अस् से परस्मैपद ही होता है। इस प्रकार—एध् आम् कृ से लिट् के स्थान पर प्रथम पुरुष का एक वचन 'त'—

लिटस्तझयोरेशिरेच् (३।४।८१)—लिट् लकार के स्थान में जो त और झ हैं उनको एश् और इरेच् आदेश यथासंख्य करके हो जावें। शित् होने से सम्पूर्ण त के स्थान में एश् आदेश होकर—"एध्+आम्—कृ+ए" इस अवस्था में एकार के **असंयोगाल्लिट् कित्** (१।२।५) से कित् होने से गुण नहीं होता। लिट् परे द्विवचन होकर—एध्—आम्—कृ—कृ—ए।

उरत् (७।४।६६)—अभ्यास के ऋकार को अत् आदेश होवे। ऋ के स्थान में उरण् रपरः (१।१।५१) से रपर अर् होकर रेफ का लोप (७।४।६० से) हो जाता है।

कुहोश्चुः (७।४।६२)—अभ्यास के जो कवर्ग और हकार उनको चवर्ग आदेश होता है। एध्+आम्+चकृ+ए, यणादेश होकर[1]—**एधाञ्चक्रे**

१. 'एधाम्' से आगे लिट् का लुक् हो जाने से कृदन्त मानकर प्रातिपदिक संज्ञा होती है। और मान्त कृदन्त मानकर 'कृन्मेजन्तः' (१।१।३८) से अव्यय संज्ञा। अतः 'एधाम्' से परे उत्पन्न 'सु' का अव्ययादाप्सुपः (२।४।८२) से लुक् होकर

एध्+आम्+चक्रे+आताम् = एधाञ्चक्राते, एधाञ्चक्र+इरेच् = एधाञ्चक्रिरे।

एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् (७।२।१०) - उपदेश में जो एकाच् अनुदात्त धातु हो उससे परे वलादि आर्धधातुक प्रत्यय को इट् का आगम न हो। इससे थास् के स्थान में हुये 'से' के परे इडागम न हुआ। एधाञ्चक्र+से = **एधाञ्चकृषे, एधाञ्चक्राथे।**

इणः षीध्वंलुङ्लिटां धोऽङ्गात् (८।३।७८)- इणन्त अङ्ग से परे षीध्वम्, लुङ् और लिट् के धकार को मूर्धन्य आदेश हो। इससे धकार को अन्तरतम ढकार हो जाता है। एधाञ्चक्र+ध्वम्—**एधाञ्चकृढ्वे**; एधाञ्चक्र+इट् = **एधाञ्चक्रे, एधाञ्चकृवहे, एधाञ्चकृमहे।** भू को अनुप्रयोग होने पर पूर्व के समान; जैसे कि केवल भू के रूप लिट् में लिख आये हैं। **एधाम्बभूव, एधाम्बभूवतुः, एधाम्बभूवुः; एधाम्बभूविथ, एधाम्बभूवथुः, एधाम्बभूव; एधाम्बभूव, एधाम्बभूविव, एधाम्बभूविम।**

अस् धातु के अनुप्रयोग होने पर द्विवचन "अस्- अस्—णल्" इस अवस्था में—

अत आदेः (७।४।७०)—अभ्यास के आदि अकार को दीर्घादेश होवे। अस् धातु के अभ्यास के अकार को (अ अस् अवस्था में) पररूप एकादेश प्राप्त है इसलिये दीर्घादेश कहा है। एध्+आम्+आ+अस्+णल् = **एधामास, एधामासतुः, एधामासुः; एधामासिथ, एधामासथुः, एधामास; एधामास, एधामासिव, एधामासिम।** इसके आगे "लुट्"—

प्रथमपुरुष में त, आताम् झ के स्थान में डा आदि आदेश होके—**एधिता, एधितारौ, एधितारः; एधितासे, एधितासाथे।** एधितास्+ध्वम्—

धि च (८।३।२५)—धकारादि प्रत्यय परे हो तो सकार का लोप हो जावे। यहाँ ध्वम् प्रत्यय के परे तास् के सकार का लोप हो जाता है। एधितास्+ध्वम् = **एधिताध्वे।**

प्रत्ययलक्षण से पद संज्ञा हो जाती है। अतः म् को मोऽनुस्वारः (८।३।२३) से अनुस्वार और वा पदान्तस्य (८।४।५९) से विकल्प से परसवर्ण होकर एधाञ्चकार एधांचकार दो रूप बनते हैं। इसी प्रकार एधाम्बभूव, एधांबभूव भी जानें।

१. धासः से (३।४।८०) से (द्र० पृष्ठ ६१९)।

२. अतो गुणे (६।१।९७) से।

ह एति (७।४।५२)—एकार परे हो, तो तास् और अस्ति के सकार को हकारादेश होवे। एधितास्+इट्=एधिताहे। एधितास्वहे, एधितास्महे।

इसके आगे 'लृट्'—स्य आदि सब कार्य्य होकर—एध्+इट्+स्य+त=एधिष्यते, एधिष्येते, एधिष्यन्ते। एधिष्यसे, एधिष्येथे, एधिष्यध्वे। एधिष्ये, एधिष्यावहे, एधिष्यामहे। इसके आगे 'लोट्'—

आमेतः (३।४।९०)—लोट् लकार का जो एकार उसको आम् आदेश हो जावे। टिभाग को जो एकार कहा है, उसी को यहाँ आम् आदेश समझना चाहिये। एध्+शप्+त=एध अ ते=एधताम्, एधेताम्, एधन्ताम्।

सवाभ्यां वामौ (३।४।९१)—सकार वकार से परे जो लोट् लकार का एकार उसको व और अम् आदेश यथासंख्य करके हों। एध्+शप्+थास्=एधस्व, एधेथाम्, एधध्वम्।

एत ऐ (३।४।९२)—लोट् लकार के उत्तम पुरुष का जो एकार उसको ऐ आदेश होवे। यह आम् आदेश का बाधक है। एध्+शप्+आट्[1]+ऐ=एधै, एधावहै, एधामहै।

इस के आगे "लुङ्"—'एध्+शप्+त' इस अवस्था में—

आडजादीनाम् (६।४।७२)—लुङ् लङ् और लृङ् लकार परे हों, तो अजादि धातुओं को आट् का आगम हो जावे। अट् का अपवाद आट् का आगम है। वृद्धि एकादेश होकर—आट्+एध्+अ+त=ऐधत, ऐधेताम्, ऐधन्त। ऐधथाः, ऐधेथाम्, ऐधध्वम्। ऐधे, ऐधावहि, ऐधामहि।

आगे "लिङ्"—एध्+शप्+त, इस अवस्था में—

लिङः सीयुट् (३।४।१०२)—लिङ् लकार को सीयुट् का आगम हो। 'एध्+अ+सीयुट्+त', इस अवस्था में सुट् तिथोः (३।४।१०७) से सुट्—एध् अ सीय् सुट् त। सीयुट् और सुट् दोनों सकारों को लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य (७।२।७९) से लोप होकर—एध्+अ+इय्[2]+त[3]=एधेत, एधेयाताम्।

झस्य रन्—(३।४।१०५)—लिङ् लकार का जो झकार उस को रन् आदेश हो जावे। एधेरन्। एधेथाः, एधेयाथाम्, एधेध्वम्।

१. आडुत्तमस्य पिच्च (३।४।९२) से।
२. अतो येयः (७।२।८०) से इय्।
३. लोपो व्योर्वलि (६।१।६४) से य् लोप।

इटोऽत् (३।४।१०६)—लिङ् लकार के स्थान में जो इट् आदेश उसको अत् आदेश हो जावे। तपरकरण दीर्घ की निवृत्ति के लिये है। एधेय, एधेवहि, एधेमहि।

आशिष् लिङ् की आर्धधातुक संज्ञा होने से सकार का लोप नहीं होता। सीयुट् और सुट् दोनों सकारों को मूर्धन्यादेश होकर—एध्+इट्+सीयुट्+सुट्+त=एधिषीष्ट। यहां मूर्धन्य षकार के योग में तवर्ग को **ष्टुना ष्टुः** (८।४।४०) से टवर्ग हो जाता है। और तकार को कहा सुट् का आगम आताम् के आकार से परे होता है[1]—एध्+सीयुट्+आ+सुट्+ताम्=एधिषीयास्ताम्। एधिषीरन्, यहां रेफादि रन् आदेश के परे सीयुट् के यकार का लोप हो जाता है[2]। एधिषीष्ठाः, एधिषीयास्थाम्, एधिषीध्वम्। एधिषीय, एधिषीवहि, एधिषीमहि।

इसके आगे "लुङ्"—इसमें कुछ विशेष नहीं है। आट्+एध्+सिच्+त=ऐधिष्ट। ऐधिषाताम्।

आत्मनेपदेष्वनतः (७।१।५)—यह सूत्र अन्त आदेश का बाधक है। अकार-भिन्न से परे आत्मनेपद विषयक प्रत्यय के आदि झकार को अत् आदेश होवे। आट्+एध्+इट्+स्+अत=ऐधिषत। ऐधिष्ठाः, ऐधिषाथाम्। ध्वम् के धकार को **इणः षीध्वम्०** (७।३।७८) सूत्र से मूर्धन्य नहीं होता, क्योंकि "इट्" इणन्त अङ्ग नहीं है। "ऐध्+इट्+स्+ध्वम्=ऐधिध्वम्", यहां **'धि च'** (८।२।२५) से सकार का लोप हो जाता है। ऐधिषि, ऐधिष्वहि, ऐधिष्महि। "लृङ्"—

इसमें कुछ विशेष नहीं। आट्+एध्+इट्+स्य+त=ऐधिष्यत, ऐधिष्येताम्, ऐधिष्यन्त। ऐधिष्यथाः, ऐधिष्येथाम्, ऐधिष्यध्वम्। ऐधिष्ये, ऐधिष्यावहि, ऐधिष्यामहि[3]।

---

१. सुट् तकार थकार को आगम होता है (द्र०—पूर्व पृष्ठ २१८)।

२. लोपो व्योर्वलि (६।१।६४) से य् लोप।

३. एक यह नियम इस ग्रन्थ में पढ़ने पढ़ानेवालों को ध्यान में रखना चाहिये कि भू के तुल्य परस्मैपदी धातुओं के प्रयोग, और एध के समान आत्मनेपदी धातुओं के प्रयोग समझें। यहां से आगे सब धातुओं के दसों लकारों के एक-एक प्रयोग लकारों के क्रमानुसार लिखेंगे। और जहां विशेष सूत्र लगके विशेष प्रयोग बनेंगे, वहां सब रूप लिख दिया करेंगे। और प्रसिद्ध प्रयोग, जो चिह्नित अवयवों के सहित रक्खे जाते हैं, वे आगे विशेष-विशेष धातुओं के प्रयोगों में रक्खेंगे। विशेष—भू और

बाधृ विलोडने=हटा देना, बाधा पहुंचाना। बाधते, बबाधे, बाधिता, बाधिष्यते, बाधताम्, अबाधत, बाधेत, बाधिषीष्ट, अबाधिष्ट, अबाधिष्यत।

मुद हर्षे=आनन्दित होना। मोदते, मुमुदे, मोदिता, मोदिष्यते; मोदताम्, अमोदत, मोदेत, मोदिषीष्ट, अमोदिष्ट, अमोदिष्यत।

वदि अभिवादनस्तुत्योः=नमस्कार और प्रशंसा करना।

इदितो नुम् धातोः (७।१।५८)—जिस धातु का 'इ' इत् हो गया हो, उसको नुम् का आगम हो। मित् होने से वह अन्त्य अच् के परे होता है[२]। वन्द+वन्दते; ववन्दे; वन्दिता; वन्दिष्यते; वन्दताम्; अवन्दत; वन्देत; वन्दिषीष्ट; अवन्दिष्ट; अवन्दिष्यत।

यती प्रयत्ने=प्रयत्न=पुरुषार्थ करना। यतते। लिट् में यत्—एश्, द्विर्वचन, हलादिशेष—य+यत्+ए, इस अवस्था में—

अत एकहल्मध्ये अनादेशादेर्लिटि (६।४।१२०)—अनु०—एत् अभ्यासलोपः (६।४।११९ से)—कित् लिट् परे रहने पर एक हल् के मध्य (=दोनों ओर जिसके एक-एक हल् हैं ऐसे) अकार को एकार आदेश होता है, और अभ्यास का लोप हो जाता है—य यत् ए=य येत् ए=येते, येताते, येतिरे; येतिषे, येताथे, येतिध्वे; येते, येतिवहे, येतिमहे।

यतिता, यतिष्यते, यतताम्, अयतत, यतेत, यतिषीष्ट, अयतिष्ट, अयतिष्यत।

अथ अतादयः परस्मैभाषाः

अत सातत्यगमने=निरन्तर चलना। परस्मैपद में तिप् आदि नव ६ प्रत्यय आये लट्—अत्+शप्+तिप्=अतति, अततः, अतन्ति। अतसि, अतथः, अतथ। अतामि, अतावः, अतामः।

"लिट्"—द्विर्वचन होने के पश्चात् अभ्यास को पूर्ववत्[३] दीर्घ और एकादेश होकर—आत, आततुः, आतुः। आतिथ, आतथुः आत। आत, आतिव, आतिम।

एव धातुओं के रूप अच्छी तरह स्मरण कर लेने चाहियें। इस से अगली धातुओं के रूप स्वयं स्मरण हो जायेंगे।

१. अध्यापक को चाहिये कि यहां रूप के समान सब पूरे रूप छात्रों से बुलवावें, जिससे अभ्यास हो जावे।

२. मिदचोऽन्त्यात् परः (१।१।४६) से।

३. एवामास में अस् की तरह (पृष्ठ २४०)।

"लुट्"—अतिता, अतितारौ, अतितारः। अतितासि, अतितास्थः, अतितास्थ। अतितास्मि, अतितास्वः, अतितास्मः।

"लृट्"—अतिष्यति, अतिष्यतः, अतिष्यन्ति। अतिष्यसि, अतिष्यथः, अतिष्यथ। अतिष्यामि, अतिष्यावः, अतिष्यामः।

"लोट्"—अततु-अततात्, अतताम्, अतन्तु। अत-अततात्, अततम्, अतत। अतानि, अताव, अताम।

"लङ्"—आट् और उसके साथ वृद्धि होकर—आतत्, आतताम्, आतन्। आतः, आततम्, आतत। आतम्, आताव, आताम।

"लिङ्"—अतेत्, अतेताम्, अतेयुः। अतेः, अतेतम्, अतेत। अतेयम्, अतेव, अतेम।

"आशिषि लिङ्"—संयोगादि यास् और सुट् के सकारों का "स्कोः संयोगा०" (८।२।२७) सूत्र से लोप—अत्यात्, अत्यास्ताम्, अत्यासुः। अत्याः, अत्यास्तम्, अत्यास्त। अत्यासम्, अत्यास्व, अत्यास्म।

"लुङ्"—"आट्+अत्+इट्+सिच्+त्" इस अवस्था में—

वदव्रजहलन्तस्याचः (७।२।३)—परस्मैपद विषय में सिच् प्रत्यय परे हो, तो वद व्रज और हलन्त धातुओं के अच् को वृद्धि होवे। इससे वृद्धि प्राप्त हुई।

नेटि (७।२।४)—इडादि सिच् परे हो, तो पूर्वोक्त हलन्त धातुओं के अच् को वृद्धि न होवे। इससे वृद्धि का निषेध हो गया।

अस्तिसिचोऽपृक्ते (७।३।९६)—अस्ति धातु और सिच् प्रत्यय से परे अपृक्त हलादि सार्वधातुक को ईट् का आगम हो। "आट्+अत्+इट्+स्+ईट्+त्", इस अवस्था में—

इट ईटि (८।२।२८) इट् से परे सकार का लोप हो, ईट् परे हो तो। फिर दीर्घ एकादेश होकर—आतीत्। आतिष्टाम्। —आट्+अत्+इट्+सिच्+झि—

सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च (३।४।१०९)—सिच् प्रत्यय अभ्यस्तसंज्ञक धातु और विद् धातु से परे जो ङित् लकार को झि उसको जुस् आदेश होवे। यहां सिच् से परे झि को जुस् होता है। आट्+अत्+इट्+सिच्+जुस्=आतिषुः। आतीः, आतिष्टम्, आतिष्ट। आतिषम्, आतिष्व, आतिष्म।

'अत्'—धातु को आट् का आगम होकर वृद्धि एकादेश हो जाता है।

अतः सिच् के कारण प्राप्त होनेवाली वृद्धि का निषेध होने पर भी 'आतीत्' रूप बनता है। परन्तु जहां आट् का निषेध[1] है, वहां विशेष है। जैसे—मा भवान् अतीत्।

लृङ्—आतिष्यत्। आतिष्यताम्, आतिष्यन्। आतिष्यः, आतिष्यतम्, आतिष्यत। आतिष्यम्, आतिष्याव, आतिष्याम।

चिती संज्ञाने=ठीक-ठीक जानना। पुगन्तलघूपधस्य च[2] से उपधा को गुण होकर—चित्+शप्+तिप्=चेतति, चेततः, चेतन्ति। चिचेत। **असंयोगाल्लिट् कित्** (१।२।५) से अपित् लिट् कित् होकर गुण नहीं होता—चिचितुः, चिचितुः। चिचेतिथ, चिचितथुः, चिचित। चिचेत, चिचितिव, चिचितिम। चेतिता; चेतिष्यति; चेततु-चेततात्; अचेतत्; चेतेत्; चित्यात्; अचेतीत्; अचेतिष्यत्।

मन्थ विलोडने=बिलोना। मन्थति; ममन्थ; मन्थिता; मन्थिष्यति; मन्थतु; अमन्थत्; मन्थेत्। **आशिषि लिङ्** में—

अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति (६।४।२४)—कित्, ङित् प्रत्यय परे हों, तो जिसका ह्रस्व इकार इत् न गया हो ऐसा जो हलन्त अङ्ग उसकी उपधा के नकार का लोप होवे। **किदाशिषि** (३।४।१०४) से कित्, मन्थ्+यासुट्+सुट्+तिप्=मथ्यात्। अमन्थीत्; अमन्थिष्यत्।

गद व्यक्तायां वाचि=स्पष्ट बोलना। गदति; जगाद, जगदतुः; गदिता; गदिष्यति। लुङ् में—'अ गद् इट् सिच् ईट् त्, इस अवस्था में **नेटि** (७।२।४) से वृद्धि का निषेध होने पर—

अतो हलादेर्लघोः (७।२।७)—परस्मैपदविषयक इडादि सिच् परे हो, तो हलादि अंग के लघु अकार को विकल्प करके वृद्धि होवे। वृद्धि के विकल्प से—अगादीत, अगदीत्। अगदिष्यत्।

रद विलेखने=काटना (=लकड़ी पर रन्दा फेरना)। रदति; रराद, रेदतुः, रेदुः; रदिता; अरादीत्, अरदीत्। अरदिष्यत्।

णद अव्यक्ते शब्दे=अप्रकट शब्द होना।

णो नः (६।१।६४)—धातु के आदि णकार को नकारादेश होवे।

---

१. न माङ्योगे (६।४।७४) सूत्र से मा के योग में अट्, आट् नहीं होते।
२. अ० ७।३।८६।

नदति। ननाद, नेदतुः, नेदुः; नेदिथ, नेदथुः, नेद; ननाद, ननद, नेदिव, नेदिम। नदिता, नदिष्यति, नदतु, अनदत्, नदेत्, नद्यात्; अनादीत्, अनदीत्; अनदिष्यत्।

अथात्मनेभाषाः

शीकृ सेचने=सींचना। ऋकार की इत्संज्ञा। एध् के समान प्रयोग-सिद्धि जानो। शीकते, शिशीके, शीकिता, शीकिष्यते, शीकताम्, अशीकत, शीकेत, शीकिषीष्ट, अशीकिष्ट, अशीकिष्यत।

लोकृ दर्शने=देखना। लोकते, लोकेते, लोकन्ते; लोकसे, लोकेथे, लोकध्वे; लोके, लोकावहे, लोकामहे। लुलोके, लुलोकाते, लुलोकिरे; लुलोकिषे, लुलोकाथे, लुलोकिध्वे; लुलोके, लुलोकिवहे, लुलोकिमहे। लोकिता, लोकितारौ, लोकितारः; लोकितासे, लोकितासाथे, लोकिताध्वे; लोकिताहे, लोकितास्वहे, लोकितास्महे। लोकिष्यते, लोकिष्येते, लोकिष्यन्ते; लोकिष्यसे, लोकिष्येथे, लोकिष्यध्वे; लोकिष्ये, लोकिष्यावहे, लोकिष्यामहे। लोकताम्, लोकेताम्, लोकन्ताम्; लोकस्व, लोकेथाम्, लोकध्वम्; लोकै, लोकावहै, लोकामहै। अलोकत, अलोकेताम्, अलोकन्त; अलोकथाः, अलोकेथाम्; अलोकध्वम्; अलोके, अलोकावहि, अलोकामहि। लोकेत, लोकेयाताम्, लोकेरन्; लोकेथाः, लोकेयाथाम्, लोकेध्वम्; लोकेय, लोकेवहि, लोकेमहि। लोकिषीष्ट, लोकिषीयास्ताम्, लोकिषीरन्; लोकिषीष्ठाः, लोकिषीयास्थाम्, लोकिषीध्वम्; लोकिषीय, लोकिषीवहि, लोकिषीमहि। अलोकिष्ट, अलोकिषाताम्, अलोकिषत; अलोकिष्ठाः, अलोकिषाथाम्, अलोकिध्वम्; अलोकिषि, अलोकिष्वहि, अलोकिष्महि। अलोकिष्यत, अलोकिष्येताम्, अलोकिष्यन्त; अलोकिष्यथाः, अलोकिष्येथाम्, अलोकिष्यध्वम्; अलोकिष्ये, अलोकिष्यावहि, अलोकिष्यामहि।

लघि गतौ भोजननिवृत्तौ च=गति और लङ्घन करने में। लङ्घते, ललङ्घे, लङ्घिता, लङ्घिष्यते, लङ्घताम्, अलङ्घत, लङ्घेत, लङ्घिषीष्ट, अलङ्घिष्ट, अलङ्घिष्यत।

श्लाघृ कत्थने=आत्मप्रशंसा करना। श्लाघते, शश्लाघे इत्यादि।

अथ परस्मैभाषाः

घघ हसने=हंसना। घघति; जघाघ; घघिता; घघिष्यति, घघतु, अघघत्, घघेत्, घघ्यात्; अघघीत्[1]; अघाघीत्; अघघिष्यत्।

१. अतो हलादेर्लघोः (७।२।७) से विकल्प से वृद्धि। इट ईटि (८।२।२८) से सकार का लोप।

अर्च पूजायाम्=पूजा करना। अर्चति, आनर्च[1], अर्चिता, अर्चिष्यति, अर्चतु, आर्चत्, अर्चेत्, अर्च्यात्, आर्चीत्, आर्चिष्यत्।

म्लेछ अव्यक्ते शब्दे=अस्पष्ट बोलना। म्लेच्छति,[2] मिम्लेच्छ।

खजि गतिवैकल्ये= लंगड़ाकर चलना। खञ्जति[3], चखञ्ज।

एजृ कम्पने=कांपना। एजति; एजाञ्चकार, एजाम्बभूव; एजांमास; एजिता, एजिष्यति; एजतु, ऐजत्, एजेत्, एज्यात्, ऐजीत्, ऐजिष्यत्।

मडि भूषायाम्—शोभा। मण्डति[3], ममण्ड, मण्डिता, मण्डिष्यति; मण्डतु, अमण्डत्, मण्डेत्, मण्ड्यात्, अमण्डीत्, अमण्डिष्यत्।

पठ व्यक्तायां वाचि=स्पष्ट बोलना। पठति। पपाठ, पेठतुः, पेठुः, पेठिथ[4]। पठिता, पठिष्यति, पठतु, अपठत्, पठेत्, पठ्यात्; अपाठीत्, अपठीत्[5]; अपठिष्यत्।

क्रीडृ विहारे=खेलना। क्रीडति, चिक्रीड, क्रीडिता, क्रीडिष्यति, क्रीडतु, अक्रीडत्, क्रीडेत्, क्रीड्यात्, अक्रीडीत्, अक्रीडिष्यत्।

तुडृ तोडने=तोड़ना। तोडति, तुतोड।

अथात्मनेभाषाः

टुवेपृ कम्पने=टु की इत्संज्ञा[6]। वेपते, विवेपे—ह्रस्वः (७।४।५९) से ह्रस्व, (१।१।४७) के नियम से ए को इकार। वेपिता, वेपिष्यते, वेपताम्, अवेपत, वेपेत, वेपिषीष्ट, अवेपिष्ट, अवेपिष्यत।

---

१. तस्मान्नुड् द्विहलः (७।४।७१)—दीर्घ हुये अभ्यास से परे दो हल्वाले भाग को नुट् का आगम होता है। अर्च, णल्=अ अर्च, अ=आ अर्च, अ=आ न अर्च अ=आनर्च।

२. दीर्घात् (६।१।७३)—छ परे दीर्घ को तुक् का आगम होता है।

३. इदित् होने से इदितो नुम् धातोः (७।१।५८) से नुम्। नश्चापदान्तस्य झलि (८।३।२४) से अनुस्वार, और अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः (८।४।५७) से परसवर्ण।

४. थलि च सेटि (६।४।१२१)—सेट् थल् परे एक हल् के मध्य वर्तमान अकार को एकार और अभ्यास का लोप होता है।

५. अतो हलादेर्लघोः (७।३।७) से विकल्प से वृद्धि। इट ईटि (८।२।२८) से सकार का लोप।

६. आदिर्ञिटुडवः (१।३।५) से।

त्रपूष् लज्जायाम्—लज्जा करना। त्रपते, त्रेपे, त्रपन्ते।

तॄफलभजत्रपश्च (६।४।१२२)—कित् लिट् और सेट् थल् परे तॄ फल भज और त्रप धातुओं के अकार को एकारादेश और अभ्यास का लोप होवे। त्रप्+त्रप्+एश्=त्रेपे, त्रेपाते, त्रेपिरे; त्रेपिषे, त्रेपाथे, त्रेपिध्वे; त्रेपे, त्रेपिवहे, त्रेपिमहे। इस धातु का षकार इत् जाता है, अतः कृदन्त में **षिद्भिदादिभ्योऽङ्** (३।३।१०४) से अङ् प्रत्यय होकर—'त्रपा' रूप बनता है। और ऊदित् होने से **स्वरतिसूतिसूयतिधूञूदितो वा** (७।२।४४) सूत्र से वलादि आर्धधातुक को विकल्प से इडागम होकर—त्रपिता, त्रप्ता; त्रपिष्यते, त्रप्स्यते; त्रपताम्, अत्रपत, त्रपेत; त्रपिषीष्ट; त्रप्सीष्ट; अत्रपिष्ट, अत्रप्त[1], अत्रपिषाताम्, अत्रप्साताम्, अत्रपिषत, अत्रप्सत; अत्रपिष्यत, अत्रप्स्यत।

कपि चलने=चलना, चलायमान होना, काँपना। कम्पते, चकम्पे, कम्पिता, कम्पिष्यते, कम्पताम्, अकम्पत, कम्पेत, कम्पिषीष्ट, अकम्पिष्ट, अकम्पिष्यत।

अथ परस्मैभाषाः

जप, जल्प व्यक्तायां वाचि=स्पष्ट बोलना। जपति। जजाप, जेपतुः, जेपुः; जपिता; जपिष्यति, जपतु, अजपत्, जपेत्, जप्यात्; अजापीत्, अजपीत् (वृद्धि का विकल्प पूर्ववत्), अजपिष्यत्। जल्पति, जजल्प, जल्पिता इत्यादि।

जप मानसे च=विचार-पूर्वक मन में जपना।

चुबि वक्त्रसंयोगे=मुँह का संयोग=चूमना। इदित् होने से नुम्—चुम्बति, चुचुम्ब, चुम्बिता इत्यादि।

फल निष्पत्तौ=सिद्धि होना। फलति। पफाल, **तॄफलभजत्रपश्च** (६।४।१२२) से एत्व और अभ्यास का लोप होकर—फेलतुः, फेलुः। फलिता, फलिष्यति, फलतु, अफलत्, फलेत्, फल्यात्। लुङ् में—

अतो ल्रान्तस्य (७।२।२)—अकार के समीप जो रेफ और लकार तदन्त अङ्ग के अकार को वृद्धि हो, परस्मैपद में, सिच् परे रहने पर। इससे वृद्धि होकर—अफालीत्। अफलिष्यत्।

स्खल सञ्चलने=चलायमान होना, पथभ्रष्ट होना। स्खलति, चस्खाल, स्खलिता, स्खलिष्यति, स्खलतु, अस्खलत्, स्खलेत्, स्खल्यात्, अस्खालीत् (**अतो ल्रान्तस्य** से वृद्धि), अस्खलिष्यत्।

१. झलो झलि (८।२।२६) से सकार का लोप।

चर गतिभक्षणयोः=गति करना और खाना। चरति; चचार, चेरतुः, चेरुः; चरिता, चरिष्यति, चरतु, अचरत्, चरेत्, चर्यात्, अचारीत् (**अतो ल्रान्तस्य** से वृद्धि), अचरिष्यत्।

ष्ठिवु निरसने=थूकना। इस धातु के षकार को **सुब्धातुष्ठिवुष्वष्कतीनां प्रतिषेधः** (वा० ६।१।६४) इस वार्तिक से सकारादेश नहीं होता। ष्ठिव् अ ति—

ष्ठिवुक्लमुचमां शिति (७।३।७५)—ष्ठिवु क्लमु और चमु धातु को शित् प्रत्यय परे रहने पर दीर्घ होता है। इससे दीर्घ होकर—ष्ठीवति। धातु में षकार के योग में थकार को ठकार हुआ है। अतः अभ्यास में **शर्पूर्वाः खयः** (७।३।६१) से थि शेष रहता है। अतः—तिष्ठेव, तिष्ठिवतुः, तिष्ठिवुः। ष्ठेविता, ष्ठेविष्यति, ष्ठीवतु, अष्ठीवत्, ष्ठीवेत्। आशिषि लिङ् में—

हलि च (८।२।७७)—रेफ वकारान्त धातु की उपधा इक् को हल् परे रहने पर दीर्घ होता है। इससे—ष्ठिव् यास् सुत् ति=ष्ठीव्यात्। अष्ठेवीत्, अष्ठेविष्यत्।

जि जये=उन्नति को प्राप्त होना, जीतना। यह धातु अनिट् और अकर्मक है। जि+शप्+तिप् =जयति (गुण और अय् आदेश होता है। जयतः, जयन्ति। 'लिट्'—

सन्लिटोर्जेः (७।३।५७)—सन् और लिट् प्रत्यय परे हों, तो जि धातु के अभ्यास से परे उत्तर भाग को कवर्गादेश हो। जि+णल्, इस अवस्था में द्वित्व होकर—जि+जि+णल्=जि जै अ=जिजाय अ=जिगाय। यहां पर अभ्यास से उत्तर जकार को गकार हो जाता है। जि जि+अतुस् इस अवस्था में—

एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य (६।४।८२)—असंयोगपूर्व इवर्णान्त अनेकाच् अङ्ग को अच् परे रहने पर यणादेश होता है। यह सूत्र इयङ् उवङ् का बाधक है। इससे यणादेश होकर—जिग्यतुः, जिग्युः। जिगेथ, **अचस्तास्वत् थल्यनिटो नित्यम्** (७।२।६१) सूत्र से थल् में इट् का निषेध। और—जिगयिथ, **ऋतो भारद्वाजस्य** (७।२।६३) सूत्र के भारद्वाज नियम से इडागम हो जाता है। जिग्यथुः, जिग्य, जिगाय-जिगय, जिग्यिव, जिग्यिम। 'लुट्'—जेता, जेतारौ, जेतारः; जेतासि, जेतास्थः, जेतास्थ; जेतास्मि, जेतास्वः, जेतास्मः। 'लृट्'—जेष्यति, जेष्यतः, जेष्यन्ति; जेष्यसि, जेष्यथः, जेष्यथ; जेष्यामि, जेष्यावः, जेष्यामः। 'लोट्'—जयतु-जयतात्, जयताम्, जयन्तु;

जय-जयतात्, जयतम्, जयत; जयानि, जयाव, जयाम। 'लङ्'—अजयत्, अजयताम्, अजयन्; अजयः, अजयतम्, अजयत; अजयम्, अजयाव, अजयाम। 'लिङ्'—जयेत्, जयेताम्, जयेयुः; जयेः, जयेतम्, जयेत; जयेयम्, जयेव, जयेम। 'आशीर्लिङ्'—

अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः (७।४।२५)—कृत्संज्ञक और सार्वधातुक-संज्ञक को छोड़कर अन्य यकारादि प्रत्यय परे रहने पर अजन्त अङ्ग को दीर्घ होता है। यहाँ आशिषि लिङ् की आर्धधातुक संज्ञा होने से दीर्घ होकर—जीयात्, जीयास्ताम्; जीयासुः; जीयाः, जीयास्तम्, जीयास्त; जीयासम्, जीयास्व, जीयास्म। 'लुङ्'—अट्+जि+सिच्+तिप्—

सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु (७।२।१)—परस्मैपद में सिच् परे रहने पर इगन्त अङ्ग को वृद्धि होती है। इस सूत्र से वृद्धि होकर—अजैषीत्, अजैष्टाम्, अजैषुः; अजैषीः, अजैष्टम्, अजैष्ट; अजैषम्, अजैष्व, अजैष्म। 'लृङ्'—अजेष्यत्, अजेष्यताम्, अजेष्यन्।

जीव प्राणधारणे=प्राणों का धारण करना। जीवति; जिजीव, जीविता, जीविष्यति, जीवतु, अजीवत्, जीवेत्, जीव्यात्, अजीवीत्, अजीविष्यत्। जीव् धातु के गुरूपध होने से गुण नहीं होता।

अव रक्षणगतिकान्तिप्रीतितृप्त्यवगमप्रवेशश्रवणस्वाम्यर्थयाचनक्रियेच्छादीप्त्यवाप्त्यालिङ्गनहिंसादानभागवृद्धिषु=रक्षा, गति, शोभा, प्रीति, तृप्ति, बोध होना, प्रवेश करना, सुनना, अध्यक्ष का कार्य साधना, मांगना, चेष्टा, इच्छा, प्रकाश, प्राप्ति, लिपटना, हिंसा, देना, विभाग करना और बढ़ाना[1]। अवति; आव, आवतुः, आवुः; अविता, अविष्यति, अवतु, अवत्, अवेत्, अव्यात्, आवीत्, आविष्यत्।

अथात्मनेभाषाः

शिक्ष विद्योपादाने—विद्या का ग्रहण करना। शिक्षते, शिशिक्षे।

भिक्ष भिक्षायामलाभे लाभे च=भिक्षा[2] मांगना मिले वा न मिले। भिक्षते, बिभिक्षे।

---

१. 'ओम्' शब्द की सिद्धि 'अवतेष्टिलोपश्च' (उ० १।१४२) सूत्र से 'अव्' धातु से 'मन्' प्रत्यय होकर होती है। 'ओम्' शब्द की विस्तृत व्याख्या स्व० श्री स्वामी सर्वदानन्द जी कृत 'सन्मार्ग-दर्शन' के अन्तर्गत 'नामगति' प्रकरण में देखनी चाहिये।

२. भिक्षा और भीख में बहुत अन्तर है। ब्रह्मचारी और संन्यासी जीवन-

ईक्ष दर्शने=विचारपूर्वक देखना। ईक्षते; ईक्षाञ्चक्रे, ईक्षाम्बभूव, ईक्षामास।

भाष व्यक्तायां वाचि=स्पष्ट बोलना। भाषते; बभाषे, भाषिता, भाषिष्यते, भाषताम्, अभाषत, भाषेत, भाषिषीष्ट, अभाषिष्ट, अभाषिष्यत।

ईह चेष्टायाम्=क्रिया। ईहते; ईहाञ्चक्रे, ईहाम्बभूव, ईहामास; ईहिता, ईहिष्यते, ईहताम्, ऐहत, ईहेत, ईहिषीष्ट, ऐहिष्ट, ऐहिष्यत।

अथ परस्मैभाषाः

रक्ष पालने=रक्षा करना। रक्षति, ररक्ष, रक्षिता, रक्षिष्यति, रक्षतु, अरक्षत्, रक्षेत्, रक्ष्यात्, अरक्षीत्, अरक्षिष्यत्।

चूष पाने=चूसना। चूषति, चुचूष, चूषिता, चूषिष्यति, चूषतु, अचूषत्, चूषेत्, चूष्यात्, अचूषीत्, अचूषिष्यत्।

भूष अलङ्कारे=सुशोभित होना। भूषति, बुभूष, भूषिता, भूषिष्यति, भूषतु, अभूषत्, भूषेत्, भूष्यात्, अभूषीत्, अभूषिष्यत्।

घस्लृ अदने—खाना। घसति। जघास। जघस्+अतुस्, इस अवस्था में—

गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि (६।४।९८)—गम, हन, जन, खन और घस् धातुओं के उपधा अकार का लोप हो, अङ् भिन्न अजादि कित् ङित् प्रत्यय परे हों तो। ज घ् स् अतुस् । खरि च (८।४।५४) सूत्र से 'घ' को 'क्' और पीछे **शासिवसिघसीनां च** (८।३।६०) से षत्व होकर—जक्षतुः, जक्षुः। जघस्+थल्, इस अवस्था में—

उपदेशेऽत्वतः (७।२।६२)—तास् प्रत्यय के परे नित्य अनिट् उपदेश में जो अकारवान् धातु है, उससे परे जो थल् उसको इट् का आगम न हो। इस सूत्र से इट् का निषेध होकर—जघस्थ। भारद्वाज के मत में ऋकारान्तों को तास्वत्थायें के नियम (द्र०—पूर्व पृष्ठ २२९ भारद्वाज-नियम) से उपदेश में अकारवान् और अजन्तों को इडागम हो जाता है। जघसिथ। जक्षथुः, जक्ष; जघास-जघस, जक्षिव, जक्षिम। घस्ता, घस्तारौ, घस्तारः। घस्+स्य+तिप्, इस अवस्था में—

निर्वाह के लिये आश्रम-मर्यादानुसार जो गृहस्थों से भोजन-वस्त्र की कामना करते हैं, वह भिक्षा है। और अनधिकारी जो लोगों से अन्न वस्त्र आदि मांगते हैं वह भीख है। भीख मांगना निन्दित कर्म है।

सः स्यार्धधातुके (७।४।४९)—सकारादि आर्धधातुक प्रत्यय परे हो, तो सकार को तकार आदेश हो। यहाँ घस् के सकार को तकार होकर—घत्स्यति। घसतु, अघसत्, घसेत्, घस्यात्।

पुषादिद्युताद्य्लृदितः परस्मैपदेषु (३।१।५५)—दिवादिगण के पुष् आदि, द्युतादि और लृ जिनका इत् गया हो, उन धातुओं से परे जो च्लि प्रत्यय उसके स्थान में अङ् आदेश हो, परस्मैपद विषय में कर्त्ता विषय में लुङ् लकार परे हो तो। यहाँ लृदित् घस् धातु से अङ् होकर—अट्+घस्+अङ्+तिप्=अघसत्, अघसताम्, अघसन्; अघसः, अघसतम्, अघसत; अघसम्, अघसाव, अघसाम। अघत्स्यत्, अघत्स्यताम्, अघत्स्यन्।

हसे हसने=हंसना। इस धातु के एकार की इत्संज्ञा होती है। हसति; जहास, जहसतुः, हसिता, हसिष्यति, हसतु, अहसत्, हसेत्, हस्यात्। लुङ् में—हस् इट् स् ईट् त्, इस अवस्था में=

वदव्रजहलन्तस्याचः (७।२।३)—परस्मैपदपरक सिच् परे रहने पर वद व्रज और हलन्त अङ्ग के अच् को वृद्धि हो। इनसे वृद्धि प्राप्त होने पर नेटि (७।२।४) से निषेध हो जाता है। पुनः **अतो हलादेर्लघोः** (७।२।७) से विकल्प से वृद्धि प्राप्त होने पर—

ह्म्यन्तक्षणश्वसजागृणिश्व्येदिताम् (७।२।५)—हकारान्त, मकारान्त, यकारान्त और क्षण, श्वस, जागृ, ण्यन्त, श्वि और एदित् अङ्ग को वृद्धि न हो, परस्मैपदपरक इडादि सिच् परे रहने पर। इस सूत्र से हस् धातु के एदित् होने से वृद्धि का निषेध होकर—अहसीत्। अहसिष्यत्।

अथात्मनेभाषाः

द्युत दीप्तौ=प्रकाशित होना। द्योतते। लिट्—द्युत्-द्युत्-एश्, इस अवस्था में—

द्युतिस्वाप्योः संप्रसारणम् (७।४।६७)—द्युति और स्वापि धातु के अभ्यास को संप्रसारण हो। द्यु+द्युत्+एश्, यहाँ प्रथम द्यु के यकार के स्थान में 'इ' संप्रसारण होकर—द्+इ+उ+द्युत्+एश्, इस अवस्था में—

संप्रसारणाच्च (६।१।१०६)—संप्रसारण से अच् परे हो, तो पूर्व पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होवे। यहाँ 'इ' संप्रसारण से परे उकार को पूर्वरूप होकर—दि+द्युत्+एश्=दिद्युते, दिद्युताते, दिद्युतिरे। द्योतिता, द्योतिष्यते, द्योतताम्, अद्योतत, द्योतेत, द्योतिषीष्ट। लुङ् में—

द्युद्भ्यो लुङि (१।३।९१)—द्युत आदि धातुओं से परे जो लुङ् लकार उसके स्थान में परस्मैपद विकल्प करके हो। ये द्युत आदि धातु आत्मनेपदी हैं, लुङ् में परस्मैपद किसी से प्राप्त नहीं इस कारण इस सूत्र से विकल्प से विधान किया है। परस्मैपद में **पुषादिद्युताद्यॢदितः परस्मैपदेषु** (३।१।५५) से अङ् होकर—अद्युतत्, अद्युतताम्, अद्युतन्; अद्युतः, अद्युततम्, अद्युतत; अद्युतम्, अद्युताव, अद्युताम। आत्मनेपद पक्ष में—अद्योतिष्ट, अद्योतिषाताम्, अद्योतिषत। अद्योतिष्यत। अगली आत्मनेपदी धातुओं में भी लुङ् में दोनों पद (परस्मै-आत्मने) होंगे।

ञिमिदा स्नेहने=प्रीति। यहां **आदिर्ञिटुडवः** (१।३।५) सूत्र से ञि की इत् संज्ञा और आकार भी इस धातु का इत् होता है। मेदते। मिमिदे, मिमिदाते, मिमिदिरे। मेदिता, मेदिष्यते, मेदताम्, अमेदत, मेदेत, मेदिषीष्ट; अमिदत्, अमेदिष्ट; अमेदिष्यत।

रुच दीप्तावभिप्रीतौ च=प्रकाश और अत्यन्त प्रीति। रोचते; रुरुचे, रुरुचाते, रुरुचिरे; रोचिता, रोचिष्यते, रोचताम्, अरोचत, रोचेत, रोचिषीष्ट; अरुचत्, अरोचिष्ट, अरोचिष्यत।

शुभ दीप्तौ=प्रकाश। शोभते, शुशुभे, शोभिता, शोभिष्यते, शोभताम्, अशोभत, शोभेत, शोभिषीष्ट, अशुभत्, अशोभिष्ट, अशोभिष्यत।

वृतु वर्तने—वर्तना (व्यवहार करना, वर्तमान रहना)। वर्तते, वर्तेते, वर्तन्ते; वर्तसे, वर्तेथे, वर्तध्वे; वर्ते, वर्तावहे, वर्तामहे। ववृते, ववृताते, ववृतिरे; ववृतिषे, ववृताथे, ववृतिध्वे; ववृते, ववृतिवहे, ववृतिमहे। वर्तिता। 'लृट्' में—

वृद्भ्यः स्यसनोः (१।३।९२)—वृतु आदि धातुओं से परे स्य और सन् प्रत्यय के विषय में परस्मैपदसंज्ञक प्रत्यय विकल्प करके हों। यहां लृट् लकार में परस्मैपद तिप् आदि होकर—वृत्+स्य+तिप्, इस अवस्था में इट् का आगम प्राप्त है। इसलिये—

न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः (७।२।५९)—वृतु आदि चार धातुओं से परे जो सकारादि आर्धधातुक उसको इट् का आगम न हो, परस्मैपद विषय में। फिर उपधा को गुण होकर—वर्त्स्यति, वर्त्स्यतः, वर्त्स्यन्ति। जिस पक्ष में परस्मैपद नहीं होता, वहां—वर्तिष्यते, वर्तिष्येते, वर्तिष्यन्ते। वर्तताम्, वर्तेताम्, वर्तन्ताम्। अवर्तत, वर्तेत, वर्तिषीष्ट; अवृतत्, अवर्तिष्ट; अवर्त्स्यत्, अवर्तिष्यत।

वृधु वृद्धौ—बढ़ना। वर्धते, ववृधे, वर्धन्ते। ववृधे, वर्धितासे, वत्स्यति, वर्धिष्यते; वर्धताम्, अवर्धत, वर्धेत, वर्धिषीष्ट; अवृधत्, अवर्धिष्ट; अवत्स्र्यत्, अवर्धिष्यत। (इति द्युतादयः)।

अथात्मनेभाषाः

घट चेष्टायाम्=चेष्टा। घटते, जघटे, घटिता, घटिष्यते, घटताम्, अघटत, घटेत, घटिषीष्ट, अघटिष्ट, अघटिष्यत।

प्रथ प्रख्याने[1]=प्रसिद्धि। प्रथते, पप्रथे, अप्रथिष्ट।

म्रद मर्दने=मलना। म्रदते, मम्रदे।

ञित्वरा सम्भ्रमे=शीघ्रता। त्वरते, तत्वरे, त्वरिता, त्वरिष्यते, त्वरताम्, अत्वरत, त्वरेत, त्वरिषीष्ट, अत्वरिष्ट, अत्वरिष्यत।

अथ परस्मैभाषाः

ज्वर रोगे=बीमार होना। ज्वरति, जज्वार[2], ज्वरिता, ज्वरिष्यति, ज्वरतु, अज्वरत्, ज्वरेत्, ज्वर्यात्, अज्वारीत्, अज्वरिष्यत्।

ज्वल दीप्तौ=जलना। ज्वलति, जज्वाल, अज्वालीत्, अज्वलिष्यत्।

घटादयो मितः—'घट चेष्टायाम्' धातु से लेकर जितने धातु लिख चुके हैं, उन सब की मित् संज्ञा होती है। इस मित् संज्ञा का प्रयोजन णिजन्त[3] में आवेगा।

जनीजृष्क्नसुरञ्जोऽमन्ताश्च=जनी जृष् और क्नसु ये तीनों दिवादि-गण के हैं, और रञ्ज् धातु भ्वादि और दिवादिगण का है, अम् जिसके अन्त में हो ऐसे छम्, जम्, गम्, रम्, नम् आदि सब गणों के धातु मित्संज्ञक होते हैं।

चल कम्पने=काँपना। चलति; चचाल, चलतु; चलिता, चलिष्यति, चलतु, अचलत्, चलेत्, चल्यात्, अचालीत्, अचलिष्यत्।

---

१. तामप्रथयत् सा पृथिव्यभवत् (शत० ६।१।१।१५) में प्रथ धातु का अर्थ 'विस्तार' भी है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी सत्यार्थप्रकाश समु० १ में, तथा उणादिकोष १।२८, १३७, १५० की वृत्ति (प्रथम संस्करण) में विस्तार अर्थ ही लिखा है।

२. अतो लान्तस्य (७।२।२) से वृद्धि।

३. मितां ह्रस्वः (६।४।९२) से णिजन्त में ह्रस्व होगा—घटयति।

पत्लृ गतौ=गिरना। पतति; पपात, पेततुः; पतिता, पतिष्यति, पततु, अपतत्, पतेत्, पत्यात्। इस पत धातु का लृ इत् जाता है। इससे लुङ् में अङ् होकर—

पतः पुम् (७।४।१९)—अङ् परे हो, तो पत् धातु को पुम् का आगम होवे। पुम् मित् होने से अन्त्य अच् पकार से परे होता है। अट्+प+पुम्+त्+अङ्+तिप्=अपप्तत्, पुम् में से उम् भाग की इत्संज्ञा होती है। अपप्तताम्, अपप्तन्; अपप्तः, अपप्ततम्, अपप्तत; अपप्तम्, अपप्ताव, अपप्ताम। अपतिष्यत्।

क्षर संचलने=टपकना, क्षीण होना। क्षरति; चक्षार, चक्षरतुः; क्षरिता, क्षरिष्यति, क्षरतु, अक्षरत्, क्षरेत्, क्षर्यात्, अक्षारीत्, अक्षरिष्यत्।

अथोभयतोभाषाः

अब स्वरितेत् धातुएं लिखते हैं। स्वरित या ञकार जिनका इत्संज्ञक होता है, उनसे—

स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले (१।३।७२)—जिन धातुओं का स्वरित अच् और ञकार इत्संज्ञक हो, उनसे कर्त्रभिप्राय क्रियाफल (क्रिया का फल कर्ता के लिये हो) अर्थ में आत्मनेपद होता है। क्रियाफल दूसरे के लिये हो, तो इनसे परस्मैपद होता है। (विशेष द्र०—पूर्व पृष्ठ २०९ पर)। इसलिये ऐसी धातुएं उभयपदी कहाती हैं।

टुयाचृ याच्ञायाम्=मांगना। याचते, याचति; ययाचे, ययाच; याचितासे, याचितासि; याचिष्यते, याचिष्यति; याचताम्, याचतु; अयाचत, अयाचत्; याचेत, याचेत्; याचिषीष्ट, याच्यात्; अयाचिष्ट, अयाचीत्; अयाचिष्यत, अयाचिष्यत्।

भक्ष अदने=खाना। भक्षति, भक्षते; बभक्ष, बभक्षे।

दासृ दाने=देना। दासति, दासते; ददास, ददासे।

श्रिञ् सेवायाम्=सेवा करना। यह एकाच् धातु सेट् है। ञ् की इत्संज्ञा होने से पूर्ववत् उभयपद। श्रि+शप्+तिप्=श्रयति, श्रयतः, श्रयन्ति, श्रयसि; श्रयते, श्रयेते, श्रयन्ते; शिश्राय, शिश्रियतुः[1] शिश्रिये;

---

१. अपित् लिट् के कित् होने से गुण का निषेध, और अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ (६।४।७७) से इयङ्।

श्रयितासि, श्रयितासे; श्रयिष्यति, श्रयिष्यते; श्रयतु, श्रयताम्; अश्रयत्, अश्रयत, श्रयेत्, श्रयेत; श्रीयात्, श्रयिषीष्ट। श्रि लुङ् इस अवस्था में—

णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ् (३।१।४८)—ण्यन्त, श्रि द्रु स्रु धातुओं से कर्तृ विषयक लुङ् परे च्लि के स्थान में चङ् विकरण होता है। श्रि+चङ्+त—

चङि (६।१।११)—चङ् परे रहने पर धातु के प्रथम एकाच् और अजादि के द्वितीय एकाच् को द्विवचन होता है अभ्याससंज्ञक को छोड़कर। द्विवचन होकर=श्रि श्रि अ त्=शि श्रि अ त्, इयङ् और अट् होकर—अशिश्रियत्, अशिश्रियत; अश्रयिष्यत्, अश्रयिष्यत।

भृञ् भरणे=धारण और पोषण। गुण होकर—भरति, भरते; बभार, बभ्रतुः, बभ्रुः—यहां यणादेश होकर होता है। बभ्रे, बभ्राते, बभ्रिरे; बभ्रवहे, बभ्रमहे। अनिट् (एकाच् अनुदात्त) होने से—भर्त्तासि, भर्त्तासे। लृट् में—**ऋद्धनोः स्ये** (७।२।७०) से इट् होकर—भरिष्यति, भरिष्यते; भरतु, भरताम्; अभरत्, अभरत; भरेत्, भरेत। आशिषि लिङ्—भृ सीयुट् सुट् त—

उश्च (१।२।१२)—ऋवर्णान्त धातु से परे झलादि लिङ् और सिच् आत्मनेपद में कित् होते हैं। कित् होने से गुण का निषेध होकर—भृषीष्ट, भृषीयास्ताम्, भृषीरन्, भृषीष्ठाः, भृषीढ्वम्। भृ यासुट् सुट् ति—

रिङ् शयग्लिङ्क्षु (७।४।२८)—ऋकारान्त अङ्ग को श, यक् और असार्वधातुक यकारादि लिङ् परे रिङ् आदेश होता है। ङित् होने से अन्त्यादेश होकर—भ् रि=भ्रियात्, भ्रियास्ताम्। लुङ् में—अ भृ सिच् त—

ह्रस्वादङ्गात् (८।२।२७)—ह्रस्वान्त अङ्ग से परे जो सकार उसका लोप होवे, झल् परे हो तो। अभृत, अभृषाताम्; आताम् के झलादि प्रत्यय न होने से सिच् का लोप नहीं होता। अभृषत, अभृथाः, अभृषाथाम्, अभृढ्वम्; अभृषि, अभृष्वहि, अभृष्महि। परस्मैपद में **सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु** (७।२।१) से वृद्धि होकर—अभार्षीत्, अभार्ष्टाम्, अभार्षुः। अभरिष्यत्—**ऋद्धनोः स्ये** (७।२।७०) से इट्, अभरिष्यत।

हृञ् हरणे=पहुंचाना, ग्रहण, चोरी और नाश करना आदि।

धृञ् धारणे=धारण करना।

—इन दोनों धातुओं के भृञ् धातु के समान रूप जानो। लिट् में कादि—

१. इणः षीध्वंलुङ्लिटां धोऽङ्गात् (८।३।७८) से मूर्धन्य।

नियम से इट् (द्र०—पूर्व पृष्ठ २२५) विशेष है। हरति, हरते; जहार, जह्रतुः, जहर्थ, जहार-जहर, जह्रिव, जह्रिम। जह्रे, जह्राते, जह्रिषे, जह्रिढ्वे-जह्रिध्वे¹, जह्रिवहे; हर्तासि, हर्तासे; हरिष्यति, हरिष्यते; हरतु, हरताम्; अहरत्, अहरत; हरेत्, हरेत; ह्रियात्—रिङ्, हृषीष्ट, हृषीढ्वम्; अहार्षीत्—वृद्धि, अहृत—सिच्लोप, अहृषाताम्, अहृषत; अहरिष्यत्, अहरिष्यत।

धरति, धरते; दधार, दध्रतुः, दधर्थ; दध्रे, दध्रिषे; धर्तासि, धर्तासे; धरिष्यति, धरिष्यते; धरतु, धरताम्; अधरत्, अधरत; धरेत्, धरेत; ध्रियात्, धृषीष्ट, धृषीढ्वम्; अधार्षीत्, अधृत, अधृषाताम्, अधृषत, अधृढ्वम्; अधरिष्यत्, अधरिष्यत।

णीञ् प्रापणे=ले चलना।

णो नः (६।१।६३)—धातु के आदि णकार को नकार आदेश हो। णी=नी—नयति, नयते। निनाय, नी नी अतुस्—

एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य (६।४।८२)—जिसके पूर्व में संयोग नहीं है, ऐसे इकारान्त अनेकाच् अङ्ग को अच् परे यण् होता है। निन्यतुः, निन्युः, निनयिथ-निनेथ (भारद्वाज नियम से इट् विकल्प), निन्यथुः, निन्य, निनाय-निनय—णलुत्तमो वा (७।१।९१) से णित् विकल्प होने से णिद् अभाव में गुण होता है। निन्यिव, निन्यिम—क्रादि नियम से इट्। निन्ये, निन्याते, निन्यिरे; नेतासि, नेतासे; नेष्यति, नेष्यते; नयतु, नयताम्; अनयत्, अनयत; नयेत्, नयेत; नीयात्, नेषीष्ट; अनैषीत्, अनेष्ट, अनेषाताम्, अनेष्यत्, अनेष्यत।

अथ परस्मैभाषाः

पा पाने=पीना। पा शप् तिप्, इस अवस्था में—

पाघ्राध्मास्थाम्नादाण्दृश्यर्तिसर्तिशदसदां पिबजिघ्रधमतिष्ठमनयच्छपश्यर्च्छधौशीयसीदाः (७।३।७८)—परस्मैपदसंरक शित् प्रत्यय परे होने पर पा, घ्रा, ध्मा, स्था, म्ना, दाण्, दृशि, अर्ति (ऋ), सर्ति (सृ), शद, सद् धातुओं को यथासंख्य पिब, जिघ्र, धम, तिष्ठ, मन, यच्छ, पश्य, ऋच्छ, धौ, शीय, सीद आदेश होते हैं। इससे पा को 'पिब' आदेश होकर—पिब अ ति=पिबति—'पिब' आदेश अकारान्त होता है, इसलिये इकार को गुण नहीं होता। लिट्—पा णल्—पा पा अ—प पा अ, इस अवस्था में—

१. विभाषेटः (८।३।७९) से विकल्प से मूर्धन्य।

२. पा घ्रा ध्मा तीनों धातुएँ अनुदात्त हैं, इन से इट् नहीं होगा।

नियम से इट् (द्र०—पूर्व पृष्ठ २२५) विशेष है। हरति, हरते; जहार, जह्रतुः, जहर्थ, जहार-जहर, जह्रिव, जह्रिम। जह्रे, जह्राते, जह्रिषे, जह्रिढ्वे-जह्रिध्वे[1]; जह्रिवहे; हर्तासि, हर्तासे; हरिष्यति, हरिष्यते; हरतु, हरताम्; अहरत्, अहरत; हरेत्, हरेत; ह्रियात्—रिङ्, हृषीष्ट, हृषीढ्वम्; अहार्षीत्—वृद्धि, अहृत—सिच्लोप, अहृषाताम्, अहृषत, अहरिष्यत्, अहरिष्यत।

धरति, धरते; दधार, दध्रतुः, दधर्थ; दध्रे, दध्रिषे; धर्तासि, धर्तासे; धरिष्यति, धरिष्यते; धरतु, धरताम्; अधरत्, अधरत; धरेत्, धरेत; ध्रियात्, धृषीष्ट, धृषीढ्वम्; अधार्षीत्, अधृत, अधृषाताम्, अधृषत, अधृढ्वम्; अधरिष्यत्, अधरिष्यत।

णीञ् प्रापणे=ले चलना।

णो नः (६।१।६३)—धातु के आदि णकार को नकार आदेश हो। णी=नी—नयति, नयते। निनाय, नी नी अतुस्—

एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य (६।४।८२)—जिसके पूर्व में संयोग नहीं है, ऐसे इकारान्त अनेकाच् अङ्ग को अच् परे यण् होता है। निन्यतुः, निन्युः, निनयिथ-निनेथ (भारद्वाज नियम से इट् विकल्प), निन्यथुः, निन्य, निनाय, निनय—णलुत्तमो वा (७।१।९१)—से णित् विकल्प होने से णित् अभाव में गुण होता है। निन्यिव, निन्यिम—क्रादि नियम से इट्। निन्ये, निन्याते, निन्यिरे; नेतासि, नेतासे; नेष्यति, नेष्यते; नयतु, नयताम्; अनयत्, अनयत; नयेत्, नयेत; नीयात्, नेषीष्ट; अनैषीत्, अनेष्ट, अनेषाताम्, अनेष्यत्, अनेष्यत।

अथ परस्मैभाषाः

पा[2] पाने=पीना। पा शप् तिप्, इस अवस्था में—

पाघ्राध्मास्थाम्नादाण्दृश्यर्तिसर्तिशदसदां पिबजिघ्रधमतिष्ठमनयच्छ-पश्यर्च्छधौशीयसीदाः (७।३।७८)—परस्मैपदप्रेरक शित् प्रत्यय परे होने पर पा, घ्रा, ध्मा, स्था, म्ना, दाण्, दृशि, अर्ति (ऋ), सर्ति (सृ), शद, सद धातुओं को यथासंख्य पिब, जिघ्र, धम, तिष्ठ, मन, यच्छ, पश्य, ऋच्छ, धौ, शीय, सीद आदेश होते हैं। इससे पा को 'पिब' आदेश होकर—पिब अ ति=पिबति। 'पिब' आदेश अकारान्त होता है, इसलिये इकार को गुण नहीं होता। लिट्—पा णल्—पा पा अ—प पा अ, इस अवस्था में—

१. विभाषेटः (८।३।७९) से विकल्प से मूर्धन्य।

२. पा, घ्रा, ष्ठा तीनों धातुएं अनुदात्त हैं, इन से इट् नहीं होगा।

आत औ णलः (७।१।३४)—आकारान्त अङ्ग से परे णल् के स्थान में 'औ' आदेश होता है। इससे औ होकर—प पा औ, वृद्धिरेचि (६।१।८५) से वृद्धि होकर—पपौ। प पा अतुस्, लिट् के कित् होने से—

आतो लोप इटि च (६।४।६४)—आकारान्त अङ्ग का, अजादि कित् ङित् आर्धधातुक और इट् परे रहते पर, लोप होता है। इससे आकार का लोप होकर—पप् अतुस्=पपतुः, पपुः। पपाथ, भारद्वाज नियम से थल में इट् होकर—पपिथ, पपथुः, पप, पपौ, पपिव, पपिम। वस्, मस् में क्रादि-नियम से इट् होता है। पाता, पातारौ, पास्यति, पिबतु, अपिबत्, पिबेत्। आशीर्लिङ् में—पा यास् त्—

एर्लिङि (६।४।६७)—घुसंज्ञक, मा, स्था, गा, पा, ओहाक्, सा अङ्गों को आर्धधातुक लिङ् परे रहने पर एकारादेश होता है। पेयात्, पेयास्ताम्, पेयासुः। लुङ् में—अट् पा सिच् त—**गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु** (२।४।७७, पृष्ठ २३७) से सिच् का लुक् होकर—अपात्, अपाताम्। अ पा झि—

आतः (३।४।११०)—सिच् [लुक्] और आकारान्त धातु से परे झि को जुस् होता है। इससे जुस् होकर—अ पा जुस्=अ पा उस्, उस्य-पदान्तात् (६।१।९३)—अपदान्त अवर्ण से परे यदि उस् (=जुस्) हो, तो पूर्व पर दोनों के स्थान में पररूप एकादेश होता है। अपुः, अपाः, अपातम्, अपात, अपाम्, अपाव, अपाम। अपास्यत्।

घ्रा गन्धोपादाने—सूंघना। सभी कार्य पा के समान होंगे। घ्रा शप् तिप्—जिघ्र अ ति=जिघ्रति। जघ्रौ, जघ्रतुः, जघ्रुः, जघ्राथ-जघ्रिथ; घ्राता, घ्रास्यति, जिघ्रतु, अजिघ्रत्, जिघ्रेत्। घ्रा यासुट् तिप्—

वाऽन्यस्य संयोगादेः (६।४।६८)—अन्य (घुसंज्ञक मा स्था आदि से भिन्न) संयोगादि अंग के आकार को आर्धधातुक लिङ् परे रहने पर विकल्प से 'ए' आदेश होता है। घ्रायात्-घ्रेयात्। लुङ् में—अ घ्रा सिच् तिप्—

विभाषा घ्राधेट्शाच्छासः (२।४।७८)—परस्मैपद परे घ्रा धेट् शा छा सा धातुओं से परे सिच् का विकल्प से लुक् होता है। जब लुक् हो गया तब—अघ्रात्, अघ्राताम्, अघ्रुः। लुक् न होने पर—अ घ्रा सिच् तिप्—

यमरमनमातां सक् च (७।२।७३)—यम रम नम और आकारान्त अङ्ग को सक् का आगम होता है, और सिच् को इट् भी हो जाता है, परस्मैपद

परे रहने पर। सक् कित् होने से अङ्ग के अन्त में बैठता है। सकार में अकार उच्चारणार्थ है। सक् इट् होकर—अ घ्रा स् इट् सिच् तिप्=अघ्रास् इ स् त्। तिप् को ईट् अस्तिसिचोऽपृक्ते (७।३।९६) से होकर—अघ्रास् इ स् ई त्। इट ईटि (८।२।२८) से सकार का लोप, सवर्ण दीर्घ=अघ्रासीत्, अघ्रासिष्टाम्, अघ्रासिषुः, अघ्रासीः इत्यादि। अघ्रास्यत्।

ष्ठा गतिनिवृत्तौ[1]=ठहर जाना। तिष्ठ होकर—तिष्ठति, तिष्ठतः, तिष्ठन्ति। तस्थौ, तस्थतुः, तस्थुः, तस्थाथ-तस्थिथ। स्थाता, स्थास्यति, तिष्ठतु, अतिष्ठत्, तिष्ठेत्। एकार होकर—स्थेयात्। सिच्लुक्—अस्थात्, अस्थाताम्, अस्थुः। अस्थास्यत्।

अथात्मनेभाषाः (ङितः)

ष्मिङ्[2] ईषद्धसने=मुस्कराना। स्मयते, इकार को गुण अयादेश, स्मयेते, स्मयन्ते। सिष्मिये, सि स्मि इट् ध्वे, इयङ् होकर सिष्मिय इ ध्वे—

विभाषेटः (८।३।७९)—इणन्त अङ्ग से परे जो इट् उससे परे षीध्वम्, लुङ् और लिट् के ध को विकल्प से मूर्धन्य (=ढ) होता है। सिष्मियिढ्वे—सिष्मियिध्वे। स्मेता, स्मेष्यते; स्मयताम्, अस्मयत, स्मयेत। स्मेषीष्ट, स्मेषीढ्वम्। अस्मेष्ट, अस्मेढ्वम्। अस्मेष्यत।

देङ् रक्षणे=रक्षा करना। दयते, दयेते, दयन्ते। दे लिट्—

दयतेर्दिगि लिटि (७।४।९)—देङ् धातु को दिगि आदेश होवे, लिट् लकार परे हो तो। यह सूत्र द्विर्वचन का अपवाद है। दिगि+एश्=दिग्ये, दिग्याते, दिग्यिरे। लुट्—

आदेच उपदेशेऽशिति (६।१।४४)—एजन्त धातुओं को आकारादेश होता है, शित् भिन्न विषय में। उसमें आकार होकर—दाता, दास्यते। दयताम्, अदयत, दयेत, दासीष्ट। दा सिच् लुङ्—

दाधा घ्वदाप् (१।१।१९)—दारूप धारूप धातुओं की घु संज्ञा होती है, दाप् को छोड़कर। इससे घु संज्ञा होकर—

स्थाघ्वोरिच्च (१।२।१७) स्था धातु और घुसंज्ञक धातुओं को इकारादेश, और इन से परे जो सिच् प्रत्यय हो वह कित्वत् हो, आत्मनेपद विषय में। यहां दा धातु के आकार को इकार होकर—अट्+दि+

१. प्रपूर्वक गत्यर्थ में प्रयुक्त होता है—प्रतिष्ठते=जाता है।
२. ष्मिङ् देङ् मैङ् ये तीन अनुदात्त धातुएं हैं, इनसे इट् नहीं होता।

सिच् + त = अदित, ह्रस्वादङ्गात् (८।२।२७) सूत्र से सिच् के सकार का लोप। अदिषाताम्, अदिषत, अदिथाः, अदिषाथाम्, अदिढ्वम्, अदिषि, अदिष्वहि, अदिष्महि। (३)

त्रैङ् पालने = रक्षा करना। त्रायते, तत्रे, त्राता, त्रास्यते, त्रायताम्, अत्रायत, त्रायेत, त्रासीष्ट, अत्रास्त, अत्रास्यत।

[1] पूङ् पवने = शुद्धि करना। पवते, पुपुवे, पुपुविढ्वे-पुपुविध्वे, [2] पवितासे, पविष्यते, पवताम्, अपवत, पवेत, पविषीष्ट, अपविष्ट, अपविष्यत।

अथात्मनेभाषाः (अनुदात्तेतः)

रभ[3] राभस्ये = शीघ्रता करना। रभते, रेभे। लुट् — रभ + तास् + डा = रब्धा, झषस्तथोर्धोऽधः (८।२।४०) से तकार को धत्व, और (८।४।५२ से) भकार को जश् बकार होता है। रब्धारौ, रब्धारः, रब्धासे। रप्स्यते, खरि च (८।४।५४) से भ् को प्। रभताम्, अरभत, रभेत, रप्सीष्ट। अरब्ध, झलो झलि (८।२।२६) से सलोप; अरप्साताम्, अरप्सत, अरब्धाः, अरप्साथाम्, अरब्ध्वम्, अरप्सि, अरप्स्वहि, अरप्स्महि। अरप्स्यत।

डुलभष् प्राप्तौ = प्राप्ति। डु और ष की इत्संज्ञा। लभते, लेभे; लब्धा; लप्स्यते; लभताम्; अलभत; लभेत; लप्सीष्ट; अलब्ध; अलप्स्यत।

हद पुरीषोत्सर्गे = हगना, मल त्यागना। हदते; जहदे, जहदाते, जहदिरे; हत्ता; हत्स्यते; हदताम्; अहदत; हदेत; हत्सीष्ट। अहत्त, अहत्साताम्, अहत्सत। अहत्स्यत।

अथ परस्मैभाषाः

[4]गम्लृ गतौ = जाना। लृकार की इत्संज्ञा होती है। लट् में — गम् + शप् + तिप् —

इषुगमियमां छः (७।३।७७) — इषु, गम, यम धातुओं को छकारादेश होवे, शित् प्रत्यय परे हो तो। यहां अन्त्य अल् गम् के मकार को छकार होकर — गच्छति, गच्छतः, गच्छन्ति। जगाम, जग्मतुः, जग्मुः, उपधालोप[5]।

१. पूङ् उदात्त है, इससे इट् होगा।
२. विभाषेटः (८।३।७९) से मूर्धन्यत्व का विकल्प।
३. रभ डुलभष् हद ये तीनों अनुदात्त होने से अनिट् हैं।
४. गम्लृ तप त्यज दृशिर् दह ये पांचों अनुदात्त होने से अनिट् हैं।
५. गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि (६।४।९८) से।

जगमिथ-जगन्थ। गन्ता, गन्तारौ, गन्तारः, गन्तासि। लृट् में—

गमेरिट् परस्मैपदेषु (७।२।५८)—परस्मैपदविषय में गम् धातु से परे सकारादि आर्धधातुक को इट् का आगम होवे। गमिष्यति, गमिष्यतः, गमिष्यन्ति। गच्छतु, अगच्छत्, गच्छेत्, गम्यात्। लुङ् लकार में लृदित् होने से अङ्—अगमत्, अगमताम्, अगमन्, अगमः, अगमतम्, अगमत, अगमम्, अगमाव, अगमाम। अगमिष्यत्।

तप सन्तापे=दुःखी होना। तपति। तताप, तेपतुः, तेपुः, ततप्थ-तेपिथ। तप्ता; तप्स्यति; तपतु; अतपत्; तपेत्; तप्यात्। अताप्सीत्, अताप्ताम्, अताप्सुः। अतप्स्यत्।

त्यज हानौ=छोड़ना। त्यजति; तत्याज; त्यक्ता[3]; त्यक्ष्यति; त्यजतु; अत्यजत्; त्यजेत्; त्यज्यात्; अत्याक्षीत्; अत्यक्ष्यत्।

दृशिर् प्रेक्षणे=देखना। इर् की इत्संज्ञा। पाघ्राध्मा० (७।३।७८) से पश्य आदेश=पश्यति। लिट् लकार में—ददर्श, ददृशतुः, ददृशुः। दृश्+थल्—

विभाषा सृजिदृशोः (७।२।६५)—सृज् और दृश् धातु से परे जो थल् उस को विकल्प करके इडागम होवे। इट् पक्ष में—ददर्शिथ। अनिट् पक्ष में—ददृश्+थल्, यहां—

सृजिदृशोर्झल्यमकिति (६।१।५७)—कित् भिन्न झलादि प्रत्यय परे हो तो सृज् और दृश् धातुओं को अम् आगम होवे। अम् मित् होने से ऋकार से परे होकर—दद्+अ+श्+थल्=दद्रष्ठ, ऋकार को यण् और शकार को षकार[4] होता है। ददृशथुः, ददृश, ददर्श, ददृशिव, ददृशिम। द्रष्टा; द्रक्ष्यति; पश्यतु; अपश्यत्; पश्येत्; दृश्यात्। दृश् लुङ्—

इरितो वा (३।१।५७)—जिस धातु का इर् इत्संज्ञक हुआ हो, उससे च्लि के स्थान में अङ् विकल्प से होता है। अ+दृश्+अङ्+तिप्—

ऋदृशोऽङि गुणः (७।४।१६)—ऋ और दृश् धातु को अङ् परे रहने पर गुण हो। अङ् के ङित् होने से गुण प्राप्त नहीं होता था, अतः पुनः विधान किया—अदर्शत्। जब अङ् नहीं हुआ, तब शल इगुपधादनिटः क्सः (३।१।४५) से च्लि के स्थान पर क्स प्राप्त है। इसलिये—

---

१. भारद्वाज-नियम से इट्।

२. पुषादिद्युताद्यॢदितः परस्मैपदेषु (३।१।५५) से।

३. चोः कुः (८।२।३०) से कुत्व। ४. व्रश्चभ्रस्जसृजमृज० (८।२।३६) से।

न दृशः (३।१।४७)—दृश् धातु से परे च्लि के स्थान में क्स आदेश न होवे। फिर अम् और वृद्धि होकर—अद्राक्षीत्, अद्राष्टाम्, अद्राक्षुः, अद्राक्षीः, अद्राष्टम्, अद्राष्ट, अद्राक्षम्, अद्राक्ष्व, अद्राक्ष्म। अद्रक्ष्यत्।

दह भस्मीकरणे=भस्म करना, जलाना। दहति। ददाह, देहतुः, देहुः, देहिथ[1]-ददग्ध[2]। दग्धा; धक्ष्यति; दहतु; अदहत्; दहेत्; दह्यात्। अधाक्षीत्, अदाग्धाम्, अधाक्षुः, अधाक्षीः, अदाग्धम्, अदाग्ध, अधाक्षम्, अधाक्ष्व, अधाक्ष्म। अधक्ष्यत्।

अथोभयतोभाषाः

डुपचष् पाके=पकाना। इस धातु के डु स्वरित अकार और ष् इत् जाते हैं। स्वरितेत् होने से, कर्त्रभिप्राय क्रियाफल में आत्मनेपद, और अन्यत्र परस्मैपद होता है। पचते, पचति। पेचे, पेचाते; पपाच, पेचतुः, पेचुः, पेचिथ-पपक्थ। पक्तासे, पक्तासि[4]। पक्ष्यते, पक्ष्यति। पचताम्, पचतु। अपचत, अपचत्। पचेत, पचेत्। पक्षीष्ट, पच्यात्। अपक्त, अपक्षाताम्; अपाक्षीत्, अपाक्ताम्, अपाक्षुः। अपक्ष्यत, अपक्ष्यत्।

भज सेवायाम्=सेवा करना। भजते, भजति। बभाज, भेजतुः। एत्वा-भ्यासलोप (६।४।१२२)।

यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु=विद्वानों का सत्कार, मेल करना, और दान करना। यजते, यजति। लिट् में—य यज् णल्—

लिट्यभ्यासस्योभयेषाम् (६।१।१७)—लिट् लकार परे हो तो वचि आदि और ग्रहि आदि धातुओं के अभ्यास को सम्प्रसारण होवे। इ यज् अ=इयाज् अ=इयाज। यज्+अतुस्, कित् विषय में—

वचिस्वपियजादीनां किति (६।१।१५)—वच, स्वप और यजादि धातुओं को संप्रसारण होवे। यज् धातु से लेकर, भ्वादिगण के अन्तपर्यन्त यजादि समझने चाहियें। यहां धातु को संप्रसारण कहने से द्वित्व होने से प्रथम ही संप्रसारण होता है—इ+अज्+अतुस्, **सम्प्रसारणाच्च** (६।१।१०४) से पूर्वरूप एकादेश होकर द्वित्व होता है—इज्+इज्+अतुस्—

---

१. वदव्रजहलन्तस्याचः (७।२।३) से।

२. थलि च सेटि (६।४।१२१) से एत्व अभ्यास-लोप।

३. झषस्तथोर्धोऽधः (८।२।४०) से धकारादेश।

४. अनुदात्त होने से अनिट्।

५. चोः कुः (८।२।३०) से कुत्व।

सवर्णदीर्घ एकादेश होकर—ईजतुः, ईजुः। इयजिथ-इयष्ठ, व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयज० (८।२।३६) से ष आदेश। ईजथुः, ईज, इयाज-इयज, ईजिव, ईजिम। ईजे, ईजाते, ईजिरे। यष्टासे, यष्टासि। यक्ष्यते, यक्ष्यति। यजताम्, यजतु। अयजत, अयजत्। यजेत, यजेत्। यक्षीष्ट, इज्यात्, यासुट् के कित् होने से संप्रसारण। अयष्ट, अयक्षाताम्, अयक्षत, अयष्ठाः। अयाक्षीत्, अयाष्टाम्, अयाक्षुः। अयक्ष्यत, अयक्ष्यत्।

डुवप बीजसन्ताने=बीज बोना (खेत में वा स्त्री में)। **छेदने च**=यह धातु काटने अर्थ में भी है। वपते, वपति। पूर्ववत् लिट् में अभ्यास को संप्रसारण होकर—उवाप। कित् में धातु को सम्प्रसारण होकर—ऊपतुः, ऊपुः, उवपिथ-उवप्थ। ऊपे, ऊपाते, ऊपिरे। वप्तासे, वप्तासि। वप्स्यते, वप्स्यति। वपताम्, वपतु। अवपत, अवपत्। वपेत, वपेत्। वप्सीष्ट, उप्यात्, सम्प्रसारण। अवाप्सीत्, अवाप्ताम्, अवाप्सुः। अवप्त, अवप्साताम्, अवप्सत। अवप्स्यत, अवप्स्यत्।

वह प्रापणे=पहुंचाना। वहति, वहते। उवाह, ऊहतुः, ऊहुः, उवहिथ-उवोढ, अवर्ण को ओकार। ऊहथुः, ऊह, उवाह-उवह, ऊहिव, ऊहिम। ऊहे, ऊहाते, ऊहिरे। वोढासि, वोढासे। वक्ष्यति, वक्ष्यते। वहतु, वहताम्। अवहत्, अवहत। वहेत्, वहेत। उह्यात्, सम्प्रसारण, वक्षीष्ट। अवाक्षीत्, अवोढाम्, अवाक्षुः, अवाक्षीः, अवोढम्, अवोढ, अवाक्षम्, अवाक्ष्व, अवाक्ष्म। अवोढ अवक्षाताम्, अवक्षत, अवोढाः, अवक्षाथाम्, अवोढ्वम्, अवक्षि, अवक्ष्वहि, अवक्ष्महि। अवक्ष्यत्, अवक्ष्यत।

अथ द्वौ परस्मैभाषौ

वस निवासे=बसना। वसति। उवास, ऊषतुः, **शासिवसिघसीनां च** (८।३।६०) से मूर्धन्य। ऊषुः, उवसिथ-उवस्थ। वस्ता। वत्स्यति—**सः स्यार्धधातुके** (७।४।४९) से सकार को तकार। वसतु। अवसत्। वसेत्। उष्यात्। अवात्सीत्, अवात्ताम्—स् को सिच् परे तकारादेश, **झलो झलि** (८।२।२६) से स् लोप। अवात्सुः। अवत्स्यत्।

वद व्यक्तायां वाचि=स्पष्ट बोलना। वदति, वदतः, वदन्ति। उवाद, ऊदतुः, ऊदुः, उवदिथ। वदिता, वदिष्यति, वदतु, अवदत्, वदेत्, उद्यात् सम्प्रसारण। अवादीत्, **वदव्रजहलन्तस्याचः** (७।२।३) से वृद्धि। अवादिष्टाम्, अवादिषुः। अवदिष्यत्॥

इति भ्वादि-गण समाप्त॥

त्रयोदश-प्रकरण

आख्यात-प्रक्रिया-[अदादिगण]

अथ द्वौ परस्मैभाषौ

अद भक्षणे=खाना। लट् में—अद्+शप्+तिप्, इस अवस्था में—

अदिप्रभृतिभ्यः शपः (२।४।७२)—अद आदि धातुओं से परे जो शप् उसका लुक् होवे। जहां-जहां लुक् कहते हैं, वहां-वहां प्रत्ययमात्र का अदर्शन होता है। अद्+तिप्=अत्ति, अत्तः, अदन्ति; अत्सि, अत्थः, अत्थ; अद्मि, अद्वः, अद्मः। अद्+लिट्—

लिट्यन्यतरस्याम् (२।४।४०)—लिट् लकार परे हो, तो अद धातु को घस्लृ आदेश विकल्प करके होवे। जघास। ज घस्+अतुस्, गमहनजनखनघसां० (६।४।९८) से उपधालोप होकर, खरि च (८।४।५४) से घकार को चर् क् होता है, उस ककार से परे षत्व होकर—जक्षतुः, जक्षुः, जघसिथ, जक्षथुः, जक्ष; जघास-जघस, जक्षिव, जक्षिम। पक्ष में—आद, आदतुः, आदुः। थल् में—

इडत्त्यर्तिव्ययतीनाम्—(७।२।६६)—अद् ऋ और व्यय धातु के थल् को इट् का आगम होता है। इस से नित्य इट् होकर—आदिथ। आदथुः, आद; आद, आदिव, आदिम। अत्ता, अत्स्यति। लोट् में—अत्तु, अत्ताम्, अदन्तु। अद्+हि—

हुझल्भ्यो हेर्धिः (६।४।१०१)—हु और झलन्त धातुओं से परे जो हि उसको धि आदेश होवे। यहां झलन्त अद से परे धि होकर—अद्+धि=अद्धि-अत्तात्, अत्तम्, अत्त; अदानि, अदाव, अदाम। लङ् लकार में—

अदः सर्वेषाम् (७।३।१००)—अद धातु से परे जो अपृक्त हलादि सार्वधातुक उसको अट् का आगम हो, सब आचार्यों के मत में। यह अपृक्त हलादि सार्वधातुक लङ् लकार के तिप् और सिप् दो ही में मिलता है। दोनों के इकार का लोप होने पर—आट्+अद्+अट्+त्=आदत्, आत्ताम्,

अदन्, आदः, आत्तम्, आत्त, आदम्, आद्व, आद्म । अद्यात्, अद्याताम्, अद्या+उस्=अद्युः, उस्यपदान्तात् (६।१।९६) से पररूप एकादेश । अद्याः, अद्यातम्, अद्यात, अद्याम्, अद्याव, अद्याम । अद्यात्, अद्यास्ताम्, अद्यासुः । अद्+लुङ्—

लुङ्सनोर्घस्लृ (२।४।३७)—लुङ् लकार और सन् प्रत्यय परे हों, तो अद् धातु को घस्लृ आदेश होवे । लृदित् घस्लृ आदेश के पढ़ने से च्लि के स्थान में **पुषादिद्युताद्यॢदितः परस्मैपदेषु** (३।१।५५) से अङ्—अघसत्, अघसताम्, अघसन् । आत्स्यत् ।

हन हिंसागत्योः = मारना और गति । पूर्ववत् शप् को लुक् होकर— हन्ति । हन्+तस्—

अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति (६।४।३७)—उपदेश में जो अनुदात्त धातु, वन और तनादिगण की जो धातु हैं उन सब के अनुनासिक का लोप हो जाए झलादि कित् ङित् प्रत्यय परे हो तो । यहां हन् धातु से परे तस् को ङित् होने से—हन्+तस्=हतः । यहां अनुनासिकलोप हुआ है । हन्+अन्ति—**गमहनजनखनघसां०** (६।४।९८) से उपधा का लोप होकर—ह्न्+अन्ति—

हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु (७।३।५४)—हन् धातु के हकार को कवर्ग आदेश होवे, ञित्, णित् और नकार परे हो तो । इससे नकार के परे 'ह्' को 'घ्'—घ्नन्ति । हंसि, हथः, हथ; हन्मि, हन्वः, हन्मः ।

लिट्—हन्+हन्+णल्=जघान, णित् के परे ह् को कुत्व । ज ह् न्+अतुस्=जघ्नतुः, पूर्ववत् उपधालोप और न के परे ह् को कुत्व । जघ्नुः ।

अभ्यासाच्च (७।३।५५)—अभ्यास से परे हन् धातु के हकार को कुत्व होवे । जघनिथ-जघन्थ, जघ्नथुः, जघ्न; जघान-जघन, जघ्निव, जघ्निम । हन्ता, हन्तारौ, हन्तारः, हन्तासि । हनिष्यति, हनिष्यतः, **ऋद्धनोः स्ये** (७।२।७०) से इट् । लोट् लकार में—हन्तु, हतात्, हताम्, घ्नन्तु । हन्+हि (सिप्)—

हन्तेर्जः (६।४।३६)—हन् धातु को ज आदेश होवे, हि परे हो तो । अब हन् धातु के स्थान में 'ज' आदेश होने पर अकारान्त होने से **अतो हेः** (६।४।१०५) से 'हि' का लुक् प्राप्त है । अतः—

असिद्धवदत्राभात् (६।४।२२)—इस प्रकरण में (यहां से लेकर)

भ-प्रकरण के अन्त तक (६।४।२२ से १७५ तक) कहा हुआ कार्य असिद्धवत् होता है, अर्थात् 'नहीं किया गया' ऐसा माना जाता है। 'ज' आदेश को असिद्धवत् कह देने से 'हन्' माना गया। हन् के हलन्त होने से हि का लोप नहीं हुआ—जहि। हतात्, हतम्, हत; हनानि, हनाव, हनाम। 'लङ्' लकार में—अ हन् त्, इस अवस्था में हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल् (६।१।६६) सूत्र से नकार से परे अपृक्त तिप् के तकार का लोप होकर—अहन्। अहताम्, अघ्नन्; अहन्, अहतम्, अहत; अहनम्, अहन्व, अहन्म। हन्यात्, हन्याताम्, हन्युः, हन्याः। आशिषि लिङ् में—

हनो वध लिङि (२।४।४२)—हन् धातु को वध आदेश होवे आर्धधातुकविषय में लिङ् परे हो तो। वध अकारान्त होता है, अतः **अतो लोपः** (६।४।४८) से अकारलोप होकर—वध्यात्, वध्यास्ताम्, वध्यासुः, वध्याः, वध्यास्तम्। लुङ् में—

लुङि च (२।४।४३)—आर्धधातुकविषयक लुङ् परे हो, तो भी हन् धातु को वधादेश होता है। वध इ स् ई त्, इस अवस्था में **अतो लोपः** (६।४।४८) से पूर्ववत् अकार का लोप हो जाने पर—अध् इ स् ई त्, इस अवस्था में वध् के हलन्त होने से **वदव्रजहलन्तस्याचः** (७।२।३) से वृद्धि प्राप्त होती है, उस का निषेध नेटि (७।२।४) से हो जाता है। पुनः **अतो हलादेर्लघोः** (७।२।७) से विकल्प से वृद्धि प्राप्त होती है।

अचः परस्मिन् पूर्वविधौ (१।१।५६)—(अनु० आदेशः स्थानिवत्)। पर को निमित्त मानकर हुआ अजादेश-उस से पूर्व को कार्य करना हो, तो स्थानिवत् हो जाता है। इससे सिच् को निमित्त मानकर हुआ अकार-लोप स्थानिवत् हो जाता है। उसके स्थानिवत् हो जाने से वध अङ्ग हलन्त नहीं रहता, अतः वृद्धि नहीं होती। अट् का आगम होकर—अवधीत्, अवधिष्टम्, अवधिषुः। अहनिष्यत्, पूर्ववत् इडागम। अहनिष्यताम्, अहनिष्यन्।

अथात्मनेभाषाः

चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि, अयं दर्शनेऽपि=स्पष्ट बोलना और देखना। इस धातु में जो अनुदात्त ङकार है, उसकी इत् संज्ञा हो जाती है। अनुदात्तेत् होने से आत्मनेपद हो ही जाता, फिर ङकार पढ़ना व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि अनुदात्तेत् धातुओं से आत्मनेपद का विधान अनित्य होता है। चक्ष्+ते, इस अवस्था में **स्कोः संयोगाद्योरन्ते च** (८।२।२९) से 'ते'

झल् परे रहने पर क्, ष् के संयोग के आदि क् का लोप होकर—चष्टे। चक्षाते, चक्षते; चक्षे, चक्षाथे, चड्ढ्वे; चक्षे, चक्ष्वहे, चक्ष्महे। लिट् लकार में—

चक्षिङः ख्याञ् (२।४।५४)—आर्धधातुक विषय में चक्षिङ् को ख्याञ् आदेश होवे। किन्तु—

वा लिटि (२।४।५५)—लिट् लकार में चक्षिङ् धातु को ख्याञ् विकल्प करके होवे। पूर्व सूत्र से नित्य प्राप्त है, उसको विकल्प करने से प्राप्त-विभाषा है। ख्याञ् होकर आकारान्त के समान प्रयोग और ञित् होने से उभयपद होता है—चख्यौ, चख्यतुः, चख्युः; चख्यिथ-चख्याथ। आत्मनेपद में—चख्ये, चख्याते। चचक्षे, चचक्षाते, चचक्षिरे। ख्यातासि, ख्यातासे। ख्यास्यति, ख्यास्यते। चष्टाम्, चक्षाताम्, चक्षताम्; चक्ष्व, चक्षाथाम्, चड्ढ्वम्; चक्षै, चक्षावहै, चक्षामहै। अचष्ट, अचक्षाताम्, अचक्षत; अचष्ठाः, अचक्षाथाम्, अचड्ढ्वम्; अचक्षि, अचक्ष्वहि, अचक्ष्महि। चक्षीत, चक्षीयाताम्, चक्षीरन्। आशिषि लिङ्—ख्यायात्; ख्येयात्, वान्यस्य संयोगादेः (६।४।६८) से एत्व विकल्प। ख्यासीष्ट। लुङ्—

अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ् (३।१।५२)—असु (दिवादिगण), वच और ख्या (अदादिगण) धातुओं से परे च्लि के स्थान में अङ् होवे। अङ् होकर—अख्यत्, अख्यताम्, अख्यन्। अख्यत, अख्येताम्, अख्यन्त। अख्यास्यत्, अख्यास्यत।

ईश ऐश्वर्ये—समृद्ध होना, स्वामी बनना। लट्—ईष्टे, ईशाते, ईशते। ईश्+से—

ईशः से (७।२।७७)—ईश् धातु से परे वलादि सार्वधातुक 'से' को इट् का आगम होता है। इट् होकर=ईशिषे। ईश्+ध्वे—

ईडजनोर्ध्वे च (७।२।७८)—(अनु०—ईशः, से) ईश, ईड और जन धातुओं से परे वलादि सार्वधातुक से और ध्वे को इट् का आगम होता है। ईशिध्वे। ईशे, ईश्वहे, ईश्महे। ईश्+लिट्—एध् के समान आम्, लिट् का लोप, और कृ लिट् का अनुप्रयोग तथा आत्मनेपद होकर—ईशांचक्रे, ईशांचक्राते, ईशांचक्रिरे। भू और अस् के अनुप्रयोग में—ईशांबभूव, ईशांबभूवतुः, ईशांबभूवुः। ईशामास, ईशामासतुः, ईशामासुः। ईशितासे; ईशि-

---

१. ष्टुना ष्टुः (८।४।४१) से ष् (को ढ्)। २. जैसे आकारान्त 'पा' धातु के रूप पूर्व (पृष्ठ २५७-२५८ में) लिखे हैं, उसी प्रकार जानो।

ष्यते । ईष्टाम्, ईशाताम्, ईशताम् । ईश्+स्व—यहां 'स्व' आदेश को स्थानिवत् 'से' मानकर इट्—ईशिष्व, ईशाथाम्, ईशिध्वम् । ईशे, ईशावहै, ईशामहै । ऐष्ट, ऐशाताम्, ऐशत । ईशीत, ईशीयाताम्, ईशीरन् । ईशिषीष्ट, ईशिषीयास्ताम्, ईशिषीरन् । ऐशिष्ट, ऐशिषाताम्, ऐशिषत । ऐशिष्यत । ऐशिष्येताम्, ऐशिष्यन्त ।

आस उपवेशने=बैठना । आस्ते, आसाते, आसते । लिट् में—

दयायासश्च (३।१।३७)—दय अय आस धातुओं से परे लिट् में आम् प्रत्यय होता है । शेष कार्य पूर्ववत् होकर—आसाञ्चक्रे, आसांबभूव, आसामास । आसिता, आसिष्यते । आस्ताम्, आस्स्व । धि च (८।२।२५) से सलोप होकर—आध्वम् । आस्त, आसीत, आसिषीष्ट, आसिष्ट, आसिष्यत ।

वस आच्छादने=ढकना । वस्ते, वसाते, वसते । लिट् में—वस् एश् एत्व अभ्यास लोप प्राप्त होने पर—

न शसददवादिगुणानाम् (६।४।१२६)—शस दद और वकारादि धातुओं को कित् लिट् परे एत्व अभ्यासलोप नहीं होते । द्विर्वचन होकर—ववसे, ववसाते । वसिता, वसिष्यते । वस्ताम्, वस्स्व, वध्वम्, पूर्ववत् सकार लोप । अवस्त, वसीत, वसिषीष्ट, अवसिष्ट, अवसिष्यत ।

शीङ् स्वप्ने=सोना । सार्वधातुक के ङित् होने से 'शी+ते' यहां गुण प्राप्त नहीं होता । अतः—

शीङः सार्वधातुके गुणः (७।४।२१)—शीङ् धातु को सार्वधातुक परे हो, तो गुण होवे । इससे गुण होकर—शेते । शी+आताम्=शयाते, गुण होकर अयादेश होता है । शी+अते—

शीङो रुट् (७।१।६)—शीङ् धातु से परे झकार के स्थान में जो अत् आदेश उस को रुट् का आगम होवे । टित् आगम होने से उसके आदि में होकर—शेरते । शेषे, शयाथे, शेध्वे । शये, शेवहे, शेमहे । शिश्ये, [1] शिश्यिढ्वे-शिश्यिध्वे । [2] शयितासे । शयिष्यते । शेताम्, शयाताम्, शेरताम् । शेष्व, शयाथाम्, शेध्वम् । शयै, शयावहै, शयामहै । अशेत, अशयाताम्, अशेरत । शयीत, शयीयाताम्, शयीरन् । शयिषीष्ट, शयिषीढ्वम्-शयिषीध्वम् । अशयिष्ट, अशयिढ्वम्-अशयिध्वम् । अशयिष्यत ।

---

१. एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य (६।४।८२) से इयङ् का अपवाद यण् ।

२. विभाषेटः (८।३।७९) से मूर्धन्यत्व का विकल्प ।

अथोभयतोभावाः

ष्टुञ् स्तुतौ = स्तुति करना, प्रशंसा करना । स्तु + तिप् —

तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुके (७।३।६५)—तु रु स्तु शम अम धातुओं से परे हलादि सार्वधातुक को ईट् का आगम विकल्प से होता है । ईट् होकर = स्तु ई ति, गुण और अवादेश होकर = स्तवीति । पक्ष में—स्तु + तिप्—

उतो वृद्धिर्लुकि हलि (७।३।८९)—उकारान्त अङ्ग को हलादि पित् सार्वधातुक के परे लुक् होने पर वृद्धि होती है । इससे वृद्धि होकर = स्तौति, स्तुवीतः (ईडागम), स्तुतः, स्तुवन्ति । स्तवीषि, स्तौषि; स्तुवीथः, स्तुथः, स्तुवीथ, स्तुथ । स्तवीमि, स्तौमि; स्तुवीवः, स्तुवः; स्तुवीमः, स्तुमः । आत्मनेपद में— स्तुवीते, स्तुते, स्तुवाते; स्तुवते । स्तुवीषे, स्तुषे; स्तुवाथे, स्तुवीध्वे, स्तुध्वे । स्तुवे; स्तुवीवहे; स्तुवहे; स्तुवीमहे, स्तुमहे । लिट्— तुष्टाव, तुष्टुवतुः, तुष्टुवुः; तुष्टोथ—भारद्वाज नियम को बाधकर कृसृभृवृस्तुद्रुस्रुश्रुवो लिटि (७।२।१३) से इट् का) प्रतिषेध । तुष्टुव, तुष्टुम— कृसृभृवृस्तु० से इट् का निषेध होता है । तुष्टुवे, तुष्टुवाते । स्तोतासि, स्तोतासे । स्तोष्यति, स्तोष्यते । स्तुवीतु, स्तौतु, स्तुवीतात्, स्तुतात्, स्तुवीताम्, स्तुताम्; स्तुवन्तु । आत्म०—स्तुवीताम्, स्तुताम्; स्तुवाताम्, स्तुवताम् । अस्तुवीत्, अस्तौत्; अस्तुवीताम्, अस्तुताम्; अस्तुवन् । आत्म०— अस्तुवीत, अस्तुत; अस्तुवाताम्, अस्तुवत । स्तुवीयात्, स्तुयात्; स्तुवीयाताम्, स्तुयाताम्; स्तुवीयुः, स्तुयुः । आत्म०—स्तुवीत, स्तुवीयाताम्, स्तुवीरन् । स्तूयात्, स्तूयास्ताम्, स्तूयासुः; स्तोषीष्ट, स्तोषीयास्ताम्, स्तोषीढ्वम् । अस्तावीत्[२], अस्ताविष्टाम्, अस्ताविषुः, अस्तोष्ट, अस्तोषाताम्, अस्तोढ्वम् । अस्तोष्यत्, अस्तोष्यत ।

अथात्मनेभावः

इङ् अध्ययने = पढ़ना । इस धातु के प्रयोग नित्य अधि उपसर्गपूर्वक ही आते हैं । अधि + इ + त = अधीते, सवर्ण दीर्घ एकादेश होता है । अधीयाते, अधीयते, इयङ् । अधीषे, अधीयाथे, अधीध्वे; अधीये, अधीवहे, अधीमहे । इङ् + लिट्—

१. अजादि ङित् प्रत्ययों के परे उवङ् आदेश ।

२. परस्मैपद में स्तुसुधूञ्भ्यः परस्मैपदेषु (७।२।७२) से सिच् को इट् का आगम, वृद्धि, सकारलोप ।

गाङ् लिटि (२।४।४९)—इङ् धातु को गाङ् आदेश होवे, लिट् लकार की विवक्षा में। अधि+गा गा+एश्=अधिजगे, **आतो लोप इटि च** (६।४।६४) से आकार लोप। अधिजगाते, अधिजगिरे, अधिजगिषे। अध्येतासे, यहां अधि के इकार को यण् हो जाता है। अध्येष्यते। अधीताम्, अधीयाताम्, अधीयताम्; अधीष्व, अधीयाथाम्, अधीध्वम्; अध्ययै, अध्ययावहै, अध्ययामहै। अध्यैत, अध्यैयाताम्, यहां परत्व से प्रथम इयङ् और पीछे आट् होकर उसके साथ वृद्धि होती है। अध्यैयत; अध्यैथाः, अध्यैयाथाम्, अध्यैध्वम्; अध्यैयि, अध्यैवहि, अध्यैमहि। अधीयीत, अधीयीयाताम्, अधीयीरन्; अधीयीथाः, अधीयीयाथाम्, अधीयीध्वम्; अधीयीय। अध्येषीष्ट, अध्येषीयास्ताम्, अध्येषीढ्वम्। इङ्+लुङ्—

विभाषा लुङ्लृङोः (२।४।५०)—इङ् धातु को गाङ् आदेश विकल्प करके होवे, लुङ् और लृङ् लकार की विवक्षा हो तो। गाङ् आदेश पक्ष में—गा+सिच्+त—

गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित् (१।२।१)—गाङ् और कुटादि धातुओं से परे जो ञित् णित् भिन्न प्रत्यय वे ङिद्वत् हों। यहां लुङ् में सिच् और लृङ् में स्य ङिद्वत् होकर—

घुमास्थागापाजहातिसां हलि (६।४।६६)—घुसंज्ञक, मा, स्था, गा, पा, ओहाक् और सा धातु के आकार को ईकारादेश होवे, हलादि कित् ङित् आर्धधातुक परे हो तो। अध्यगीष्ट, अध्यगीषाताम्, अध्यगीषत; अध्यगीष्ठाः, अध्यगीषाथाम्, अध्यगीढ्वम्। जिस पक्ष में गाङ् न हुआ, वहां—अध्यैष्ट, अध्यैषाताम्, अध्यैढ्वम्। अध्यगीष्यत, अध्यगीष्येताम्, अध्यगीष्यन्त। गाङ् के अभाव में—अध्यैष्यत।

अथ परस्मैभाषाः—

इक् स्मरणे=स्मरण करना। यह भी धातु अधि उपसर्गपूर्वक ही है। अध्येति, अधीतः, अधियन्ति[1], अध्येषि। अधीयाय, अधीयतुः, अधीयुः। अध्येता, अध्येष्यति। अध्येतु-अधीतात्, अधीताम्, अधीयन्तु; अधीहि, अध्ययानि, अध्ययाव, अध्ययाम। अध्यैत्, अध्यैताम्, अध्यायन्, अध्यैः; अध्यायम्। अधीयात्, अधीयाताम्, अधीयुः। अधीयात्, अधीयास्ताम्। इक्+लुङ्—

---

1. आगे व्याख्यात इण्वद्भाव सामान्यतः सर्वत्र होता है। अतः इणो यण् (६।४।८१) के समान यहां यण् हुआ है।

इण्वदिक इति वक्तव्यम् (वा० २।४।४५)—आर्धधातुकविषय में इक् धातु को इण् के तुल्य कार्य होवे। अर्थात् लुङ् में जो इण् को 'गा' आदेश का विधान **इणो गा लुङि** (२।४।४५) से किया है, वह इक् को भी हो जावे। इससे 'गा' आदेश होकर—अधि गा सिच् तिप्, **गातिस्थाघुपाभूभ्यः०** (२।४।७७) से सिच् का लुक् होकर—अध्यगात् अध्यगाताम्, अध्यगुः। लृङ्—अध्येष्यत्।

या प्रापणे=प्राप्त होना। याति, यातः, यान्ति[1]। ययौ, ययतुः, ययुः, ययिथ-ययाथ[2]। याता, यास्यति, यातु। अयात्, अयाताम्। अ या झि—

लङः शाकटायनस्यैव (३।४।१११)—आकारान्त धातु से परे लङ् लकार के झि को जुस् आदेश होवे, शाकटायन आचार्य ही के मत में। अयुः, पररूप एकादेश। अयाः, अयातम्, अयात; अयाम्, अयाव, अयाम। यायात्, यायाताम्। यायात्, यायास्ताम्। अयासीत्, अयासिष्टाम्, अयासिषुः। अयास्यत्।

वा गतिगन्धनयोः=गति और सूंघना[3]। वाति, वातः, वान्ति। ववौ, ववतुः, ववुः। वाता, वास्यति। वातु, वाहि। अवात्। वायात्, वायाताम्। वायात्, वायास्ताम्। अवासीत्। अवास्यत्।

भा दीप्तौ=प्रकाश। भाति, बभौ।

ष्णा शौचे=शुद्धि। स्नाति, सस्नौ, स्नेयात्[4], स्नायात्। अस्नासीत्।

वच[5] परिभाषणे—व्याख्यान करना, बोलना। वक्ति, वक्तः। लिट् में—उवाच, **लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्** (६।१।१७) से अभ्यास को सम्प्रसारण। वच्+अतुस्, **वचिस्वपियजादीनां किति** (६।१।१५) से संप्रसारण—उच् अतुस्, द्विर्वचन—उ उच् अतुस्=ऊचतुः। वक्ता, वक्ष्यति। वक्तु, वग्धि,

---

१. उस्यपदान्तात् (६।१।९३) सूत्र से।

२. यमरमनमातां सक् च (७।२।७३) सूत्र से सक् और इट्।

३. 'गन्धन' का अर्थ वृत्तिकार ने 'अपकारप्रयुक्त हिंसात्मकं सूचनम्' माना है (काशिका १।३।३२)। महर्षि दयानन्द ने वेदभाष्य में 'गन्धन' शब्द का अर्थ 'हिंसा' और 'सूचना' किया है। यथा—वायो दुष्टानां हिंसक! (ऋ० भा० १।१३५।४); वायो वाति जानाति सूचयति, सदसत्पदार्थानिति वायुः, तत्-संबुद्धौ (यजु० भा० ६।१६)।

४. वान्यस्य संयोगादेः (६।४।६८) से विकल्प से एत्व।

५. वच धातु के बहुवचन में प्रयोग नहीं मिलते।

वचानि। अवक्, अवक्ताम्; अवक्। वच्यात्। -उच्यात्[1]; उच्यास्ताम्। अवोचत्—अङ्[2] और उम्[3] आगम। अवक्ष्यत्।

विद ज्ञाने = जानना। विद्+लट्—

विदो लटो वा (३।४।८३) – विद् धातु से परे लट् लकार के परस्मैपदसंज्ञक प्रत्ययों के स्थान में णल् आदि नौ आदेश यथासंख्य और विकल्प करके होवें। वेद, विदतुः, विदुः; वेत्थ, विदथुः, विद; वेद, विद्व, विदम। पक्ष में वेत्ति, वित्तः, विदन्ति। लिट् में—आम् प्रत्यय विधायक **उषविदजागृभ्योऽन्यतरस्याम्** (३।१।३८) सूत्र में विद धातु का अकारान्त निपातन, भाष्यकार ने माना है। अतः आम् प्रत्यय के परे विद् धातु के अकार का लोप[4] होकर **अचः परस्मिन् पूर्वविधौ** (१।१।५६) से स्थानिवत् होने से आम् प्रत्यय को मानकर उपधा को गुण नहीं होता। विदाञ्चकार, विदाञ्चक्रतुः, विदाञ्चक्रुः। पक्ष में—विवेद, विविदतुः, विविदुः, विवेदिथ। वेदिता। वेदिष्यति। वेत्तु-वित्तात्, वित्ताम्।

विदाङ्कुर्वन्त्वित्यन्यतरस्याम् (३।१।४१)—लोट् लकार प्रथम पुरुष बहुवचन में 'विदाङ्कुर्वन्तु' विकल्प से निपातन किया है। विद् धातु से, आम् प्रत्यय कृञ् का अनुप्रयोग और प्रत्यय विकरण आदि निपातन से होते हैं[5]। पक्ष में—'विदन्तु' भी होता है। विद्धि[6], वित्तात्, वित्तम्, वित्त; वेदानि, वेदाव, वेदाम। अवेत्, अवित्ताम्, अविदुः–झि को जुस्[7]। अविद्+सिप्—

दश्च (८।२।७५)—धातु के पदान्त दकार को रु आदेश विकल्प करके होवे, सिप् परे हो तो। अवेरु स्—अवेः, स् का लोप[8], और रु के रेफ को

---

१. किदाशिषि (३।४।१०४) से कित् होकर पूर्ववत् सम्प्रसारण होता है।

२. अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ् (३।१।५२) सूत्र से।

३. वच उम् (७।४।२०) सूत्र से। ४. अतो लोपः (६।४।४८) सूत्र से।

५. कई वैयाकरण पूरे लोट् लकार में 'आम्' कृञ् का अनुप्रयोग मानते हैं। उन के मत में—विदांकरोतु-विदांकुरुतात्, विदांकुरुताम्, विदांकुर्वन्तु; विदांकुरु-विदांकुरुतात्, विदांकुरुतम्, विदांकुरुत; विदांकरवाणि, विदांकरवाव, विदांकरवाम रूप प्रयुक्त होते हैं।

६. हुझल्भ्यो हेर्धिः (६।४।१०१) सूत्र से धि आदेश।

७. सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च (३।४।१०९) सूत्र से जुस्।

८. हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्० (६।१।६८) सूत्र से।

विसर्जनीय। पक्ष में—अवेत्। अवित्ताम्, अवित्त:, अवेदम्, अविद्व, अविद्म। विद्यात्, विद्याताम्, विद्यु:। विद्यात्, विद्यास्ताम्, विद्यासु:। अवेदीत्, अवेदिष्टाम्, अवेदिषु:। अवेदिष्यत्।

अस भुवि=होना। यह धातु भू धातु के अर्थ में है। अस्ति। अस्+तस्—

श्नसोरल्लोपः (६।४।१११)—श्न प्रत्यय और अस् धातु के अकार का लोप होवे, कित्-ङित् सार्वधातुक परे हो तो। अ लोप होकर=स्तः, सन्ति। अस् सि, **तासस्त्योर्लोपः** (७।४।५०) से सकार का लोप=असि। स्थः, स्थ। अस्मि, स्वः, स्मः। अस् लिट्—

अस्तेर्भूः (२।४।५२)—अस् धातु को भू आदेश होवे, आर्धधातुक विषय में। अर्थात् आर्धधातुक लकारों में भू धातु के ही प्रयोग होते हैं; अस के नहीं। बभूव, बभूवतुः, बभूवुः, बभूविथ। भविता। भविष्यति। अस्तु-स्तात्, स्ताम्, सन्तु। अस्+हि, यहां—

घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च (६।४।११९)—घुसंज्ञक और अस् धातु को एकारादेश, और घुसंज्ञक के अभ्यास का लोप होवे, हि परे हो तो। असे धातु के अन्त्य अल् सकार के स्थान में एकारादेश होता है। पीछे एकारादेश को **असिद्धवदत्राभात्** (६।४।२२) सूत्र से असिद्ध रूप मानकर हि को धि[1], और अकार का लोप[2] होकर=एधि। स्तात्, स्तम्, स्त; असानि, असाव, असाम। लङ् में ईट्[3]=आसीत्। यहां तस् आदि में भी अ लोप को पूर्ववत् असिद्ध मानकर आट् हो जाता है=आस्ताम्, आसन्; आसीः, आस्तम्, आस्त; आसम्, आस्व, आस्म। स्यात्, स्याताम्, स्युः, स्याः। भूयात्, भूयास्ताम्। अभूत्, अभूताम्, अभूवन्, अभविष्यत्।

जागृ निद्राक्षये=जागना। इस धातु के अन्त्य ऋकार का लोप नहीं होता, क्योंकि वह उपदेश में अनुनासिक नहीं पढ़ा है। जागर्त्ति, जागृतः, जाग्रति,[4] अभ्यस्त संज्ञा होने से **अदभ्यस्तात्** (७।१।४) से प्रत्ययादि झकार को अत्। जागर्षि, जागृथः, जागृथ; जागर्मि, जागृवः, जागृमः। लिट् में

१. हुझल्भ्यो हेर्धिः (६।४।१०१) से।

२. श्नसोरल्लोपः (६।४।१११) से।

३. अस्तिसिचोऽपृक्ते (७।३।९६) से।

४. जक्षित्यादयः षट् (६।१।६) से जक्षादि के अन्तर्गत होने से अभ्यस्त संज्ञा होती है।

'आम्' **उषविदजागृभ्योऽन्यतरस्याम्** (३।१।३८) से विकल्प से होता है। आम् होकर—जागराञ्चकार, जागराम्बभूव, जागरामास। पक्ष में—यह धातु दो स्वरवाला है, इसलिए प्रथम एकाच् अवयव 'जा' मात्र को द्वित्व होकर—जजागार। जागृ + अतुस्—

जाग्रोऽविचिण्णल्ङित्सु (७।३।८६)—जागृ धातु को गुण होवे, वृद्धि विषय और निषेध विषय में, परन्तु वि चिण् णल् और ङित् प्रत्ययों के परे न होवे। इससे गुण होकर—जजागरतुः। जजागरुः, जजागरिथ। जागरिता। जागरिष्यति। जागर्तु-जागृतात्, जागृताम्, जाग्रतु; जागृहि, जागृतम्, जागृत; जागराणि, जागराव, जागराम। अजागः, अजागृताम्। अभ्यस्त होने से जुस्[1] होकर—

जुसि च (७।३।८३)—जुस् परे हो तो इगन्त अङ्ग को गुण होवे। अजागरुः। अजागः, अजागृतम्, अजागृत; अजागरम्, अजागृव, अजागृम। जागृयात्, जागृयाताम्। आशिषि लिङ् में यासुट् के कित् होने से—जागर्यात्, जागर्यास्ताम्, जागर्यासुः। लुङ् में—अजागरीत्, अजागरिष्टाम्, अजागरिषुः। लृङ्—अजागरिष्यत्। इति अदादिगण समाप्त॥

जुहोत्यादि-गण

अथ परस्मैभाषः

हु दानादनयोः, आदाने चेत्येके—देना, खाना और ग्रहण करना। यहां दान अर्थ से अग्नि में हवन करना अर्थ भी लिया जाता है। हु + शप् + तिप्—

जुहोत्यादिभ्यः श्लुः (२।४।७५)—हु आदि धातुओं से शप् के स्थान में श्लु होवे। इससे शप् का लोप हो जाता है। हु + तिप्, यहां—

श्लौ (६।१।१०)—अनभ्यास धातु के प्रथम एकाच् अवयव और अजादि धातु के द्वितीय एकाच् अवयव को द्वित्व हो, श्लु परे हो तो। जुहोति, जुहुतः। अभ्यस्त संज्ञा[2] होने से प्रत्ययादि झ को अत्[3], और यण्[4] होकर—जुह्वति। जुहोषि, जुहुथः, जुहुथ; जुहोमि, जुहुवः, जुहुमः। हु लिट्—

१. सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च (३।४।१०९) से।

२. उभे अभ्यस्तम् (६।१।५) से।

३. अदभ्यस्तात् (७।१।४) से।

४. हुश्नुवोः सार्वधातुके (६।४।८७) से।

भीह्रीभृहुवां श्लुवच्च (३।१।३९)—भी, ह्री, भृ और हु धातुओं में आम् प्रत्यय विकल्प करके होवे, लोक विषय में लिट् लकार परे हो तो, और आम् के परे श्लुवत् कार्य=द्विर्वचनादि भी होवे। जुहवाञ्चकार, जुहवाञ्चक्रतुः। जुहवाम्बभूव, जुहवामास। जुहाव। होता। होष्यति। जुहोतु-जुहुतात्, जुहुताम्, जुह्वतु; जुहुधि[1], जुहुतम्, जुहुत; जुहवानि, जुहवाव, जुहवाम। अजुहोत्, अजुहुताम्, अजुहवुः—गुण[2]। जुहुयात्। हूयात्—दीर्घ[3]। अहौषीत्। अहोष्यत्।

अथ उभयतोभाषाः

डुभृञ् धारणपोषणयोः=धारण और पोषण। 'डु' की इत्संज्ञा और लोप। 'हु' के समान शप् को श्लु और द्विर्वचन होकर—भृ भृ ति—

भृञामित् (७।४।७६)—भृञ्, माङ् और ओहाङ् इन तीनों धातुओं के अभ्यास को इकार आदेश होवे; श्लु परे हो तो। इससे ऋकार को इकारादेश रपरत्व तथा हलादि शेष होकर—भिभृति, अभ्यास को जश्त्व और अङ्ग को गुण होकर—बिभर्ति, बिभृतः, बिभ्रति[4]। बिभृते, बिभ्राते, बिभ्रते, बिभृध्वे। बिभराञ्चकार, बिभरांबभूव, बिभरामास, आम् प्रत्यय और आम् के परे श्लुवत्[5] होने से द्वित्व तथा अभ्यास को इकार होता है। पक्ष में बभार, बभ्रतुः, बभर्थ—इट्[6] का निषेध। बभृव, बभृम। बिभराञ्चक्रे, बिभराम्बभूव, बिभरामास। बभ्रे, बभ्राते, बभ्रिरे। भर्तासि, भर्तासे, भरिष्यति, भरिष्यते। बिभर्तु, बिभृहि, बिभराणि। बिभृताम्, बिभ्राताम्, बिभ्रताम्—अदादेश। अबिभः, अबिभृताम्, अबिभरुः, अबिभृत, अबिभ्राताम्। बिभृयात् बिभृयाताम्। बिभ्रीत, बिभ्रीयाताम्। भ्रियात्, भ्रियास्ताम्। भृषीष्ट[7]। अभार्षीत्, अभृत[8]। अभरिष्यत्, अभरिष्यत।

डुदाञ् दाने=देना। ददाति, दत्तः—यहां, सूत्र में घुसंज्ञक धातुओं

---

१. हुझल्भ्यो हेर्धिः (६।४।१०१) से।
२. जुसि च (७।३।८३) से।
३. अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः (७।४।२५) से।
४. अदभ्यस्तात् (७।१।४) से अत् आदेश।
५. भीह्रीभृहुवां श्लुवच्च (३।१।३९) से।
६. कृसृभृवृस्तुद्रुस्रुश्रुवो लिटि (७।२।१३) से।
७. उश्च (१।२।१२) से कित्।
८. ह्रस्वादङ्गात् (८।२।२७) से सिच् के सकार का लोप।

को ईकारादेश का निषेध[1] होने से आकारलोप[2] होता है। ददति। ददासि, दत्थः, दत्थ; ददामि, दद्वः, दद्मः। दत्ते, ददाते, ददते, दद्ध्वे। ददौ, ददतुः; ददे, ददाते। दातासि, दातासे। दास्यति, दास्यते। ददातु-दत्तात्, दत्ताम्, ददतु, देहि—एत्वाभ्यासलोप[3], ददानि। दत्ताम्, ददाताम्, ददताम्। अददात्, अदत्ताम्, अददुः, अदत्त, अददाताम्, अददत। दद्यात्, दद्याताम्, दद्युः। ददीत, ददीयाताम्, ददीरन्। देयात्, घुसंज्ञा होने से एत्व,[4] देया-स्ताम्। दासीष्ट, दासीयास्ताम्, दासीरन्। अदात्—सिच्लुक्[5], अदाताम्, अदुः[6]। अदित, इत्व और सिच् को कित्व[9], अदिषाताम्, अदिषत। अदास्यत्, अदास्यत।

डुधाञ् धारणपोषणयोः[8]—धारण और पोषण करना। इसके प्रयोग डुदाञ् के तुल्य जानो। दधाति। द धा तस्—

दधस्तथोश्च (८।२।३८)—द्वित्व किये झषन्त धा धातु के बश् को भष् आदेश होवे, त थ स् और ध्व परे हो तो। यहां अनभ्यास के आकार का लोप किये पश्चात् अभ्यास के दकार को धकार हो जाता है=धत्तः, दधति, दधासि, धत्थः, धत्थ; दधामि, दध्वः, दध्मः। धत्ते, दधाते, दधते; धत्से, धद्ध्वे। दधौ, दधतुः। दधे, दधाते। धातासि, धातासे। धास्यति, धास्यते। दधातु-धत्तात्, धत्ताम्, दधतु, धेहि[3], दधानि। धत्ताम्, दधाताम्, धत्स्व, धद्ध्वम्। अदधात्, अधत्ताम्, अदधुः। अधत्त, अदधाताम्, अदधत, अधत्थाः, अधद्ध्वम्। दध्यात्, दधीत। धेयात्, धासीष्ट। अधात्, अधा-ताम्, अधुः[6]। अधित[9], अधिषाताम्, अधिषत। अधास्यत्, अधास्यत॥

इति जुहोत्यादिगण समाप्त॥

---

१. ई हल्यघोः (६।४।११३) से।

२. श्नाभ्यस्तयोरातः (६।४।११२) से आकारलोप।

३. घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च (६।४।११९) से एत्व-अभ्यासलोप।

४. एर्लिङि (६।४।६७) से एकार।

५. गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु (२।४।७७) से।

६. आतः (३।४।११०) से जुस्। ७. स्थाघ्वोरिच्च (१।२।१७) से।

८. प्राचीन आचार्य 'डुधाञ् दानधारणयोः' पढ़ते हैं। दशपादी उणादिवृत्ति में सर्वत्र 'दानधारणयोः' पाठ है। निरुक्तकार यास्कमुनि ने 'रत्नधातमम्' का अर्थ 'रमणीयानां दातृतमम्' (निरुक्त ७।१५) किया है।

९. स्थाघ्वोरिच्च (१।२।१७) से सिच् को कित्, और ह्रस्वादङ्गात् (८।२।२७) से सकार लोप।

दिवादि-गण

अथ परस्मैभाषाः

दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु= खेलना, जीतने की इच्छा, लेना-देना, प्रकाश, प्रशंसा, आनन्द, अहंकार, निद्रा, शोभा और गति अर्थात् ज्ञान-गमन-प्राप्ति। दिव्+तिप्, शप् की प्राप्ति होने पर—

दिवादिभ्यः श्यन् (३।१।६९)—दिव आदि धातुओं से (शप् का बाधक) श्यन् प्रत्यय होवे कर्त्ता में सार्वधातुक परे हो तो। दीव्यति—दीर्घ[1], दीव्यतः दीव्यन्ति। दिदेव, दिदिवतुः, दिदेविथ। देविता। देविष्यति। दीव्यतु। अदीव्यत्। दीव्येत्। दीव्यात्। अदेवीत्। अदेविष्यत्।

षिवु तन्तुसन्ताने=सीना। सीव्यति। सिषेव। असेवीत्।

ष्ठिवु निरसने=थूकना। ष्ठीव्यति, सत्व निषेध[2]। तिष्ठेव[3], तिष्ठिवतुः।

अथात्मनेभाषाः

जनी प्रादुर्भावे=उत्पत्ति वा अवस्थान्तर से प्रकट होना। जन्+श्यन्+ते—

ज्ञाजनोर्जा (७।३।७९)—शित् प्रत्यय परे हो, तो ज्ञा और जन धातु को आ आदेश होवे। अनेकाल् होने से पूरी धातु के स्थान में होता है= जायते। ज+जन्+एश्, उपधा अकार का लोप[4] होकर जन् के संयोग में तवर्ग नकार को चवर्ग ञकार हो जाता है=जज्ञे, जज्ञाते, जज्ञिरे। जनितासे। जनिष्यते। जायताम्। अजायत। जायेत। जनिषीष्ट। लुङ् में—जन्+च्लि+त, इस अवस्था में—

---

१. हलि च (८।२।७७) सूत्र से इ को दीर्घ।

२. सुब्धातुष्ठिवुष्वस्कतीनां प्रतिषेधः (वा० ६।१।६२) से।

३. धातु के थकार को 'ष्' के योग में ठकार हुआ है। अतः अभ्यास में 'थे' शेष रहता है। उसको 'चर्' होकर, और ह्रस्वः (७।४।५९) सूत्र से ह्रस्व (ए को इ) होकर 'तिष्ठेव' बनता है।

४. गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि (६।४।९८) सूत्र से।

दीपजनबुधपूरितायिप्यायिभ्योऽन्यतरस्याम् (३।१।६१)—दीपी जनी बुध पूरी तायृ ओप्यायी धातुओं से परे लुङ् में आत्मनेपद के 'त' शब्द परे रहने पर च्लि के स्थान में चिण् प्रत्यय विकल्प से होता है। जन् चिण् त, इस अवस्था में—

चिणो लुक् (६।४।१०४)—चिण् से परे विद्यमान प्रत्यय का लुक् होता है। इससे त् का लुक् होकर=जन्+इ। चिण् के णित् होने से **अत उपधायाः** (७।२।११६) से वृद्धि प्राप्त होती है। उसका निषेध—

जनिवध्योश्च (७।३।३५)—जन और वध धातु की उपधा को वृद्धि न होवे, ञित् णित् कृत् और चिण् परे हों तो। इससे वृद्धि का निषेध होकर=अजनि। और जिस पक्ष में चिण् न हुआ, वहां—अजनिष्ट, अजनिषाताम्, अजनिषत। अजनिष्यत।

दीपी दीप्तौ=प्रकाश। दीप्यते। दिदीपे, दिदीपाते। दीपितासे, दीपिष्यते, दीप्यताम्, अदीप्यत, दीप्येत, दीपिषीष्ट। अदीपि[1], अदीपिष्ट। अदीपिष्यत।

तप ऐश्वर्ये=सम्पत् का होना[2]। यह धातु अनिट् है। तप्यते। तेपे[3], तेपाते, तेपिरे, तेपिषे। तप्तासे, तप्स्यते, तप्यताम्, अतप्यत, तप्येत, तप्सीष्ट। अतप्त[4], अतप्साताम्, अतप्सत। अतप्स्यत।

पद गतौ=गति। पद्यते, प्रतिपद्यते, प्रपद्यते। पेदे[3], पेदाते, पेदिरे। पत्तासे, पत्स्यते, पद्यताम्, अपद्यत, पद्येत, पत्सीष्ट। पद् च्लि त—

चिण् ते पदः (३।१।६०)—पद धातु से परे जो च्लि उसके स्थान में चिण् होवे त शब्द परे हो तो। चिण् होकर=अपादि, **अत उपधायाः** (७।२।११६) से वृद्धि, अपत्साताम्, अपत्सत। अपत्स्यत।

खिद दैन्ये=दीनता, दुःखी होना। खिद्यते, चिखिदे, खेत्तासे, खित्सीष्ट[5], अखित्त[6]।

---

१. दीपजनबुध० (३।१।६१) से च्लि को चिण्।
२. सन्ताप अर्थ में 'तप' भ्वादिगण की धातु है।
३. अत एकहल्मध्ये० (६।४।१२०) से एत्व और अभ्यासलोप।
४. झलो झलि (८।२।२६) से सिच् के सकार का लोप।
५. लिङ् सिचावात्मनेपदेषु (१।२।११) से लिङ् को कित्व, गुण अभाव।
६. झलो झलि (८।२।२६) से सकार लोप।

विद सत्तायाम्=होना। विद्यते, विविदे, वेत्तासे, वेत्स्यते, विद्यताम्, अविद्यत, विद्येत, वित्सीष्ट[1], अवित्त[2], अवित्साताम्। अवेत्स्यत।

बुध अवगमने=ज्ञान होना। बुध्यते। बुबुधे, बोद्धासे, भोत्स्यते[3], बुध्यताम्, अबुध्यत, बुध्येत, भुत्सीष्ट[3], अबोधि[4], अबुद्ध। अभोत्स्यत[3]।

युध सम्प्रहारे=युद्ध करना। युध्यते, युयुधे, योद्धासे, योत्स्यते, युध्येत, युत्सीष्ट[1]। अयुद्ध[2], अयुत्साताम्।

मन ज्ञाने=जानना। मन्यते, मेने, मन्तासे, मंस्यते, मन्यताम्, अमन्यत, मन्येत, मंसीष्ट, अमंस्त, अमंस्यत।

अथ परस्मैभाषाः

पुष पुष्टौ=पुष्ट करना। पुष्यति। पुपोष, पुपोषिथ। पोष्टा, पोक्ष्यति, पुष्यतु, अपुष्यत्, पुष्येत्, पुष्यात्। अपुषत्—अङ्[5], अपुषताम्, अपुषन्। अपोक्ष्यत्।

शुष=सोखना। शुष्यति, अशुषत्।

तुष प्रीतौ=प्रसन्न होना। तुष्यति, तुष्यतु, अतुषत्।

दुष वैकृत्ये=विकार को प्राप्त होना। दुष्यति, अदुषत्।

शम उपशमे=शान्ति। शम्+श्यन्+तिप्—

शमामष्टानां दीर्घः श्यनि (७।३।७४)—शम् आदि आठ धातुओं के अच् को दीर्घ होवे, श्यन् परे हो तो। शाम्यति, शाम्यतः, शाम्यन्ति। शशाम, शेमतुः, शेमिथ। शमिता, शमिष्यति, शाम्यतु, अशाम्यत्, शाम्येत्, शम्यात्, अशमत्, अशमिष्यत्।

दमु उपशमे=शान्ति। दाम्यति, अदमत्।

श्रमु तपसि खेदे च=तप करना और क्लेश भोगना। श्राम्यति, अश्रमत्।

---

१. लिङ्सिचावात्मनेपदेषु (१।२।११) से लिङ् को कित्व, गुण अभाव।

२. झलो झलि (८।२।२६) से सकार लोप।

३. एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः (८।२।३७) से 'ब' को 'भ' और खरि च (८।४।५४) से 'ध' को 'त'।

४. दीपजनबुध० (३।१।६१) से चिण् का विकल्प।

५. पुषादिद्युताद्यॢदितः परस्मैपदेषु (३।१।५५) से।

ञिमिदा स्नेहने = प्रीति या चिपकना। मिद्+श्यन्+तिप्—

मिदेर्गुणः (७।३।८२)—मिद् धातु के इक् को गुण होवे, शित् प्रत्यय परे हो तो। मेद्यति, मेद्यतः, मेद्यन्ति। यहां श्यन् के ङित् होने से गुण प्राप्त नहीं होता था। मिमेद, मिमिदतुः। अमिदत्। इति दिवादि-गण समाप्त ॥

स्वादिगण

अथ उभयतोभाषाः

षुञ् अभिषवे = यन्त्र से रस खींचना, वा राज्याधिकार देना। सु+तिप्—

स्वादिभ्यः श्नुः (३।१।७३)—सु आदि धातुओं से शप् का बाधक श्नु प्रत्यय होवे, कर्तावाची सार्वधातुक परे हो तो। विकरणस्थ उकार को गुण होकर—सुनोति, सुनुतः, सुन्वन्ति[1], सुनोषि, सुनुथः, सुनुथ, सुनोमि। सु+नु+वस्—

लोपश्चास्यान्यतरस्यां म्वोः (६।४।१०७)—असंयोगपूर्व उकारान्त प्रत्यय का मकारादि वकारादि प्रत्यय परे रहने पर विकल्प से लोप होता है। अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) सूत्र से अन्त्य 'उ' का लोप होता है—सुन्वः, सुनुवः, सुन्मः, सुनुमः। सुनुते, सुन्वाते, सुन्वते। सुषाव, सुषुवे। सोतासि, सोतासे। सोष्यति, सोष्यते। सुनोतु, सुनुतात्, सु नु हि—

उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात् (६।४।१०६)—असंयोगपूर्व (जिसके पूर्व में संयोग नहीं है) जो उकार प्रत्यय उससे परे 'हि' का लुक् होता है। हि का लुक् होकर—सुनु। सुनवानि, सुनवाव, सुनवाम। सुनुताम्। असुनोत्, असुनुत। सुनुयात्, सुन्वीत। सूयात्, सोषीष्ट। असावीत्[2], असोष्ट। असोष्यत्, असोष्यत।

चिञ् चयने = चुनना, जोड़ना। चिनोति, चिनुतः, चिनुते। चि+चाय्+अ, इस अवस्था में—

---

१. हुश्नुवोः सार्वधातुके (६।४।८७) से यण्।

२. स्तुसुधूञ्भ्यः परस्मैपदेषु (७।२।७२) से इट्, सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु (७।२।१) से वृद्धि।

विभाषा चेः (७।३।५८)—सन् और लिट् परे हों तो अभ्यास से परे चिञ् धातु को विकल्प करके कुत्व होवे। चिकाय, चिक्यतुः, चिकयिथ। पक्ष में चिचाय, चिच्यतुः। चिक्ये, चिच्ये। चेतासि, चेतासे। चेष्यति, चेष्यते। चिनोतु, चिनुताम्। अचिनोत्, अचिनुत। चिनुयात्, चिन्वीत। चीयात्, चेषीष्ट। अचैषीत्, अचेष्ट। अचेष्यत्, अचेष्यत।

वृञ् वरणे=स्वीकार करना। वृणोति, वृणुते। ववार, वव्रतुः, वव्रुः। व वृ थ—इस अवस्था में **क्रसुभृवृ०** (७।२।१३) से इट् का निषेध प्राप्त होता है।

बभूथाततन्थजगृम्भववर्थेति निगमे (७।२।६४)—वेद में बभूथ, आततन्थ, जगृभ्म, ववर्थ पदों में इट् का अभाव निपातन किया है। ववर्थ में इट् का अभाव **क्रसुभृ०** (७।२।१३) से प्राप्त है पुनः इट् अभाव के निपातन से ज्ञात होता है कि लोक में इट् होता है। इस प्रकार इट् की प्राप्ति होने पर—ववरिथ। वव्रथुः, वव्र; ववार-ववर, ववृव, ववृम। वव्रे, वव्राते, वव्रिरे। वरितासि, वरीतासि—**वृतो वा** (७।२।३८) से इट् को विकल्प से दीर्घ होता है। वरितासे, वरीतासे। वरिष्यति, वरीष्यति; वरिष्यते, वरीष्यते। वृणोतु, वृणुताम्। अवृणोत्, अवृणुत। वृणुयात्, वृण्वीत। व्रियात्,[1] व्रियास्ताम्। आत्मनेपद में—वृ सीयुट् सुट् त—इस अवस्था में—

लिङ्सिचोरात्मनेपदेषु (७।२।४२)—वृङ्, वृञ् और ऋकारान्त धातुओं से परे जो आत्मनेपदविषयक लिङ् सिच् इनको विकल्प करके इट् का आगम होवे। वृङ्, वृञ् और ऋकारान्त सब धातु सेट् हैं, इसलिये प्राप्तविभाषा है। अब इट् को वृतो वा (७।२।३८) से दीर्घ प्राप्त है, उसका निषेध—

न लिङि (७।२।३९)—वृङ्, वृञ् और ऋकारान्तों से परे लिङ् के इट् को दीर्घ न होवे। वरिषीष्ट, वरिषीयास्ताम्। अनिट् पक्ष में—वृषीष्ट, **लिङ्सिचावात्मनेपदेषु** (१।२।११) से कित् होकर गुण का अभाव। अवारीत् अवारिष्टाम्—अवारिषुः, **सिचि च परस्मैपदेषु** (७।२।४०) से इट् के दीर्घत्व का प्रतिषेध होता है। अवरिष्ट, अवरीष्ट। अवरिष्यत्, अवरीष्यत्, अवरिष्यत, अवरीष्यत।

१. रिङ् शयग्लिङ्क्षु (७।४।२८) से रिङ्।

अथ परस्मैभाषाः

टुदु उपतापे=क्लेश भोगना। टु की इत् संज्ञा। दुनोति। दुदाव, दुदविथ। दोतासि। दोष्यति। दुनोतु। अदुनोत्। दुनुयात्। दूयात्। अदौषीत्। अदोष्यत्।

आप्लृ व्याप्तौ=व्यापक होना। आप्नोति, आप्नुतः, आप्नुवन्ति—यहां 'आप्नु' में उकार से पूर्व प् न् का संयोग होने से **हुश्नुवोः सार्वधातुके** (६।४।८७) से यणादेश नहीं होता। अतः **अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वो०** (६।४।७७) से उवङ् हो जाता है। आप्नुवः, आप्नुमः, यहां भी संयोगपूर्व होने से **लोपश्चास्यान्यतरस्यां म्वोः** (६।४।१०७) से उकार का लोप नहीं होता आप, आपतुः, आपुः। आप्ता। आप्स्यति। आप्नोतु, आप्नुहि, यहां भी संयोगपूर्व होने से **उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात्** (६।४।१०६) से हि का लुक् नहीं होता। आप्नोत्। आप्नुयात्। आप्यात्। आपत्—अङ्[1]। आप्स्यत्।

शक्लृ शक्तौ=समर्थ होना, सकना। शक्नोति। शशाक, शेकतुः[2], शेकुः; शेकिथ[3], शशक्थ। शक्ता। शक्ष्यति। शक्नोतु। अशक्नोत्। शक्नुयात्। शक्यात्। अशकत्[1]। अशक्ष्यत्।

राध साध संसिद्धौ=सिद्ध करना। राध्नोति, राध्नुतः, राध्नुवन्ति। रराध, राध्+अतुस्=रराध् अतुस्, इस अवस्था में—

राधो हिंसायाम् (६।४।१२३)—राध् धातु के आकार को कित् लिट् और सेट् थल् परे हिंसा अर्थ में एत्व और अभ्यास का लोप होता है। प्रायः अपपूर्वक राध् हिंसा अर्थ में प्रयुक्त होता है। अपरेधतुः, अपरेधुः, अपरेधिथ। हिंसा से अन्यत्र—रराध, रराधतुः, रराधुः, रराधिथ। राद्धा[4]। रात्स्यति। राध्नोतु, राध्नुताम्, राध्नुवन्तु, राध्नुहि। अराध्नोत्। राध्नुयात्। राध्यात्। अरात्सीत्, अराद्धाम्, अरात्सुः। अरात्स्यत्।

साध्नोति, ससाध। साद्धा। सात्स्यति। साध्नोतु। असाध्नोत्। साध्नुयात्। साध्यात्। असात्सीत्। असात्स्यत्।

---

१. पुषादिद्युताद्युदितः परस्मैपदेषु (३।१।५५) से।

२. अत एकहल्मध्ये० (६।४।१२०) से एत्व तथा अभ्यासलोप।

३. थलि च सेटि (६।४।१२१) से एत्व तथा अभ्यासलोप, और भारद्वाज नियम से इट्।

४. झषस्तथोर्धोऽधः (८।२।४०) से धकार।

अथात्मनेभाषः

अशूङ् व्याप्तौ संघाते च=व्याप्त होना, और इकट्ठा होना। अश्नुते, अश्नुवाते। अश्+लिट्—अ अश् ए—आ[1] अश्-ए, इस अवस्था में—

अश्नोतेश्च (७।४।७२)—दीर्घ किये अभ्यास के अवर्ण से परे अश् धातु को नुट् का आगम होवे। आनशे, आनशाते। ऊदित् होने से इट् विकल्प[2]—आनशिषे-आनक्षे[3]; आनशिवहे, आनश्वहे। अशितासे, अष्टासे—षत्व[3]। अशिष्यते, अक्ष्यते। अश्नुताम्। अश्नवै। आश्नुत। अश्नुवीत। अशिषीष्ट, अक्षीष्ट। आशिष्ट, आष्ट, आक्षाताम्। आशिष्यत, आक्ष्यत॥ इति स्वादि-गण समाप्त॥

तुदादि-गण

अथ उभयतोभाषाः

तुद व्यथने=पीड़ा देना। तुद्+ति, इस अवस्था में—

तुदादिभ्यः शः (३।१।७७)—तुदादिगण की धातुओं से कर्त्तावाची सार्वधातुक प्रत्यय परे रहने पर शप् का बाधक श होता है। 'श' विकरण के अपित् होने से ङित् होता है। अतः गुण नहीं होता—तुदति, तुदते। तुतोद, तुतुदतुः, तुतोदिथ[4]; तुतुदे, तुतुदाते। तोत्तासि, तोत्तासे। तोत्स्यति, तोत्स्यते। तुदतु, तुदताम्। अतुदत्, अतुदत। तुदेत्, तुदेत। तुद्यात्, तुत्सीष्ट[5]। अतौत्सीत्[6], अतौत्ताम्। अतुत्त, अतुत्साताम्। अतोत्स्यत्, अतोत्स्यत।

क्षिप प्रेरणे=फेंकना, गति देना। क्षिपति, क्षिपते। चिक्षेप, चिक्षिपे। क्षेप्तासि, क्षेप्तासे। क्षिपतु, क्षिपताम्। अक्षिपत्, अक्षिपत। क्षिपेत्, क्षिपेत। क्षिप्यात्, क्षिप्सीष्ट। अक्षैप्सीत्, अक्षिप्त।

कृष विलेखने=लिखना व जोतना। कृषति, कृषते। क्रक्ष्यति[7], कर्क्ष्यते;—

---

१. अत आदेः (७।४।७०) से अभ्यास को दीर्घ।

२. स्वरतिसूतिसूयतिधूञूदितो वा (७।२।४४) से।

३. व्रश्चभ्रस्जसृज० (८।२।३६) से श् को ष।

४. क्रादिनियम से इट्।

५. लिङ्सिचावात्मनेपदेषु (१।२।११) से किन्।

६. वदव्रजहलन्तस्याचः (७।२।३) से वृद्धि।

७. अनुदात्तस्य चर्दुपधस्याऽन्यतरस्याम् (६।१।५९) से विकल्प से अम् का आगम।

कर्क्ष्यति, कर्क्ष्यते । कृष्यात्, कृक्षीष्ट । सिच् पक्ष[1] में अम् होकर—अक्राक्षीत्, अकार्क्षीत् । पक्ष में क्स होकर—अकृक्षत्, अकृक्षताम्, अकृक्षन् । आत्मनेपद में सिच् पक्ष में सिच् के कित्[2] होने से अम् नहीं होता—अकृष्ट, अकृक्षाताम्, अकृक्षत । क्स पक्ष में—अकृक्षत, अकृक्षाताम्, अकृक्षन्त । अक्रक्ष्यत्, अकर्क्ष्यत्; अक्रक्ष्यत, अकर्क्ष्यत ।

अथ परस्मैभाषाः

इषु इच्छायाम्—चाहना । इष्+अ+ति—

इषुगमियमां छः (७।३।७७)—इषु गमि और यम धातु को परस्मैपद में शित् प्रत्यय के परे छकार (अन्तादेश) होता है । इछति—तुक् का आगम[3] होकर=इच्छति । इयेष, ईषतुः, इयेषिथ । एष्टा[4], एषिता । एषिष्यति । इच्छतु । ऐच्छत् । इच्छेत् । इष्यात् । ऐषीत् । ऐषिष्यत् ।

लिख अक्षरविन्यासे=अक्षर बनाना, लिखना । लिखति । लिलेख । लेखिता । लेखिष्यति । लिखतु । अलिखत् । लिखेत् । लिख्यात् । अलेखीत् । अलेखिष्यत् ।

त्रुट छेदने=टूटना । विकल्प से श्यन्[5]—त्रुट्यति, त्रुटति । त्रुटिष्यति । त्रुट्यतु, त्रुटतु । अत्रुट्यत् । अत्रुटत् । त्रुट्येत्, त्रुटेत् ।

तुड तोडने=तोड़ना, टुकड़े करना । तुडति । तुतोड । तुडिता । तुडिष्यति । तुडतु । अतुडत् । तुडेत् । तुड्यात् । अतुडीत् । अतुडिष्यत् ।

अथ आत्मनेभाषः

मृङ् प्राणत्यागे=मरना । ङित् होने से आत्मनेपदी है । तथापि—

म्रियतेर्लुङ्लिङोश्च (१।३।६१)—मृङ् धातु से लुङ् लिङ् और शित्

---

१. शल इगुपधादनिटः क्सः (३।१।४५) से च्लि के स्थान में नित्य क्स की प्राप्ति में स्पृशमृशकृषतृपदृपां सिज्वा वक्तव्यः (वा० ३।१।४४) से विकल्प से सिच् का विधान होता है ।

२. लिङ्सिचावात्मनेपदेषु (१।२।११) से सिच् कित्, अनुदात्तस्य चर्दु-पधस्यान्यतरस्याम् (६।१।५९) में अकित् की अनुवृत्ति होने से अम् नहीं होता ।

३. छे च (६।१।७३) से तुक् का आगम ।

४. तीषसहलुभरुषरिषः (७।२।४८) से इट् का विकल्प ।

५. वा भ्राशभ्लाशभ्रमुक्रमुक्लमुत्रसित्रुटिलषः (३।१।७०) से श्यन् विकल्प से होता है ।

प्रत्यय परे आत्मनेपद होता है। लुङ्, लिङ् और शित् (=लट्, लोट्, लङ्, विधिलिङ्) से अन्यत्र (=लिट् लुट् लृट् लृङ्) में परस्मैपद जानना चाहिये। मृ अ ते—रिङ् शयग्लिङ्क्षु (७।४।२८) से रिङ्, तथा इकार के स्थान में इयङ्—म्रियते, म्रियेते, म्रियन्ते। ममार, मम्रतुः, मम्रुः; ममर्थ[1], मम्रथुः, मम्र; ममार-ममर, मम्रिव, मम्रिम[2]। मर्तासि। मरिष्यति[3]। म्रियताम्। अम्रियत। म्रियेत। मृषीष्ट[4]। अमृत[5]। अमरिष्यत्।

अथ परस्मैभाषाः

षु प्रेरणे=प्रेरणा देना। सुवति। सुषाव, सुषविथ। सविता। सविष्यति। सुवतु। असुवत्। सुवेत्। सूयात्। असावीत्, असाविष्टाम्। असविष्यत्।

कॄ विक्षेपे=फैलाना, बिखेरना। यह प्रायः विपूर्वक प्रयुक्त होता है। किरति[6], किरतः। चकार, चकरतुः, चकरुः—गुण[7]। करिता-करीता[8]। करिष्यति, करीष्यति। किरतु। अकिरत्। किरेत्। कीर्यात्[9]। अकारीत्[10]; अकारिष्टाम्। अकरिष्यत्, अकरीष्यत्।

गॄ निगरणे=खाना, वा उपदेश करना। यह धातु प्रायः निपूर्वक प्रयुक्त होता है। गिर् अ ति—

अचि विभाषा (८।२।२१)—अजादि प्रत्यय परे हो, तो गॄ धातु के रेफ को विकल्प करके लकारादेश होवे। गिरति-गिलति। जगार, जगाल, जगरतुः, जगलतुः। गरिता, गरीता; गलिता, गलीता। गीर्यात्। अगारीत्-अगालीत्; अगारिष्टाम्-अगालिष्टाम्।

अथ आत्मनेभाषाः

दृङ् आदरे=सत्कार। यह धातु आङ्पूर्वक बहुधा प्रयुक्त है। आद्रि-

1. ऋतो भारद्वाजस्य (७।२।६३) से इट् का निषेध।
2. क्रादि नियम से इट्।
3. ऋद्धनोः स्ये (७।२।७०) से इट्।
4. उश्च (१।२।१२) से कित्।
5. ह्रस्वादङ्गात् (८।२।२७) से सिच् के सकार का लोप।
6. ऋत इद् धातोः (७।१।१००) से इत् आदेश, और उरण् रपरः (१।१।५०) से रपर होकर 'इर्'।
7. ऋच्छत्यॄताम् (७।४।११) से गुण।
8. वॄतो वा (७।२।३८) से दीर्घ विकल्प।
9. 'इर्' आदेश पूर्ववत्, और हलि च (८।२।७७) से दीर्घ।
10. सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु (७।२।१ से) वृद्धि।

यते—रिङ्, आद्रियेते । आदद्रे, आदद्रिषे । आदर्तासि । आदरिष्यते[1] । अद्रियताम् । आद्रियत । आद्रियेत । आदृषीष्ट[3] । आदृत[4] । आदृषाताम्[5] । आदरिष्यत ।

धृङ् अवस्थाने=ठहरना । यह भी, प्रायः आङ् पूर्वक प्रयुक्त होता है । ध्रियते । दध्रे । धर्तासि । धरिष्यते । ध्रियताम् । अध्रियत । ध्रियेत । धृषीष्ट । अधृत । अधरिष्यत ।

अथ-उभयतोभाषाः

मुच्लृ मोक्षणे=छूटना, छोड़ना । मुंच्+अ+ति—

शे मुचादीनाम् (७।१।५९)—श प्रत्यय के परे मुचादि धातुओं को नुम् का आगम होवे । मुञ्चति, मुञ्चते । मुमोच, मुमुचे । मोक्तासि, मोक्तासे । मोक्ष्यति, मोक्ष्यते । मुञ्चतु, मुञ्चताम् । अमुञ्चत्, अमुञ्चत । मुञ्चेत्, मुञ्चेत । मुच्यात्, मुक्षीष्ट । अमुचत्, अङ् । अमुक्त, अमुक्षाताम् । अमोक्ष्यत्, अमोक्ष्यत ।

विद्लृ लाभे=प्राप्त करना ॥ विन्दति, विन्दते । विवेद, विविदे । वेत्तासि, वेत्तासे । वेत्स्यति, वेत्स्यते । विन्दतु, विन्दताम् । अविन्दत, अविन्दत । विन्देत्, विन्देत । विद्यात्, वित्सीष्ट । अविदत्—अङ् । अवित्त । अवेत्स्यत्, अवेत्स्यत । इति तुदादिगणः समाप्तः ।

रुधादि-गण

अथ उभयतोभाषाः

रुधिर् आवरणे=आच्छादने, व्यवधान करना । इसको स्वरित इत्संज्ञक होने से कर्त्रभिप्राय क्रियाफल में आत्मनेपद, और अन्यत्र परस्मैपद होता है । 'इर्' की—

इर उपसंख्यानम् (वा० १।३।३)—इर् की इत्संज्ञा होती है । इससे 'इर्' समुदाय की इत्संज्ञा और लोप होकर—रुध्+तिप्, इस अवस्था में—

१. रिङ् शयग्लिङ्क्षु (७।४।२८) से रिङ्, तथा इकार को इयङ् आदेश ।
२. ऋद्धनोः स्ये (७।२।७०) से इट् । ३. उश्च (१।२।१२) से कित् ।
४. ह्रस्वादङ्गात् (८।२।२७) से सकार-लोप ।
५. झलो झलि (८।२।२६) से सिच् के सकार का लोप ।

रुधादिभ्यः श्नम् (३।१।७८)—रुध आदि धातुओं से शप् का अपवाद श्नम् प्रत्यय हो, कर्तृवाची सार्वधातुक परे हो तो। श्नम् मित् प्रत्यय होने से अन्त्य अच् रु से परे और धकार से पूर्व होता है। रु + श्नम् + ध् + तिप् = रुणद्धि, शकार मकार की इत्संज्ञा होती है। रुन्द्धः, रुन्धन्ति—अकारलोप[2], अनुस्वार[3] और अनुस्वार को परसवर्ण[3] हो जाता है। रुन्धन्ति, रुणत्सि; रुन्धे, रुन्धाते, रुन्धते। रुरोध, रुरुधतुः, रुरोधिथ; रुरुधे। रोद्धासि, रोद्धासे। रोत्स्यति, रोत्स्यते। रुणद्धु, रुन्द्धात्, रुन्द्धाम्, रुन्धन्तु, रुन्द्धि, रुणधानि, रुणधाव, रुणधाम; रुन्द्धाम्, रुन्धाताम्, रुन्धताम्। अरुणत्, अरुन्द्धाम्, अरुन्धन्; अरुणत्-अरुणः[4], अरुन्द्धम्, अरुन्द्ध, अरुणधम्, अरुन्ध्व, अरुन्ध्म। अरुन्द्ध, अरुन्धाताम्, अरुन्धत। रुन्ध्यात्, रुन्ध्याताम्, रुन्ध्युः। रुन्धीत, रुन्धीयाताम्, रुन्धीरन्। रुध्यात्, रुध्यास्ताम्, रुध्यासुः। रुत्सीष्ट[5], रुत्सीयास्ताम्, रुत्सीरन्। अरुधत्[6], अरुधताम्, अरुधन्। अरौत्सीत्, अरौद्धाम्, अरौत्सुः; अरुद्ध[7], अरुत्साताम्, अरुत्सत। अरोत्स्यत्, अरोत्स्यत।

भिदिर् विदारणे—विभाग करना। भिनत्ति, भिन्ते। बिभेद, बिभिदे। भेत्तासि, भेत्तासे। भेत्स्यति, भेत्स्यते। भिनत्तु, भिन्ताम्। अभिनत्, अभिन्ताम्, अभिन्दन्, अभिनत्-अभिनः; अभिन्त, अभिन्दाताम्। भिन्द्यात्, भिन्दीत। भिद्यात्, भित्सीष्ट। अभिदत्, अभैत्सीत्; अभित्त। अभेत्स्यत्, अभेत्स्यत।

छिदिर् द्वैधीकरणे—टुकड़े करना। छिनत्ति, छिन्ते। सब रूप भिदिर् के समान जानने चाहिये।

अथ आत्मनेभाषी

ञिइन्धी दीप्तौ—प्रकाशित या प्रज्वलित होना। यह सेट् है। 'श्नम्' होकर—इनन्ध्ते, इस अवस्था में—

श्नान्नलोपः (६।४।२३)—श्नम् प्रत्यय से परे नकार का लोप हो,

---

१. झरो झरि सवर्णे (८।४।६५) से विकल्प से दकार का लोप होता है।

२. श्नसोरल्लोपः (६।४।१११) से अकार-लोप।

३. नश्चापदान्तस्य झलि (८।३।२४) से अनुस्वार, अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः (८।४।५८) से परसवर्ण नकार।

४. दश्च (८।२।७५) से रुत्व का विकल्प।

५. लिङ्सिचावात्मनेपदेषु (१।२।११) से लिङ् सिच् कित्।

६. इरितो वा (३।१।५७) से परस्मैपद में च्लि के स्थान में अङ् विकल्प से, पक्ष में—सिच्।

७. झलो झलि (८।२।२६) से सकार-लोप।

कित् ङित् परे रहने पर । श्नम् इकार से परे होने के कारण धकार से पूर्व जो न् उसका लोप होता है—इन्द्धे; [1] अकारलोप, इन्धाते, इन्धते, इन्त्से । इन्धाञ्चक्रे, इन्धाम्बभूव, इन्धामास । इन्धिता, इन्धिष्यते । इन्द्धाम्, इन्धाताम्, इनधै, इनधावहै, इनधामहै । ऐन्द्ध, ऐन्द्धाः । इन्धीत । इन्धिषीष्ट । ऐन्धिष्ट । ऐन्धिष्यत ।

विद विचारणे=विचारना । यह अनिट् है । विन्ते, विविदे, वेत्ता, वेत्स्यते, विन्ताम्, अविन्त, विन्दीत, वित्सीष्ट, अवित्त, अवेत्स्यत ।

अथ परस्मैभाषी

पिष्लृ संचूर्णने=पीसना । पिनष्टि, पिंष्टः, पिंषन्ति । पिपेष, पिपेषिथ । पेष्टा, पेक्ष्यति, पिनष्टु । 'पि न् ष् हि' इस अवस्था में हि को धि, षकार को जश्त्व ड्, तथा धि को ष्टुत्व (ढ) होकर—**झरो झरि सवर्णे** (८।४।६४) से डकार का लोप होकर—पिण्ढि-पिण्ड्ढि, पिनषाणि । अपिनट्-अपिनड्, अपिंष्टाम् । पिंष्यात्, पिष्यात् । लृदित् होने से अङ्—अपिषत् । अपेक्ष्यत् ।

भुज पालनाभ्यवहारयोः=रक्षा और भोजन । भुंज + लट्—

भुजोऽनवने (१।३।६६)—भुज धातु से अनवन=पालन अर्थ से अन्यत्र आत्मनेपद हो । इस से भक्षण अर्थ में आत्मनेपद होता है । भुङ्क्ते, भुञ्जाते । बुभुजे, बुभुजाते । भोक्तासे, भोक्ष्यते, भुङ्क्ताम्, अभुङ्क्त, भुञ्जीत, भुक्षीष्ट, अभुक्त, अभोक्ष्यत । पालन अर्थ में परस्मैपद—भुनक्ति । बुभोज, बुभुजतुः । भोक्तासि, भोक्ष्यति, भुनक्तु, अभुनक्, भुञ्ज्यात्, भुज्यात्, अभौक्षीत्, अभोक्ष्यत् ॥ **इति रुधादिगण समाप्त ॥**

तनादि-गण

अथ उभयतोभाषः

तनु विस्तारे=फैलाना । स्वरित होने से उभयपदी है । तन् + तिप्—

तनादिकृञ्भ्यः उः (३।१।७९)—तनादि और कृञ् धातु से उ प्रत्यय हो, कर्तावाची सार्वधातुक परे हो तो । यह भी सूत्र शप् का अपवाद है । कृञ् धातु तनादिगण में ही पढ़ा है, इस कारण इसे भी उ प्रत्यय हो ही जाता, फिर कृञ् का पृथक ग्रहण इसलिये है कि तनादिगण के कुछ कार्य कृञ् को न

1. श्नसोरल्लोपः (६।४।१११) से ।

हों। तनोति, तनुतः, तन्वः[1]; तनुते। ततान, तेने। तनितासि, तनितासे। तनिष्यति, तनिष्यते। तनोतु, तनु[2] तनवानि; तनुताम्। अतनोत्, आत्मनेपद में—अतनुत। तनुयात्, तन्वीत। तन्यात्, तनिषीष्ट। अतानीत्[3], अतनीत्।

तनादिभ्यस्तथासोः (२।४।७९)—तनादि धातुओं से परे जो सिच् उसका [विकल्प से] लुक् होवे, त और थास् परे हों तो। थास् आत्मनेपद प्रत्यय के साहचर्य से त भी आत्मनेपद का प्रथमपुरुष एकवचन लिया जाता है। इससे 'यूयमतनिष्ट' यहां परस्मैपद के मध्यम पुरुष बहुवचन में सिच्-लुक् नहीं होता। अतत—अनुनासिक लोप[4], अतनिष्ट, अतनिषाताम्, अतनिषत; अतथाः, अतनिष्ठाः, अतनिषि। अतनिष्यत्, अतनिष्यत।

अथ आत्मनेभाषः

मनु अवबोधने—जानना। मनुते; मेने, मेनाते; मनिता; मनिष्यते; मनुताम्, मनवै; अमनुत; मन्वीत; मनिषीष्ट; अमत, अमनिष्ट; अमथाः, अमनिष्ठाः; अमनिष्यत।

अथ उभयतोभाषः

डुकृञ् करणे—करना। यह धातु अनिट् उभयपदी है। करोति। तस् के परे भी उ प्रत्ययनिमित्त कृञ् और अर् गुण होकर—

अत उत्सार्वधातुके (६।४।११०)—कृञ् धातु के अकार को उकारादेश होवे, कित् ङित् सार्वधातुक परे हों तो। कुरुतः, कुर्वन्ति, यहां यणादेश के अनन्तर हलि च (८।२।७७) सूत्र से दीर्घ प्राप्त है, उसका निषेध न भकुर्छुराम् (८।२।७८) से हो जाता है। करोषि, कुरुथः, कुरुथ; करोमि।

नित्यं करोतेः (६।४।१०८)—करोति धातु से परे जो प्रत्यय का

१. लोपश्चास्यान्यतरस्याम् म्वोः (६।४।१०७) से उकार का विकल्प से लोप होता है।

२. उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात् (६।४।१०६) से हि का लुक्।

३. अतो हलादेर्लघोः (७।२।७) से वृद्धि का विकल्प।

४. सिच् लोप हो जाने पर 'त' के कित्त्व को मानकर अनुदात्तोपदेशवनति० (६।४।३७) से नकार का लोप।

उकार उसका नित्य ही लोप होवे; व म परे हों तो । कुर्वः, कुर्मः । कुरुते, कुर्वाते । चकार, चक्रतुः, चक्रुः; चकृव; चक्रे, चकृषे । कर्तासि, कर्तासे । करिष्यति[1], करिष्यते । करोतु-कुरुतात्, कुरु[3] करवाणि, करवाव—कुरुताम् । अकरोत्, अकुरुत । कुर् उ यासुट् सुट् तिप्—

ये च (६।४।१०९)—कृञ् धातु से परे प्रत्यय के उकार का लोप हो यकारादि प्रत्यय परे हो तो । कुर्यात्, कुर्वीत । क्रियात्[4], कृषीष्ट[5]। अकार्षीत्, अकार्ष्टाम्, अकार्षुः; अकृत अकृथाः—यहां सिच् के सकार का लोप ह्रस्वादङ्गात् (८।२।२७) से होता है । अकरिष्यत्, अकरिष्यत । इति तनादिगण समाप्त ॥

क्र्यादिगण

अथ उभयतोभाषी

डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये = द्रव्य का लेना-देना । क्री + तिप्—

क्र्यादिभ्यः श्ना (३।१।८१)—कर्तृवाची सार्वधातुक परे हो, तो क्री आदि धातुओं से श्ना प्रत्यय हो । क्रीणाति, क्रीणीतः, **ई हल्यघोः** (६।४।११३) से ईकारादेश । झि को अन्ति और झ को अन्त आदेश होकर—क्रीणन्ति[6], क्रीणासि; क्रीणीते, क्रीणाते, क्रीणते । चिकाय, चिक्रियतुः[7]; चिक्रयिथ-चिक्रेथ, चिक्रियिव; चिक्रिये, चिक्रियिषे । क्रेतासि, क्रेतासे । क्रेष्यति, क्रेष्यते । क्रीणातु, क्रीणीहि, क्रीणानि; क्रीणीताम् । अक्रीणात्, अक्रीणीत । क्रीणीयात्, क्रीणीत; क्रीयात्, क्रेषीष्ट, अक्रैषीत्, अक्रेष्ट । अक्रेष्यत्, अक्रेष्यत ।

प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च = तृप्ति और शोभा । प्रीणाति, प्रीणीते ।

---

१. कृसृभृवृ० (७।२।१३) से इट् का निषेध ।

२. ऋद्धनोः स्ये (७।२।७०) से इट् ।

३. उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात् (६।४।१०६) से हि का लुक् ।

४. रिङ् शयग्लिङ्क्षु (७।४।२८) से रिङ् ।

५. उश्च (१।२।१२) से लिङ् सिच् के कित् होने से गुण का निषेध ।

६. श्नाभ्यस्तयोरातः (६।४।११२) से आकार-लोप ।

७. अचि श्नुधातु० (६।४।७७) से इयङ् ।

अथ परस्मैभाषाः

शॄ हिंसायाम्=हिंसा करना। शृणाति[1]। शशार, शश्रतुः, शश्रुः[2]; दीर्घ पक्ष में शशरतुः, शशरुः—गुण; शशरिथ, शश्रिव, शशरिव। शरिता, शरीता; शरिष्यति, शरीष्यति; शृणातु, शृणीहि। अशृणात्, शृणीयात्, शीर्यात्; अशारीत्, अशारिष्टाम्; अशरिष्यत्, अशरीष्यत्।

पॄ पालनपूरणयोः=पालन व पूर्ति। पृणाति। पपार, पप्रतुः, पपरतुः। पूर्यात्। अपारीत्।

ज्ञा अवबोधने=जानना। जानाति[3], जानीतः, जानन्ति, जानासि। जज्ञौ, जज्ञतुः, जज्ञिथ[4]-जज्ञाथ। ज्ञाता; ज्ञास्यति। जानातु, जानीहि, जानानि। अजानात्; जानीयात्; ज्ञेयात्[5]-ज्ञायात्; अज्ञासीत्[6], अज्ञास्यत्।

बन्ध् बन्धने=बांधना। बध्नाति[7], बध्नीतः, बबन्ध, बबन्धतुः, बबन्धुः; बबन्धिथ[8]-बबन्द्ध, बबन्ध[9], बबन्धिव[10]। बन्द्धा, बन्धा[9]। भन्त्स्यति[11]। बध्नातु, बधान[12]; अबध्नात्; बध्नीयात्; बध्यात्[13]। अभान्त्सीत्[11]; अबान्द्धाम्, अबान्धाम्, अभान्त्सुः। अभन्त्स्यत्[11]।

---

१. प्वादीनां ह्रस्वः (७।३।८०) से शित् परे धातु को ह्रस्व।

२. शॄदॄप्रां ह्रस्वो वा (७।४।१२) से ह्रस्व विकल्प से होता है। ह्रस्व विधान सामर्थ्य से गुण नहीं होता, यण् हो जाता है। जब ह्रस्व नहीं होता, तब ऋच्छत्यॄताम् (७।४।११) से गुण हो जाता है।

३. ज्ञाजनोर्जा (७।३।७९) से शित् परे 'जा' आदेश।

४. भारद्वाज नियम से इट्।

५. वाऽन्यस्य संयोगादेः (६।४।६८) से एत्व का विकल्प।

६. यमरमनमातां सक् च (७।२।७३) से सक्, तथा इट्।

७. श्ना के ङित् होने से अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति (६।४।२४) से न लोप।

८. यह धातु अनुदात्त होने से अनिट् है। अतः भारद्वाज-नियम से इट्।

९. झषस्तथोर्धोऽधः (८।२।४०) से 'थ' को ध, ('बन्द्धा' में त को ध) पूर्व ध् को जश् द्, झरो झरि सवर्णे (८।४।६५) से विकल्प से लोप।

१०. क्रादि-नियम से इट्।

११. एकाचो बशो भष्० (८।२।३७) से ब् को भ।

१२. हलः श्नः शानज्झौ (३।१।८३) से शानच् आदेश। अतो हेः (६।४।१०५) से हि का लुक्। १३. यासुट् के कित् (३।४।१०४) होने से न लोप।

अश भोजने=भोजन करना। अश्नाति, अश्नीतः अश्नन्ति । आश[1], आशतुः, आशुः, आशिथ । अशिता, अशिष्यति । अश्नातु, अशान[2] अश्नात् । अश्नीयात् । अश्यात् । आशीत् । आशिष्यत् ।

अथ उभयतोभाषः

ग्रह उपादाने=लेना। यह धातु सेट् उभयपदी है। गृह्णाति, ग्रहिज्यावयि० (६।१।१६) से सम्प्रसारण, गृह्णीते । जग्राह[3], जगृहतुः, जगृहुः, जग्रहिथ, जगृहिव, जगृहे । गृह+इ+ता—

ग्रहोऽलिटि दीर्घः (७।२।३७)—एकाच् ,ग्रह धातु से विहित जो इट् उसको दीर्घ होवे; परन्तु लिट् परे न हो तो । ग्रहीतासि; ग्रहीतासे । लिट् में निषेध होने से ऊपर 'जग्रहिथ' आदि में दीर्घ नहीं हुआ । ग्रहीष्यति; ग्रहीष्यते । गृह्णातु, गृहाण, गृह्णीताम् । अगृह्णात्, अगृह्णीत । गृह्णीयात्, गृह्णीत । गृह्यात्, ग्रहीषीष्ट । अग्रहीत्[4], अग्रहीष्टाम्, अग्रहीष्ट, अग्रहीषाताम्, अग्रहीषत । अग्रहीष्यत्, अग्रहीष्यत ॥ इति क्र्यादिगण समाप्त ॥

चुरादि-गण

चुर स्तेये=चोरी करना। चुर्—

सत्यापपाशरूपवीणातूलश्लोकसेनालोमत्वचवर्मवर्णचूर्णचुरादिभ्यो णिच् (३।१।२५)—सत्याप, पाश, रूप, वीणा, तूल, श्लोक, सेना, लोम, त्वच, वर्म, वर्ण, चूर्ण सुबन्तों, और चुरादि धातुओं से णिच् प्रत्यय होवे । सत्याप आदि चूर्ण पर्यन्त प्रातिपदिकों का वर्णन नामधातु प्रक्रिया में करेंगे । चुरादि धातुओं से स्वार्थ में णिच् होता है । णिच् होकर—चुर्+ णिच्, लघूपध गुण होकर= चोरि—

सनाद्यन्ता धातवः (३।१।३२)—सन् आदि प्रत्यय जिनके अन्त में हों, उनकी धातु संज्ञा होती है। इससे 'चोरि' की धातु संज्ञा होकर—धातोः (३।१।९१) के अधिकार में पूर्ववत् लट् आदि प्रत्यय आते हैं। चोरि+ लट्—

---

१. अत आदेः (७।४।७०) से अभ्यास को दीर्घ ।
२. हलः श्नः शानज्झौ (३।१।८३) से शानच्, पूर्ववत् हि लुक् ।
३. लिट्यभ्यासस्योभयेषाम् (६।१।१७) से अभ्यास को सम्प्रसारण ।
४. ह्यन्तक्षण० (७।२।५) से वृद्धि-निषेध ।

णिचश्च (१।३।७४)—क्रिया का फल कर्त्ता के लिये (कर्तृगामी) हो, तो णिजन्त धातु से आत्मनेपद होता है। क्रिया का फल अन्य के लिये (अकर्तृगामी) होने पर **शेषात् कर्तरि परस्मैपदम्** (१।३।७८) से परस्मैपद होता है। इस प्रकार णिजन्त धातुएं प्रायः उभयपदी होती हैं। चोरि शप् तिप्; यहां गुण और अय् आदेश होकर=चोरयति, चोरयते। चोरि लिट्—इस अवस्था में—

कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि (३।१।३५)—कास धातु और [सनादि] प्रत्ययान्त धातुओं से लिट् परे रहने पर आम् प्रत्यय होता है। चोरि आम् लिट्, इस अवस्था में णेरनिटि (६।४।५१) से णि का लोप प्राप्त होता है। उसका बाधक—

अयामन्ताल्वाय्येत्न्विष्णुषु (६।४।५५)—आम् अन्त आलु आय्य इत्नु इष्णुच् आर्धधातुक प्रत्यय परे रहने पर णि को अय् आदेश होता है। चोर् अय् आम् लिट्, इसके आगे सब कार्य 'एध' धातु के समान होकर—चोरयाञ्चकार, चोरयाञ्चक्रे; चोरयामास, चोरयाम्बभूव। चोरयितासि, चोरयितासे। चोरयिष्यति, चोरयिष्यते। चोरयतु, चोरयताम्। अचोरयत्, अचोरयत। चोरयेत्, चोरयेत। आशिषि लिङ् में—चोरि यासुट् तिप्, आशिषि लिङ् के आर्धधातुक लिङाशिषि (३।४।११६) से होने से णि लोप णेरनिटि (६।४।५१) से होकर—चोर्यात्, चोरयिषीष्ट। चोरि इ लुङ्—

णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्त्तरि चङ् (३।१।४८)—ण्यन्त, श्रि, द्रु, स्रु धातुओं से कर्ता में लुङ् परे च्लि के स्थान में चङ् होता है। चोरि चङ् तिप्=चोरि अ तिप्, पूर्ववत् णिलोप होकर—

णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः (७।४।१)—चङ् परे है जिस णि के उसके परे अङ्ग की उपधा को ह्रस्व होता है। इससे उपधा (चोर् में ओ) को ह्रस्व (उ) होकर—चुर् अ अति—

चङि (६।१।११)—चङ् परे धातु के प्रथम एकाच् को और अजादि धातु के द्वितीय एकाच् को द्विर्वचन होता है। चुर् चुर् अ ति—अभ्यास संज्ञा और हलादि शेषः (७।४।६०) से र् का लोप होकर—

सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे (७।४।९३)—चङ्परक लघु अक्षर परे रहने पर अभ्यास को सन्वत् कार्य होता है, अक् का जिस में लोप हुआ हो उसको छोड़कर। इस सूत्र से इस धातु में तो विशेष कार्य नहीं होता; परन्तु अकारोपध धातुओं में अभ्यास को सन्वत् कार्य होने से **सन्यतः**

(७।४।७९) से अभ्यास में अकार को इकार हो जाता है। यथा—पिपठ अत्। अब—चु चुर् अ ति, इस अवस्था में—

दीर्घो लघोः (७।४।९४)—चङ् परे है जिसके ऐसे लघु अक्षर के परे रहने पर अभ्यास के लघु अक्षर को दीर्घ हो जाता है। चू चुर् अ ति अट् का आगम और इकार लोप होकर—अचूचुरत्। आत्मनेपद में—अचूचुरत। अचोरिष्यत्, अचोरयिष्यत।

चिति स्मृत्याम्=स्मरण करना, विचार करना। इदित् होने से नुम्—चिन्त् इ अ ति=चिन्तयति, चिन्तयते। चिन्तयाञ्चकार, चिन्तयाञ्चक्रे, चिन्तयामास, चिन्तयाम्बभूव। चिन्तयितासि, चिन्तयितासे। चिन्तयिष्यति, चिन्तयिष्यते। चिन्तयतु, चिन्तयताम्। चिन्तयेत्, चिन्तयेत। चिन्त्यात्, चिन्तयिषीष्ट। लुङ् में—चिन्त् चिन्त् अ तिप्—चि चिन्त् अ तिप् यहां अभ्यास से परे चिन्त् में इकार न् त् के संयोग के कारण गुरु होने से दीर्घो लघोः (७।४। ९४) से दीर्घ नहीं होता—अचिचिन्तत्, अचिचिन्तत। अचिन्तयिष्यत्, अचिन्तयिष्यत।

[1]विशेष—'चिति' को इदित् न पढ़कर 'चिन्त' सनकार पाठ करने पर भी णिजन्त के सभी रूप ठीक प्रकार से बन जाते हैं। आशिषि लिङ् में भी—चिन्त् इ यासुट् तिप् इस अवस्था में जो यासुट् को मानकर णि का लोप (६।४।५१ से) होता है, उसके असिद्धवदत्राभात् (६।४।२२) सूत्र से असिद्ध हो जाने अथवा परनिमित्तक जो णि का लोप है, उसके इकार को अचः परस्मिन् पूर्वविधौ (१।१।५६) से पूर्व न का अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति (६।४।२४) से लोप करने में स्थानिवत् हो जाने से अङ्ग की उपधा में नकार नहीं रहता, अतः न लोप प्राप्त ही नहीं होता। ऐसी अवस्था में इदित् करना व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि इदित् धातुओं से णिच् विकल्प से होता है। णिच् के अभाव में भ्वादिगण के समान रूप चलते हैं—चिन्तति; चिचिन्त, चिचिन्ततुः; चिन्तिता आदि। आशिषि लिङ् में यासुट् के कित् होने से जो उपधा के नकार का लोप प्राप्त होता है, वह धातु के इदित् होने से नहीं होता। क्योंकि सूत्र में अनिदिताम्० (६।४।२४) कहा है। यहां णिच् के अभाव पक्ष में इदित्करण सार्थक हो जाता है—चिन्त्यात्। अचिन्तीत्, अचिन्तिष्यत्।

भक्ष अदने=खाना। भक्षयति, भक्षयते। भक्षयाञ्चकार, भक्षयाञ्चक्रे,

---

१. यह अगला अंश अध्यापक छोड़ना चाहें तो छोड़ सकते हैं।

भक्षयामास, भक्षयाम्बभूव । अबभक्षत् अभ्यास से परे लघु अक्षर न होने से सन्वद्भाव और दीर्घत्व नहीं होता।

लुण्ठ स्तेये = लूटना। लुण्ठयति, लुण्ठयते। अलुलुण्ठत्, अलुलुण्ठत।

मण्डि भूषायाम् = सुशोभित करना। मण्डयति, मण्डयते। अममण्डत्, अममण्डत।

छर्द वमने = उल्टी करना। छर्दयति, छर्दयते। अचच्छर्दत्, अचच्छर्दत।

पूज पूजायाम् = पूजा (सत्कार) करना। पूजयति, पूजयते। उपधा को ह्रस्व और अभ्यास को दीर्घ होकर—अपूपुजत्, अपूपुजत।

अथ आत्मनेभाषाः

आ कुस्माद् आत्मनेपदिनः = कुस्म धातुपर्यन्त धातुएं आत्मनेपदी हैं। यह अधिकार है। णिचश्च (१।३।७४) सूत्र से णिजन्त धातु से कर्त्रभिप्राय में आत्मनेपद और अकर्त्रभिप्राय में परस्मैपद होता है, यह पूर्व चर स्तेये धातु पर कह चुके हैं। यह उस सामान्य नियम का अपवाद है। इनसे कर्त्रभिप्राय और अकर्त्रभिप्राय दोनों में आत्मनेपद ही होता है।

चित संचेतने = ज्ञान करना, चेतना प्राप्त करना। चेतयते; चेतयाञ्चक्रे, चेतयामास, चेतयाम्बभूव; चेतयितासे, चेतयिष्यते, चेतयताम्, अचेतयत, चेतयेत, चेतयिषीष्ट, अचीचितत, अचेतयिष्यत।

तर्ज भर्त्स संतर्जने = भर्त्सना, झिड़कना। तर्जयते, अततर्जत। भर्त्सयते, अबभर्त्सत।

यक्ष पूजायाम् = सत्कार करना। यक्षयते, अययक्षत। महद् यक्षं भुवनस्य मध्ये (अथर्व १०।७।३८) महत्पूजनीयमित्यर्थः, ब्रह्म इति भावः। केनोपनिषद् में यक्ष शब्द जीवात्मा और परमात्मा दोनों के लिये प्रयुक्त हुआ है। इत्यात्मनेपदिनः।

चर्च अध्ययने = पढ़ना। चर्चयति, चर्चयते। अचचर्चत्, अचचर्चत। यह धातु पद को पृथक्-पृथक् करके पढ़ने अर्थ में प्रयुक्त होती है। चर्चा-पाठ संहिता के पदपाठ के लिये प्रयुक्त होता है।

विभाषित णिजन्त

आधृषाद् वा = धृष धातु पर्यन्त णिच् विकल्प से होता है।

अर्च पूजायाम् = सत्कार करना। अर्चयति, अर्चयते। आर्चिचत्,

आर्चिचत, यहां अजादेर्द्वितीयस्य (६।१।२) से द्वितीय एकाच् 'र्च' के अन्तर्गत रेफ को भी द्विर्वचन प्राप्त होता है। उसका नन्द्राः संयोगादयः (६।१।३) सूत्र से संयोग के आदि में वर्तमान न् द् र् को द्विर्वचन का निषेध हो जाने पर द्विर्वचनेऽचि (१।१।५८) से द्विर्वचननिमित्तक अच् (चङ्) परे अजादेश=णिलोप द्विर्वचनमात्र करने में स्थानिरूप होकर 'चि' को द्विर्वचन होता है।

तप दाहे=जलना, जलाना। तापयति, तापयते। अतीतपत्, अतीतपत। णिजभाव में—तपति; ततापु, तेपतुः, तेपुः; अताप्सीत्।

छद संवरणे=ढांकना। छादयति, छादयते। अचिच्छदत्, अचिच्छदत। णिजभाव में—छदति, चच्छाद, अच्छदीत्, अच्छादीत्।

कथ वाक्यप्रबन्धे=कहना, कथन करना।

अथादन्ताः—यहां से आगे पढ़ी गई धातुएं अदन्त हैं, अर्थात् इनका अकार इत्संज्ञक नहीं होता। अदन्त होने से 'कथ इ शप् तिप्' यहां णिच् परे अतो लोपः (६।४।४८) से अकार का लोप होता है। 'कथ्' ऐसा बन जाने पर अत उपधायाः (७।२।११६) से जो वृद्धि प्राप्त होती है, वह अकार के स्थानिवद्भाव (१।१।५६) से नहीं होती=कथयति। लुङ् में—कथ इ अ तिप्—द्विर्वचन होकर—च कथ् अ त्, अग्लोपी धातुओं को सन्वद्भाव का निषेध (७।४।९३ से) होने से न सन्वद्भाव होता है, और न ही दीर्घत्व=अचकथत्, अचकथत। यही वैशिष्ट्य सभी अदन्त धातुओं में जानना चाहिये।

गण संख्याने=गिनती करना। गणयति, गणयते। अ गण इ तिप्—ई च गणः (७।४।९७)—गण धातु के अभ्यास को चङ् परे ईकार और अकार आदेश होता है। अजीगणत्, अजीगणत; अजगणत्, अजगणत।

कुमार क्रीडायाम्=खेलना। कुमारयति, ते[1]। अचुकुमारत्, त।

ध्वन शब्दे=शब्द करना। ध्वनयति, ते। अदध्वनत्, त।

आगर्वादात्मनेपदिनः—यहां से गर्व धातु तक आत्मनेपदी धातु हैं।

मृग अन्वेषणे=ढूंढना। मृगयते। अकारलोप के स्थानिवत् होने से लघूपध गुण नहीं होता। अममृगत।

शूर वीर विक्रान्तौ=शूरयते। अशुशूरत। वीरयते। अविवीरत।

१. इस से यहां तथा आगे आत्मनेपद का रूप समझें।

मूत्र प्रस्रवणे = पेशाब करना । मूत्रयति, ते । अमूमूत्रत्, त ।

संग्राम[1] युद्धे = लड़ना । संग्रामयते । असंग्रामयत । असंसंग्रामत । असंग्रामयिष्यत ।

दण्ड दण्डनिपातने = दण्ड देना । दण्डयति, ते । अददण्डत्, त ।

सुख दुःख तत्क्रियायाम् = सुख दुःख देना । सुखयति, ते । असुसुखत्, त । दुःखयति, ते । अदुदुःखत्, त ।

बहुलमेतन्निदर्शनम्—धातुपाठ में धातुओं का जो निदर्शन = पाठ किया है, वह प्रायिक है। इसलिये कहीं धातुपाठ में न पढ़ी धातु दिखाई पड़े, तो उसका भी प्रयोग के अनुसार उस-उस गण में पाठ जान लेना चाहिये। जैसे—शिव कल्याणे (सत्यार्थप्रकाश—समु० १ में) शिवयति, ते। ढुढि अन्वेषणे—ढुण्ढति ॥ इति चुरादिगण-समाप्त ॥

चतुर्दश-प्रकरण

णिजन्त-सनन्त-यङन्त-यङ्लुगन्त-नामधातु-प्रक्रिया

णिजन्त-प्रक्रिया

अब णिजन्त -प्रक्रिया का विधान करते हैं। 'णिच्' प्रत्यय किसी को किसी कार्य के लिये प्रेरित करने के अर्थ में होता है। यथा—

तत्प्रयोजको हेतुश्च—(१।४।५५) उस = स्वतन्त्र को, धात्वर्थ = क्रिया को करने के लिये प्रयोजक = प्रेरणा देनेवाले का नाम हेतु व कर्ता होता है।

हेतुमति च (३।१।२६)—प्रयोजक के व्यापार को कहने में णिच् प्रत्यय होता है। जैसे—देवदत्तः पचति, तं देवदत्तं पक्तुं प्रेरयति यज्ञदत्तः = पच् + णिच् । णिचश्च (१।३।७४) से णिजन्त से कर्त्रभिप्राय गम्यमान होने पर आत्मनेपद होता है, और अकर्त्रभिप्राय में परस्मैपद। यथा—पाचयति,

१. 'संग्राम' धातु को अनुदात्तेत् माना जाता है।

पाचयते । 'पाचयते' का अर्थ होगा—अपने लिये ओदन आदि पकवाता है= पकाने की प्रेरणा करता है।

भू सत्तायाम्—भू+णिच्, **अचोऽञ्णिति** (७।२।११५) से वृद्धि और आवादेश=भावि, इस अवस्था में णिजन्त की धातु संज्ञा, शप्-तिप् आदि । सब कार्य चुरादि से विहित णिच् के समान जानने चाहियें=भावयति, ते । भावयांचकार, भावयामास, भावयांबभूव । भावयिता, भावयिष्यति, भावयतु, अभावयत्, भावयेत्, भाव्यात् (णिलोप¹), अबीभवत्, त (पूर्ववत् द्विर्वचनादि कार्य)। अभावयिष्यत् ।

एध वृद्धौ—एधयति, ते । लुङ्—एध इ, अ तिप्—एधि अ त्—इधि अ त् (ह्रस्वत्व²), द्विर्वचन करने में णि-लोप (द्विर्वचनेऽचि) से स्थानिरूप होकर 'इधि' रूप को प्राप्त होता है । तब अजादेर्द्वितीयस्य (६।१।२) से द्वितीय एकाच् धि रूप में द्विर्वचन प्राप्त होता है । और द्विर्वचन करते ही स्थानिरूप से उपस्थित इकार द्वितीय 'धि' में से हट जाता है । अभ्यास को जश् होकर—इ दि ध् अत्, आ इदि धत्=ऐदिधत्, ऐदिधत ।

धृञ् धारणे—धारयति, ते । धारि अ त्—धार् अ त्—धर् अ त्—दधर अ त्—दिधर अ त्—दीधर् अत्=अदीधरत्, त ।

डुपचष् पाके पाचयति, ते । अपीपचत्, त ।

यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु - याजयति, ते । अयीयजत्, त ।

डुधाञ् धारणपोषणयोः—धा+णिच्—

अर्तिह्रीव्लीरीक्नूयीक्ष्माय्यातां पुङ्णौ (७।३।३६)—णिच् परे रहने पर ऋ ह्री व्ली री क्नूयी क्ष्मायी और आकारान्त अङ्ग को पुक् का आगम होता है । कित् होने से 'धा' के आगे पुक् हुआ । धा पुक् णिच्—धापि= धापयति, धापयते । शेष लकारों में पूर्ववत् । लुङ् में—अदीधपत्, यहां चङ्, णिलोप, उपधा ह्रस्वत्व, द्विर्वचन, सन्वद्भाव से इत्व । दीर्घो लघोः (७।४।९४) से दीर्घत्व पूर्ववत्=अदीधपत् । इसी प्रकार सभी आकारान्तों के णिच् में रूप होंगे ।

पा पाने—इसे पुक् के स्थान में—

शाच्छासाह्वाव्यावेपां युक् (७।३।३७)—शा, छा, सा, ह्वा, व्या, वेञ्, पा

१. णेरनिटि (६।४।५१) से ।

२. णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः (७।४।१) से ह्रस्वत्व, ए के स्थान पर एच इग्घ्रस्वादेशे (१।१।४७) सूत्र से इ ।

को णिच् परे युक् का आगम होता है। पा युक् णिच् = पाययति, ते। लुङ् में—पा य् इ अ (चङ्) ति, णिच् का लोप होकर—

लोपः पिबतेरीच्चाभ्यासस्य (७।४।४)—पिबति धातु की उपधा का चङ् परे है जिस णिच् के उस का लोप होता है और अभ्यास को ईकारादेश होता है। प् य् अ त्—आकार लोप स्थानिवत् होकर 'पा' रूप में द्विर्वचन होता है—पा प्य् अ त्, अभ्यास को ईकारादेश होकर—अपीप्यत्, अपीप्यताम्; अपीप्यत, अपीप्येताम्। यहाँ 'पा' के निर्देश से पा पाने का ही ग्रहण होता है।

पा रक्षणे—यहां पा णिच्—

पातेर्लुग्वक्तव्यः (वा० ७।३।३७) से लुक् का आगम होता है। पा लुक् णिच् = पालयति, पालयते; अपीपलत्, अपीपलत।

धेट् पाने—आदि एकारान्त धातुओं में णिच् परे पहले आदेच उपदेशेऽशिति (६।१।४४) से आत्व। पुनः अर्तिह्री० (७।३।३६) से पुक् होकर—धापयति, अदीधपत्; धापयते, अदीधपत।

इसी प्रकार सभी गणों की धातुओं के णिच् में प्रयोग जानने चाहियें। परन्तु घटादयो मितः (पूर्व पृष्ठ २५४) सूत्र से घटादिगण में पढ़ी हुई धातुओं की मित् संज्ञा होने से—घट् + णिच् = घाट् इ, इस अवस्था में—

मितां ह्रस्वः (६।४।९२) (अनु०—णौ उपधायाः) मित् संज्ञक अङ्ग की उपधा को णिच् परे ह्रस्व होता है। ह्रस्व होकर—घट् इ अति = घटयति, घटयते। अजीघटत्, अजीघटत।

इसी प्रकार जनी जनने, और गम्लृ गतौ आदि अमन्ता की जनीजृष्क्नसुरञ्जोऽमन्ताश्च (पूर्व पृष्ठ २५४) सूत्र से मित् संज्ञा होकर—जनयति, जनयते, अजीजनत्, अजीजनत। गमयति, गमयते, अजीगमत्, अजीगमत।

चल कम्पने (पूर्व पृष्ठ २५४) से चल धातु की कम्पन अर्थ में मित् संज्ञा होकर—चलयति शाखाम् (= शाखा को हिलाता है)। कम्पन से अन्यार्थ में—चालयति। पिषाणं चलन्यां चालयति (= आटे को चलनी से छानता है)।

॥ इति णिजन्त-प्रक्रिया ॥

सनन्त प्रक्रिया

भू सत्तायाम्—आदि सभी धातुओं से इच्छा अर्थ में सन् होता है।

धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा (३।१।७)—जो धातु इच्

(=इच्छार्थक) धातु का कर्म हो, और इष धातु के साथ समान कर्तावाली हो, उस से इच्छा अर्थ में विकल्प से सन् प्रत्यय होता है। जैसे—भवितुम् इच्छति देवदत्तः (=देवदत्त होना चाहता है) इस अर्थ में भू धातु इष धातु का कर्म है, और भू तथा इष धातुओं का कर्ता देवदत्त एक ही है। वही होने की इच्छा करता है, और वही होता है। अतः भू से सन् प्रत्यय—भू+सन्। भू धातु उदात्त होने से सेट् है, परन्तु सन् परे रहने पर—

सनि ग्रहगुहोश्च (७।२।१२)—(अनु०—न इट् उकः)। ग्रह गुह और उगन्त धातुओं से सन् परे इट् नहीं होता। भू के उगन्त होने से **आर्धधातुकस्येड् वलादेः** (७।२।३५) से होनेवाला इट् सन् परे नहीं हुआ। भू स, **सनाद्यन्ता धातवः** (३।१।३२) से धातुसंज्ञा होकर—

इको झल् (१।२।९)—(अनु०—सन् कित्)। इगन्त से परे झलादि सन् कित् होता है। इससे सन् के कित् होने से गुण का निषेध हो जाता है। भू स, इस अवस्था में—

सन्यङोः (६।१।९)—सनन्त यङन्त धातुओं के प्रथम एकाच् को द्विर्वचन होता है, और अजादि के द्वितीय एकाच् को। इससे द्विर्वचन होकर—भू भू स, अभ्यास संज्ञा, अभ्यास को ह्रस्वत्व, तथा **अभ्यासे चर्च** (८।४।५३) से जश् (भ को ब) होकर=बुभूस, अब **आदेशप्रत्यययोः** (८।३।५९) से षत्व=बुभूष। आगे सामान्यरूप से लट् आदि प्रत्यय होकर—बुभूष अति=बुभूषति। बुभूषाञ्चकार, बुभूषामास, बुभूषाम्बभूव, पूर्ववत् आम् कृ भू अस् का अनुप्रयोग। बुभूषिता, बुभूषिष्यति आदि में **अतो लोपः** (६।४।४८) से सन् के अकार का लोप होता है। बुभूषतु, अबुभूषत्, बुभूषेत्। बुभूष्यात्, आशीर्लिङ् के आर्धधातुक होने से अकार-लोप। अ-बुभूष इट् सन् ईट् त, **इट ईटि** (८।२।२८) से सकार-लोप, सवर्ण दीर्घ होकर=अबुभूषीत्, अबुभूषिष्टाम्, अबुभूषिषुः, **सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च** (३।४।१०९) से 'झि' को जुस्। अबुभूषिष्यत्।

एध वृद्धौ—एधितुम् इच्छति—एध सन्, इडागम=एधिस। अजादि होने से द्वितीय एकाच् को द्विर्वचन=एधिधिस=एदिधिस, पूर्ववत् अभ्यास को जश्त्व, और स को षत्व होकर=एदिधिष+लट्—

पूर्ववत् सनः (१।३।६२)—सनन्त धातुओं से पूर्ववत् (जिस धातु से जिस निमित्त के कारण आत्मनेपद हुआ हो उसी प्रकार) आत्मनेपद होवे। एध धातु अनुदात्तेत् होने से आत्मनेपदी है, अतः इसके सनन्त रूप से भी आत्मनेपद ही होकर—एदिधिष अ ते=एदिधिषते।

एदिधिष आम् कृ लिट्, इस अवस्था में—आम्प्रत्ययवत्कृञोऽनुप्रयोगस्य (१।३।६३) से आत्मनेपद होता है (व्याख्या पृष्ठ २३९)। इस से अनुप्रयोग-वाची कृञ् धातु से आत्मनेपद होता है। एदिधिषाञ्चक्रे, एदिधिषांचक्राते, एदिधिषांचक्रिरे; एदिधिषामास, एदिधिषांबभूव। एदिधिषितासे, एदिधिषिष्यते, एदिधिषताम्; (आट्+ए=ऐ) ऐदिधिषत, एदिधिषेत, एदिधिषिषीष्ट, ऐदिधिषिष्ट, ऐदिधिषिष्यत।

पठ व्यक्तायां वाचि (परस्मैपदी सेट्)—अभ्यास में आदि हल् का शेष (अनादि ठ् का लोप), और सन्यतः (७।४।७९) से अकार को इकार होकर=पिपठिषति; पिपठिषाञ्चकार, पिपठिषामास, पिपठिषांबभूव; पिपठिषिता, पिपठिषिष्यति, पिपठिषतु, अपिपठिषत्, पिपठिषेत्, पिपठिष्यात्, अपिपठिषीत्, अपिपठिषिष्टाम्, अपिपठिषिषुः, अपिपठिषिष्यत्।

गम्लृ गतौ—यह धातु अनिट् है। परन्तु सन् परे—

गमेरिट् परस्मैपदेषु (७।२।५८)—गम धातु से परे सकारादि प्रत्यय को इट् का आगम होता है, परस्मैपद में। इस से इट् और, कुहोश्चुः (७।४।६२) से चुत्व; तथा अकार को इकार होकर=जिगमिषति आदि पठ के समान रूप बनते हैं।

यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु—स्वरितेत् उभयपदी अनिट्। यज् सन्—यज् यज् सन्—ययज् सन्—यियज् स। चोः कुः (८।२।३०) से कुत्व ज्=ग्, खरि च (८।४।५४) से चर्—क्, आदेशप्रत्यययोः (८।३।५९) से षत्व=यियक्ष। यज् से कर्त्रभिप्राय में आत्मनेपद का विधान होने से सनन्त से भी पूर्ववत् सनः (१।३।६२) के नियम से कर्त्रभिप्राय में आत्मनेपद और अकर्त्रभिप्राय में परस्मैपद होता है। यियक्षते, यियक्षति। इसी प्रकार अन्य पूर्ववत् दोनों पदों के रूप जानें।

डुपचष् पाके—स्वरितेत् अनिट्। पिपक्षते, पिपक्षति।

णीञ् प्रापणे—उभयपदी अनिट्। निनीषते, निनीषति।

डुकृञ् करणे—उभयपदी अनिट्। कृ स, इको झल् (१।२।९) से सन् कित्, गुण का अभाव।

अज्झनगमां सनि (६।४।१६)—(अङ्ग० झलि दीर्घः) अजन्त हन् और गम अङ्ग को झलादि सन् परे दीर्घ होता है। इससे दीर्घ होकर—कॄ स्—

ॠत इद् धातोः (७।१।१००)—दीर्घ ॠकारान्त धातु को इत्

(इकार) आदेश होता है। ऋ के स्थान पर होने से उरण् रपरः (१।१।५०) से रपर होकर—किर् स। पुनः द्विर्वचन, अभ्यास को कुहोश्चुः (७।४।६२) से चुत्व, और हलि च (८।२।७७) से दीर्घ होकर—चिकीर्स, षत्व = चिकीर्ष। आगे इसके रूप दोनों पदों में—चिकीर्षति, चिकीर्षते आदि पूर्ववत्।

हन हिंसागत्योः—अनिट् परस्मैपदी। हन स। **अज्झनगमां सनि** (६।४।१६) से दीर्घ = हान् स। द्विर्वचन, अभ्यास को कुहोश्चुः (७।४।६२) से चुत्व, और इत्व होकर—जिहान् स। **अभ्यासाच्च** (७।३।५५) से अभ्यास से उत्तर हन् के हकार को कुत्व, **स्थानेऽन्तरतमः** (१।१।४९) से अन्तरतम घ होकर—जिघान् स। **नश्चापदान्तस्य झलि** (८।३।२४) से नकार को अनुस्वार होकर—'जिघांस' धातु बनती है। आगे इसके रूप जिघांसति, जिघांसांचकार, जिघांसामास, जिघांसांबभूव, इत्यादि पूर्ववत् समझें।

अद भक्षणे—परस्मैपदी अनिट्। अद् सन्।

लुङ्सनोर्घस्लृ (२।४।३७)—लुङ् और सन् के विषय में अद् धातु को घस्लृ (=घस्) आदेश होता है। घस् स—घस् घस् स—जिघस् स। **सः स्यार्धधातुके** (७।४।४९) से सकार को तकार होकर=जिघत्सति।

ग्रह उपादाने—स्वरितेत् उभयपदी सेट्। ग्रह् स—इट् का आगम प्राप्त होने पर **सनि ग्रहगुहोश्च** (७-२।१२) से सन् के परे इट् का निषेध हो जाता है। पुनः—

रुदविदमुषग्रहिस्वपिप्रच्छः संश्च (१।२।८)—रुद विद मुष ग्रहि स्वपि प्रच्छ धातुओं से परे क्त्वा और सन् कित् होता है। इस से सन् के कित् होने पर **ग्रहिज्यावयि॰** (६।१।१६) से सम्प्रसारण हो जाता है—गृह् स। द्विर्वचन चुत्व होकर—जृ गृह् स, इस अवस्था में—

उरत् (७।४।६६)—अभ्यास में वर्तमान ऋ को अकारादेश होता है। अकार रपर होकर—जर् गृह् स। पुनः—**हलादिः शेषः** (७।४।६०) से 'र्' की निवृत्ति, और अभ्यास के अकार को इकार होकर—जिगृह् स। **हो ढः** (८।२।३१) से ह् को ढ्, **एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः** (८।२।३७) से ग को घ, **षढोः कः सि** (८।२।४१) से ढ को क, और सन् के सकार को मूर्धन्य होकर जिघृक्ष = जिघृक्षति, जिघृक्षते। जिघृक्षांचकार, जिघृक्षांचक्रे ॥

इति सनन्त-प्रक्रिया ॥

यङन्त-प्रक्रिया

भू सत्तायाम्— धातु संज्ञा होकर पुनः पुनः भवति इस अर्थ में—

धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ् (३।१।२२)—क्रिया के बार-बार शीघ्र वा निरन्तर अर्थ में हलादि एकाच् धातुओं से यङ् प्रत्यय होवे। पूर्ववत् गुण का अभाव और द्वित्व होकर—भू भू य = बु भू य, इस अवस्था में—

गुणो यङ्लुकोः (७।४।८२)—यङ् और यङ्-लुक् परे हो, तो अङ्ग के इगन्त अभ्यास को गुणादेश हो। बोभूय की धातु संज्ञा होकर—पुनः पुनः भवतीति = बोभूयते; बोभूयांचक्रे, बोभूयांबभूव, बोभूयामास; बोभूयिता; बोभूयिष्यते; बोभूयताम्; अबोभूयत; बोभूयेत; बोभूयिषीष्ट; अबोभूयिष्ट; अबोभूयिष्यत।

यङ्-विधायक सूत्र में एकाच् का ग्रहण होने से जागृ निद्राक्षये आदि अनेकाच् धातुओं से, तथा हलादि ग्रहण से अजादि धातुओं से यङ् प्रत्यय नहीं होता है। यङ् के न होने पर यङ्-लुक् के रूप भी नहीं होते। अतः यङ् और यङ्-लुक् के रूप केवल हलादि एकाच् धातुओं से ही होते हैं।

डुपचष् पाके—पच् यङ्, धातुसंज्ञा और द्विर्वचन, तथा अभ्यास के अनादि हल् का लोप होकर—प पच् य, इस अवस्था में—

दीर्घोऽकितः (७।४।८३)—अकित् अभ्यास को दीर्घ होवे, यङ् यङ्-लुक् परे हो तो। दीर्घ होकर पापच्य, लट् प्रत्यय आकर—पापच्य शप् त = पापच्यते। पापच्य आम् चक्रे—

यस्य हलः (६।४।४९)—आर्धधातुकविषय में हल् से उत्तर 'य' (समुदाय) का लोप होवे। इससे 'य' का लोप होकर पापचाञ्चक्रे, पापचामास, पापचांबभूव। पापच्य इ ता—पूर्ववत् य लोप होकर—पापचिता, पापचिष्यते। पापच्यताम्, अपापच्यत, पापच्येत। पापचिषीष्ट, अपापचिष्ट, अपापचिष्यत।

अभ्यास में कुछ धातुओं को नीक् नुक् रिक् रीक् रुक् का विधान किया है उनको दीर्घ नहीं होता, अभ्यास के कित् होने से।

इसी प्रकार यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु; गद व्यक्तायां वाचि; पठ व्यक्तायां वाचि आदि अकारोपध धातुओं के रूप जानने चाहियें। "गद" में अभ्यास को चुत्व होकर—जागद्यते आदि रूप बनते हैं।

गम्लृ गतौ—गम् य—गम् गम् य=जागम्य, इस अवस्था में—

नुगतोऽनुनासिकान्तस्य (७।४।८५)—अनुनासिकान्त अङ्ग के अभ्यास को नुक् का आगम होवे। ज नुक् गम्य, **नश्चापदान्तस्य झलि** (८।३।२४) से न् को अनुस्वार, और **अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः** (८।४।५७) से परसवर्ण ङकार होकर=जङ्गम्यते। इसी प्रकार तन् का—तन्तन्यते, यम का—यम् यम्यते; परसवर्ण होने पर सानुनासिक यँ होता है।

हन हिंसागत्योः—हन् यङ्, इस अवस्था में **हन्तेर्हिंसायां यङि घ्नीभावो वक्तव्यः** (वा० ७।४।३०) से हिंसार्थ में घ्नीभाव होकर=जेघ्नीयते। हिंसा से अन्यत्र गति-अर्थ में—जङ्घन्यते, **अभ्यासाच्च** (७।३।५५) से अभ्यास से उत्तर 'ह' को कुत्व होकर 'घ' हो जाता है।

जप व्यक्तायां वाचि—जजप्य, इस अवस्था में **जपजभदहदशभञ्जपशां च** (७।४।८६)—जप जभ आदि अङ्गों के अभ्यास को नुक् का आगम होवे। ज नुक् जप्य—जन् जप्य=जञ्जप्यते। इसी प्रकार जञ्जभ्यते, दन्दह्यते, दन्दश्यते, बम्भज्यते, पम्पश्यते। दंश और भञ्ज धातु की उपधा में वर्तमान अनुनासिक का **अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति** (६।४।२४) से लोप हो जाता है।

पत्लृ गतौ, **पद गतौ**—पपत्य, पपद्य, इस अवस्था में—

नीग्वञ्चुस्रंसुध्वंसुभ्रंसुकसपतपदस्कन्दाम् (७।४।८४)—वञ्चु आदि धातुओं के अभ्यास को नीक् का आगम होवे। नीक् में क् की इत्संज्ञा लोप होकर=पनीपत्यते, पनीपद्यते। इसी प्रकार—वनीवच्यते, सनीस्रस्यते, दनीध्वस्यते, बनीभ्रस्यते, चनीस्कद्यते। अनुनासिकोपध के अनुनासिक का **अनिदितां०** (६।४।२४) से लोप, और स्कन्द के अभ्यास में **शर्पूर्वाः खयः** (७।४।६१) के नियम से 'क' शेष रहता है। उसको **कुहोश्चुः** (७।४।६२) से च हो जाता है।

डुकृञ् करणे—कृ यङ्, इस अवस्था में—

रीङ् ऋतः (७।४।२७)—कृत् और सार्वधातुक-भिन्न यकारादि प्रत्यय तथा च्वि परे हो, तो ह्रस्व ऋकारान्त अङ्ग को रीङ् आदेश होता है। रीङ् होकर—क्री य=चेक्रीयते। हृञ् हरणे—जेह्रीयते। धृञ् धारणे—देध्रीयते।

नृती गात्रविक्षेपे—नृत् य—नृ नृत् य, अभ्यास में उरत् (७।४।६६) से अत् होकर—न नृत् य, इस अवस्था में—

रीगृदुपधस्य च (७।४।९०)—ऋकारोपध अङ्ग के अभ्यास को रीक् आगम होवे, यङ् यङ्-लुक् परे हो तो। रीक् होकर—नरीनृत्यते। वृतु वर्तने—वरीवृत्यते। वृधु वर्धने—वरीवृध्यते॥ इति यङन्त-प्रक्रिया॥

यङ्-लुक्-प्रक्रिया

यङ्-लुक् के रूप उन्हीं एकाच् हलादि धातुओं में चलते हैं, जिनसे यङ् प्रत्यय होता है। भू यङ्, यङ् का लुक् निम्न सूत्र से होता है—

यङोऽचि च (२।४।७५)—अनु०—लुक्। यङ् का अच् प्रत्यय के परे और उससे अन्यत्र भी लुक् होता है। कई लोग इस सूत्र में पूर्व सूत्र से बहुलं छन्दसि पदों की अनुवृत्ति मानते हैं। और वे यङ्-लुक् का विधान छन्द में ही मानते हैं। अन्य व्याख्याकार सामान्यरूप से यङ् का लुक् स्वीकार करते हैं। दोनों ही अवस्था में यङ्-लुक् के रूप इस प्रकार बनते हैं—

यङ् का लुक् हो जाने पर प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् (१।१।६१) नियम से प्रत्यय-लक्षण मानकर धातुसंज्ञा, तथा सन्यङोः (६।१।९) से द्विर्वचन होकर—भू भू—बु भू, गुणो यङ्लुकोः (७।४।८२) से गुण होकर—'बोभू' धातु का स्वरूप बनता है। बोभू+लट्—

चर्करीतं च—यह सूत्र अदादिगण में परस्मैपदी धातुओं के साथ पढ़ा है (धातुपाठ पृष्ठ १७ कालम १)। चर्करीत यह पूर्वाचार्यों की यङ्-लुक् की संज्ञा है। अतः इस सूत्र का अर्थ होता है—चर्करीत=यङ्-लुक् धातुएं परस्मैपदी और अदादिगणवाली होती हैं। यङ् के ङित् होने से प्रत्यय-लक्षण मानकर जो आत्मनेपद प्राप्त होता था, उसको बाध कर परस्मैपद होता है। और अदादिगण के अन्तर्गत होने से शप् का लुक् हो जाता है। बोभू शप् तिप्=बोभू ति, इस अवस्था में—

यङो वा (७।३।९४)—अनु०—हलादौ पिति सार्वधातुके ईट्। यङ्-लुक् से परे हलादि पित् सार्वधातुक को ईट् का आगम विकल्प से होता है। यङन्त से परे अव्यवहित हलादि पित् सार्वधातुक नहीं मिलता, क्योंकि आत्मनेपद में पित् कोई हलादि प्रत्यय नहीं है। यह स्थिति यङ्-लुक् में शप् का लुक् और परस्मैपद का विधान होने से ही उपस्थित होती है। अतः सूत्र में पढ़े गये 'यङः' का अर्थ 'यङ्-लुकः' किया जाता है। बोभू ई ति, बोभू ति। तिप् को मानकर भू को गुण, और इट् परे अवादेश होकर= वीति- बोभोति।

४० तस् में ईट् और गुण नहीं होता—बोभूतः। बोभू झि—अदभ्यस्तात्—(७।१।४) से झि को अदादेश होकर—बोभू अति, यण् आदेश को बाधकर अचि श्नुधातुभ्रुवाम्० (६।४।७७) से उवङ्=बोभुवति। बोभवीषि-बोभोषि, बोभूथः, बोभूथ; बोभवीमि-बोभोमि, बोभूवः, बोभूमः। लिट्—बोभू, आम्—गुण अवादेश होकर—बोभवांचकार, बोभवामास, बोभवांबभूव। लुट्—बोभविता। लृट्—बोभविष्यति। लोट्—बोभवीतु-बोभोतु, तातङ् में ङित् होने से ईट् गुण नहीं होता—बोभूतात्, बोभूताम्, बोभुवतु; बोभवीषि-बोभोषि-बोभूतात्, बोभूतम्, बोभूत। उत्तम पुरुष के मिप् में आट का आगम[1] होने से ईट् नहीं होता, और उसके पित् होने से द्विवचन और बहुवचन में भी गुण हो जाता है=बोभवानि, बोभवाव, बोभवाम। लङ्—अबोभवीत्-अबोभोत्, अबोभूताम्, अबोभवुः, सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च (३।४।१०९) से जुस्, और जुसि च (७।३।८३) से गुण। अबोभवीः-अबोभोः, अबोभूतम्, अबोभूत; अबोभवम्, अबोभूव, अबोभूम।

विधिलिङ्—बोभूयात्, यासुट् के ङित् होने से ईट् का आगम नहीं होता। बोभूयाताम्, बोभूयुः; बोभूयाः, बोभूयातम्, बोभूयात; बोभूयाम्, बोभूयाव, बोभूयाम। आशीर्लिङ्—बोभूयात्, बोभूयास्ताम्, बोभूयासुः; बोभूयाः, बोभूयास्तम्, बोभूयास्त; बोभूयासम्, बोभूयास्व, बोभूयास्म। लुङ्—अबोभू सिच् त—

'प्रकृतिग्रहणे यङ्लुगन्तस्यापि ग्रहणं भवति' इस परिभाषा का आश्रयण करके गातिस्थाघुपाभूभ्यः० (२।४।७७) से सिच् का लुक्, और पूर्ववत् विकल्प से ईट्-पक्ष में—भुवो वुग् लुङ्लिटोः (६।४।८८) से वुक् का आगम होकर—अबोभूवीत्। पक्ष में—अबोभोत्। अबोभूताम्, अबोभूवन्; अबोभूवीः-अबोभोः, अबोभूतम्, अबोभूत; अबोभूवम्, अबोभूव, अबोभूम। लृङ्—अबोभविष्यत्, अबोभविष्यताम् आदि।

पठ व्यक्तायां वाचि—पठ्+यङ्, यङ् लुक्, द्विर्वचन और अभ्यास-दीर्घत्व होकर—'पापठ्' धातु बनती है। आगे विकल्प से ईट् होकर—पापठीति; पापठ्ति, ष्टुना ष्टुः (८।४।४०) से त को ट होकर, और ठ् को चर् ट होकर=पापट्टि-पापट्टः, पापठति; पापठीषि-पापट्सि, पापट्ठः, पापट्ठ; पापठीमि-पापठ्मि, पापठ्वः, पापठ्मः। पापठांचकार, पापठांबभूव, पापठामास। पापठिता; पापठिष्यति; पापठीतु-पापट्टु-पापट्टात्, पापट्टाम्, पापठतु; पापड्ढि-पापट्टात्, पापट्टम्, पापट्ट; पापठानि, पापठाव, पापठाम। अपाप-

१. आडुत्तमस्य पिच्च (३।४।९२) से।

ठीत्, अपापठ् त्, हल्ङ्याब्भ्यो० से तिप् का लोप, ठ का जश्त्व, और विकल्प से चर्त्व होकर—अपापट्-अपापड्, अपापट्टाम्, अपापठुः; अपापठीः-अपापट्-अपापड्, अपापट्टम्, अपापट्ट; अपापठम्, अपापठ्व, अपापठ्म। पापठ्यात्, पापठ्याताम्, पापठ्युः। पापठ्यात्, पापठ्यास्ताम्, पापठ्यासुः। अपापठीत्, अपापाठीत्, अपापठिष्टाम्, अपापठिषुः। अपापठिष्यत्।

डुपचष् पाके—इसके रूप भी पठ के समान समझें। यथा—पापचीति, पापक्ति, पापक्तः, पापचति आदि।

जप मानसे वाचि—इसके अभ्यास को **जपजभदहदश०** (७।४।८६) से नुक् का आगम होकर—जंजपीति-जंजप्ति, जंजप्तः, जंजपति।

पत्लृ गतौ, पद गतौ—इनके अभ्यास को **नीग्वञ्चुस्रंसुध्वंसु०** (७।४। ८४) से नीक् का आगम होकर—पनीपतीति-पनीपत्ति। पनीपदीति, पनीपत्ति आदि रूप बनते हैं।

विद ज्ञाने—उपधा को तिप् सिप् मिप् में ईट्-पक्ष में **नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके** (७।३।८७) से गुण का निषेध। ईडभाव-पक्ष में लघूपध गुण—वेविदीति-वेवेत्ति, वेवित्तः, वेविदति। लोट् सिप्—वेविद्धि।

तुद व्यथने—तोतुदीति-तोतोत्ति, तोतुत्तः, तोतुदति। **इति यङ्-लुक्-प्रक्रिया**॥

नाम-धातु-प्रक्रिया

'नाम-धातु' उनको कहते हैं, जो नाम=संज्ञावाचक शब्द क्रियाविशेष को द्योतित करने के लिये धातुरूप में परिणत कर लिये जाते हैं और उनसे लट् आदि लकारों के तिङन्त प्रयोग बनते हैं। नाम को धातु बनाने के लिये उनसे जो विशेष प्रत्यय जोड़े जाते हैं। वे निम्न हैं—

सुप आत्मनः क्यच् (३।१।८) —अनु०—**कर्मणः इच्छायां वा**। अर्थ— इष धातु का कर्म जो आत्मसम्बन्धी सुबन्त, उससे इच्छा अर्थ में विकल्प से क्यच् प्रत्यय होता है। जैसे—आत्मनः पुत्रमिच्छति—'पुत्र+अम्' इस सुबन्त से क्यच् होकर—पुत्र अम् य। **सनाद्यन्ता धातवः** (३।१।३२) से धातु संज्ञा होकर—**सुपो धातुप्रातिपदिकयोः** (२।४।७१) से धातुसंज्ञक 'पुत्र अम् य' समुदाय में वर्तमान अम् का लुक् होकर=पुत्र य—

क्यचि च (७।४।३३)—अनु०—**अस्य ई**। क्यच् परे रहने पर अदन्त अङ्ग को ईकार आदेश होता है। पुत्रीय, इस से लट् में शप् तिप

आकर—पुत्रीयति[1], पुत्रीयतः, पुत्रीयन्ति। पुत्रीयाञ्चकार, पुत्रीयामास, पुत्रीयाम्बभूव। पुत्रीयिता, अकार-लोप। पुत्रीयिष्यति, पुत्रीयतु, अपुत्रीयत, पुत्रीयेत्, पुत्रीय्यात्, पुत्रीय्यास्ताम्; अपुत्रीयीत्, अपुत्रीयिष्टाम्, अपुत्रीयिषुः; अपुत्रीयिष्यत्।

उपमानाद् आचारे (३।१।१०)—उपमानवाची सुबन्त कर्म से आचार=व्यवहार अर्थ में क्यच् प्रत्यय विकल्प से होता है यथा—पुत्रमिवाचरति छात्रम् (पुत्र के समान व्यवहार करता है छात्र के प्रति)=पुत्रीयति छात्रम्। प्रावारमिवाचरति कम्बलम् (चादर के समान व्यवहार में लेता है कम्बल को)=प्रावारीयति कम्बलम्।

कर्तुः क्यङ् सलोपश्च (३।१।११)—उपमानवाची कर्तृवाचक सुबन्त से आचार के अर्थ में क्यङ् प्रत्यय होता है, और यदि प्रातिपदिक के अन्त में 'स्' हो, तो उसका लोप हो जाता है। यथा—श्येन इवाचरति काकः=श्येनायते काकः। क्यङ् के ङित् होने से आत्मनेपद होता है। अप्सरा इवाचरति स्त्री=अप्सरायते स्त्री। अप्सरस् के सकार का लोप। आत्मनेपद होने पर इसके रूप 'एध' के समान चलेंगे।

नमोवरिवश्चित्रङः क्यच् (३।१।१९)—अनु०—करणे (क्रियार्थ)। नमस् वरिवस् चित्रङ् से क्रियाविशेष में क्यच् प्रत्यय होता है। नमस् से पूजार्थ में—नमस्यति देवान्। वरिवस् से परिचर्या (=सेवा) में—वरिवस्यति गुरून्। चित्रङ् से आश्चर्य में—चित्रीयते (=चकित होता है)। क्यच् होने से क्यचि च (७।४।३३) से ईकार। चित्र के साथ 'ङ्' इत्संज्ञक जोड़ने से आत्मनेपद होता है।

मुण्डमिश्रश्लक्ष्णलवणव्रतवस्त्रहलकलकृततूस्तेभ्यो णिच् (३।१।२१)—मुण्ड आदि शब्दों से करण=क्रिया अर्थ में णिच् होता है। णिच् होने से णिचश्च (१।३।७४) से कर्त्रभिप्राय क्रियाफल में आत्मनेपद, अन्यत्र परस्मैपद जानना चाहिये। मुण्डं करोति=मुण्डयते; मुण्डयति (=सिर के बाल काटता है। मिश्रयते, मिश्रयति (=मिलाता है)। श्लक्ष्णयते, ति (=चिकना करता है)। लवणयते, ति। व्रत' से भोजन और उसकी निवृत्ति में—पयो व्रतयते, ति (=दूध का ही सेवन करता है); वृषलान्नं व्रतयते, ति (वृषल=निन्दित पुरुष का अन्न छोड़ता है)। वस्त्रयते, ति (=कपड़ा पकड़ता है)। हलयते, ति (=हल पकड़ता है)। कलयते, कलयति (=कलियां

1. शेषात् कर्तरि परस्मैपदम् (१।३।७८) से परस्मैपद होता है।

तोड़ता है)। तुस्तयते=ति (=जटाओं को कंघी से साफ=पृथक्-पृथक् करता है)।

सर्वप्रातिपदिकेभ्य आचारे क्विब् वक्तव्यः (वा० ३।१।११)—सब प्रातिपदिकों से आचार अर्थ में क्विप् प्रत्यय होता है। अश्व इवाचरति—अश्व क्विप्, क्विप् की सारे का लोप हो जाता है=अश्वति; गर्दभ—गर्दभति; गो—गवति; नौ—नावति।

सर्वप्रातिपदिकेभ्यो लालसायां सुग्वक्तव्यः (वा० ३।१।११)—सभी प्रातिपदिकों से लालसा (=चाहना) अर्थ में क्यप् परे सुक् का आगम हो जाता है। जैसे—अश्वस्यति वडवा, लवणस्यति गौः, वृषस्यति गौः। मधुस्यति माणवकः॥ इति नाम-धातु-प्रक्रिया॥

इति णिजन्त-सन्नन्त-यङन्त-यङ्लुगन्त-नामधातुप्रक्रियाः

पंचदश-प्रकरण

भाव-कर्म-प्रक्रिया

(१) भाव-प्रक्रिया

—'भाव' नाम धात्वर्थ का है। जब क्रिया के द्वारा धात्वर्थ भाव का बोध करना इष्ट होता है, तब लकार (=लट् आदि) भाव अर्थ में आता है। भाव में लकार अकर्मक धातुओं से ही आता है। इसका विधायक सूत्र है—

लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः (३।४।६९)—लकार प्रत्यय सकर्मक धातुओं से कर्ता और कर्म में आते हैं, और अकर्मक धातुओं से कर्ता और भाव में। अकर्मक धातुओं का परिगणन पूर्वाचार्यों ने निम्न कारिका में किया है—

'लज्जासत्तास्थितिजागरणं वृद्धिक्षयभयजीवितमरणम्।
शयनक्रीडारुचिदीप्त्यर्थं धातुगणमकर्मकमाहुः॥'

अर्थात् लज्जा, सत्ता, ठहरना, जागना, बढ़ना, क्षीण होना, डरना, जीना,

मरना, सोना, खेलना, रुचिकर होना, दीप्त (=प्रकाशित) होना अर्थवाली धातुओं को आचार्य 'अकर्मक' कहते हैं।

जब लकार भाव में आता है, तब कर्त्ता के क्रिया द्वारा अनभिहित (=अकथित) होने से उसमें तृतीया विभक्ति होती है। जैसे—शेते देवदत्तः, भाव में—शय्यते देवदत्तेन।

भाव=धात्वर्थ एक ही होता है, इस कारण उस में एकवचन ही होता है। इसी प्रकार युष्मद् अस्मद् का क्रिया के साथ सामानाधिकरण्य न होने से **शेषे प्रथमः** (१।४।१०७) से प्रथम पुरुष ही होता है। इस प्रकार भाव में लकार का प्रयोग होने पर केवल प्रथम पुरुष का एकवचन ही प्रयुक्त होता है।

भू सत्तायाम्—इससे भाव में लट् आकर=भू लट्—

भावकर्मणोः (१।३।१३)—भाव और कर्म में धातु से आत्मनेपद होता है। इससे आत्मनेपद का विधान होने पर प्रथम पुरुष का एकवचन 'त' आया। टित् लकारों में **टित आत्मनेपदानां टेरे** (३।४।७९) से एत्व होकर=भू ते—

सार्वधातुके यक् (३।१।६७)—अनु०—भावकर्मणोः। अर्थ—भाव और कर्म में सार्वधातुक प्रत्यय परे होने पर धातु से यक् प्रत्यय होता है। यक् के कित् होने से गुण नहीं होता=भूयते। लिट् में—बभूवे[1]। लुट्—भू तास् त, इस अवस्था में—

स्यसिच्सीयुट्तासिषु भावकर्मणोरुपदेशेऽज्झनग्रहदृशां वा चिण्वद् इट् च (६।४।६२)—उपदेश में जो अजन्त धातु, हन ग्रह और दृश धातुओं को स्य सिच् सीयुट् तास्[2] परे रहने पर भावकर्म में विकल्प से चिण्वत् कार्य होता है, और इट् का आगम होता है। इस सूत्र से चिण्वत् कार्य का अतिदेश करने से चिण् में जैसे णित् को मानकर **अचोऽञ्णिति, अत उपधायाः** (७।२।११५, ११६) सूत्रों से वृद्धि हो जाती है, उसी प्रकार स्य आदि के परे भी हो जाती है। इट् आगम का प्रत्यक्ष लाभ अनिट् धातुओं में दिखाई

---

१. कई आचार्य भवतेरः (७।४।७३) में 'भवति' प्रयोग को कर्ता में मानते हैं। उनके मत में अभ्यास को अकार आदेश कर्ता में ही होता है। अतः उनके मत में भावकर्म में बुभूवे रूप बनता है।

२. अर्थात्—लुट् लृट् आशीर्लिङ् लुङ् और लृङ् में।

देता है। यह इट् का आगम चिण्वद्भावपक्ष में ही होता है। अतः अनिट् धातुओं में प्रत्यक्षतः दो-दो रूप बनते हैं। यथा—'नी' से चिण्वद्भाव में 'नै इट् तास् डा (त)' तास् की टि का लोप और आयादेश होकर—नायिता। चिण्वद्भाव के अभाव में इट् भी नहीं होता—नेता। इसी प्रकार नायिष्यते-नेष्यते; नायिषीष्ट-नेषीष्ट आदि समझें।

भू सेट् धातु है। अतः चिण्वद्भाव पक्ष में स्यसिच् (६।४।६२) सूत्र से इट् हो जाने पर तास् आदि के वलादि न रहने पर आर्धधातुकस्येड् वलादेः (७।२।३५) से इट् नहीं होता। वृद्धि इट् और आवादेश होकर—'भाविता'। चिण्वद्भाव के अभाव पक्ष में—'भविता,' इस प्रकार दो-दो रूप बनते हैं। लृट्—भाविष्यते-भविष्यते। लोट्—भूयताम्, लङ्—अभूयत। विधिलिङ्—भूयेत। आशिर्लिङ्—भाविषीष्ट-भविषीष्ट। लुङ्—भू त—

चिण् भावकर्मणोः (३।१।६६)—भावकर्म में 'त' परे रहने पर च्लि के स्थान में चिण् आदेश होता है। भू चिण् त—भौ इ त—भाव् इ त इस अवस्था में—

चिणो लुक् (६।४।१०४)—चिण् से परे प्रत्यय का लुक् होता है। इससे 'त' का लोप और अट् होकर—अभावि। लृङ्—अभाविष्यत-अभविष्यत।

एध वृद्धौ—एध्यते; एधाञ्चक्रे, एधामासे, एधाम्बभूवे; एधिता; ऐधिष्यते; एध्यताम्, ऐध्यत, एध्येत, एधिषीष्ट, ऐधि, ऐधिष्यत।

णीञ् प्रापणे—नीयते; निन्ये; नायिता-नेता; नायिष्यते-नेष्यते; नीयताम्; अनीयत; नीयेत; नायिषीष्ट-नेषीष्ट; अनायि; अनायिष्यत-अनेष्यत।

डुकृञ् करणे—कृ यक् ते—रिङ् शयग्लिङ्क्षु (७।४।२८) से यक् परे रिङ् आदेश होकर—क्रियते; चक्रे; कारिता-कर्ता; कारिष्यते-करिष्यते; क्रियताम्, अक्रियत, क्रियेत; कारिषीष्ट-कृषीष्ट[1]; अकारि; अकारिष्यत-अकरिष्यत।

शीङ् शये—शी यक् त, इस अवस्था में—

अयङ् यि क्ङिति (७।४।२२)—कित् ङित् यकारादि प्रत्यय परे रहने

---

१. उश्च (१।२।१२) से आशीर्लिङ् कित् होता है।

पर शीङ् को अयङ् आदेश होता है। 'य' में अकार उच्चारणार्थ है। ङित् होने से अन्त्यादेश=ई के स्थान पर होकर—शय् य ते=शय्यते; शिश्ये; शायिता-शयिता; शायिष्यते-शयिष्यते; शय्यताम्; अशय्यत; शय्येत; शायिषीष्ट-शयिषीष्ट; अशायि; अशायिष्यत-अशयिष्यत।

ञिष्वप् शये—स्वप् य ते, इस अवस्था में—

वचिस्वपियजादीनां किति (६।१।१५)—वचि स्वपि और यजादि गण-पठित धातुओं को कित् परे सम्प्रसारण (=यण् के स्थान में इक्) होता है। स्वप्=स् उ अ प् य ते,पुनः **सम्प्रसारणाच्च** (६।१।१०४) से 'अ' को पूर्वरूप होकर=सुप्यते। सुषुपे, **वचिस्वपियजादीनां किति** (६।१।१५) से सम्प्रसारण। आगे—स्वप्ता, स्वप्स्यते, सुप्यताम्, असुप्यत, सुप्येत, स्वप्सीष्ट, अस्वापि, अस्वप्स्यत। अजन्त न होने के कारण इस में चिण्वद्भाव नहीं होगा।

इसी प्रकार भाव-प्रक्रिया में अन्य अकर्मक धातुओं के रूप जानने चाहियें॥ **इति भाव-प्रक्रिया**॥

(२) कर्म-प्रक्रिया

कर्म-प्रक्रिया में सकर्मक धातुओं से जब लकार आता है, तब कर्म के अभिहित होने पर द्वितीया न होकर प्रथमा विभक्ति होती है, और कर्ता के अनभिहित होने से उसमें तृतीया। जैसे—पच्यते ओदनो देवदत्तेन, गम्यते ग्रामो देवदत्तेन।

कर्म के अनेक होने से कर्म-प्रक्रिया में एकवचन, द्विवचन बहुवचन सभी होते हैं। यथा—गम्यते ग्रामः, गम्येते ग्रामौ, गम्यन्ते ग्रामाः[1]।

जो कार्य भाव-प्रक्रिया में दर्शाया है, वह सभी कार्य कर्म-प्रक्रिया में भी होता है। केवल द्विवचन और बहुवचनों का प्रयोग अधिक है। ऊपर गिनाई गई अकर्मक धातुएं भी जब उपसर्ग के योग से सकर्मक बन जाती हैं, तब

१. इसी प्रकार जब युष्मद् अस्मद् कर्म हों, तो मध्यम और उत्तम पुरुष भी होते हैं। यथा—देवदत्तः त्वाम् युवाम् युष्मान् वा पश्यति; माम् आवाम् अस्मान् वा पश्यति में यथाक्रम—त्वं दृश्यसे, युवां दृश्येथे, यूयं दृश्यध्वे; अहं दृश्ये, आवां दृश्यावहे, वयं दृश्यामहे। इस प्रकार युष्मद् अस्मद् कुछ ही धातुओं के कर्म बनते हैं। अतः कर्म में प्रायः प्रथम पुरुष ही प्रयुक्त होता है।

उनके भी कर्म-प्रक्रिया में रूप चलते हैं। यथा—'भू' धातु सत्ता अर्थ में अकर्मक है, परन्तु अनु परा आदि के योग में सकर्मक बन जाती है। जैसे—अनुभवति सुखं देवदत्तः, पराभवति सेनां देवदत्तः। इनके कर्म में रूप होंगे—अनुभूयते सुखं देवदत्तेन, पराभूयते सेना देवदत्तेन।

सोपसर्ग धातुओं से अट् आट् का आगम उपसर्ग के पश्चात् और धातु से पूर्व होता है। इससे—अन्वभूयत, अन्वभावि, अन्वभविष्यत आदि रूप होते हैं।

लुङ् लकार में द्विवचन और बहुवचन में सिच् को (एकवचन में चिण् होता है) चिण्वद्भाव और इडागम का विकल्प से विधान होने से दो रूप बनते हैं—अन्वभाविषाताम्, अन्वभविषाताम्; अन्वभाविषत, अन्वभविषत।

इस प्रकार उपरिलिखित धातुओं के भाव में दर्शाये एकवचन के रूपों के समान ही द्विवचन और बहुवचन में भी रूप जान लेने चाहियें। नीचे हम दो तीन विशिष्ट धातुओं के कर्म-प्रक्रिया में रूप दर्शाते हैं—

डुपचष् पाके—पच्यते, पच्येते, पच्यन्ते। पेचे, पेचाते, पेचिरे। लुट्—अजन्त न होने से चिण्वद्भाव तथा इट् नहीं होगा। अतः—पक्ता, पक्तारौ, पक्तारः। लृट्—पक्ष्यते, पक्ष्येते, पक्ष्यन्ते। लोट्—पच्यताम्, पच्येताम्, पच्यन्ताम्। लङ्—अपच्यत, अपच्येताम्, अपच्यन्त। विधिलिङ्—पच्येत, पच्येयाताम्, पच्येरन्। आशीर्लिङ्—पक्षीष्ट, पक्षीयास्ताम्, पक्षीरन्। लुङ्—एकवचन में चिण्, द्विवचन और बहुवचन में सिच्—अपाचि, अपक्षाताम् अपक्षत। लृङ्—अपक्ष्यत, अपक्ष्येताम्, अपक्ष्यन्त।

यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु; डुवप बीजसंताने छेदने च; वच परिभाषणे आदि में यक् परे **वचिस्वपियजादीनां किति** (६।१।१५) से सम्प्रसारण होकर—इज्यते, उप्यते, उच्यते आदि रूप बनते हैं। **ग्रह ग्रहणे, प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्** आदि में **ग्रहिज्यावयिव्यधिवष्टिविचतिवृश्चतिपृच्छतिभृज्जतीनां ङिति च** (६।१।१६) से सम्प्रसारण होकर—गृह्यते, पृच्छ्यते आदि रूप बनते हैं। लिट् में भी लिट् के **असंयोगाल्लिट् कित्** (१।२।५) से कित् होने से यजादि को सम्प्रसारण हो जाता है—ईजे, ईजाते, ईजिरे। इसी प्रकार—ऊपे, ऊचे, जगृहे, पप्रच्छे आदि रूप जानने चाहियें।

गम्लृ गतौ—गम्यते, जग्मे, गन्ता, गंस्यते, गम्यताम्, अगम्यत, गम्येत। आशिषि लिङ् में—सीयुट् सुट् त—

वा गमः (१।२।१३)—गम धातु से परे आत्मनेपद में लिङ् सिच् विकल्प से कित् होते हैं। इससे जब कित् होता है, तब—

अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनाम् अनुनासिकलोपो झलि क्ङिति (६।४।३७)—झलादि कित् ङित् परे अनुदात्तोपदेश, वन, तथा तनादि-गण की धातुओं के अनुनासिक का लोप होता है। अकित् पक्ष में अनुनासिक का लोप नहीं होता। गंसीष्ट-गसीष्ट, गंसीयास्ताम्-गसीयास्ताम्। लुङ्—अगामि, अगंसाताम् अगसाताम्। अगंस्यत।

हन हिंसागत्योः—हन्यते। जघ्ने। तास् आदि में—**स्यसिच्०** (६।४।६२) से चिण्वद्भाव और इट् विकल्प से होता है। चिण्वद् भावपक्ष में वृद्धि हो **हन्तेर्ज्णिन्नेषु** (७।३।५४) से कुत्व होकर—घानिता-हन्ता; घानिष्यते-हनिष्यते। हन्यताम्; अहन्यत; हन्येत; घानिषीष्ट-हंसीष्ट; अघानि। द्विवचन बहुवचन में सिच् के चिण्वद् अभाव पक्ष में—**हनः सिच्** (१।२।१४) से सिच् के कित् होने से न लोप होता है=अघानिषाताम्-अहसाताम्, अघानिषत-अहसत॥ **इति कर्म-प्रक्रिया**॥

इति भाव-कर्म-प्रक्रिया॥

प्रथम परिशिष्ट

अस्मिन् भागे व्याख्यातानामुद्धृतानां च सूत्राणाम्
वर्णानुक्रमेण सूची-पत्रम्

प्रथमं परिशिष्ट

अस्मिन् भागे व्याख्यातानामुद्धृतानां च सूत्राणाम्

वर्णानुक्रमेण सूची-पत्रम्

द्वितीय परिशिष्ट

व्याख्यात-परिभाषा-सूची

तृतीय परिशिष्ट

व्याख्यात-लिङ्गानुशासन-सूत्र-सूची

चतुर्थ परिशिष्ट

व्याख्यात-धातु-सूची

पञ्चम परिशिष्ट.

व्याख्यात-नाम-सूची

रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा

प्रकाशित वा प्रसारित प्रामाणिक ग्रन्थ

शिक्षा-निरुक्त-व्याकरण-ज्योतिष-छन्दःशास्त्र विषयक ग्रन्थ

१. **वर्णोच्चारण-शिक्षा**—ऋषि दयानन्द कृत हिन्दी व्याख्या। इसमें प्रत्येक वर्ण के शुद्ध उच्चारण के लिए स्थान और प्रयत्नादि का विधान है। ३.००

२. **शिक्षासूत्राणि**—आपिशल-पाणिनीय-चान्द्र शिक्षा-सूत्र। १०.००

३. **शिक्षा-शास्त्रम्**—(संस्कृत)—जगदीशाचार्य। १५.००

४. **अथर्व शिक्षाशास्त्रम्**— ,, १५.००

५. **शिक्षा-महाभाष्यम्**— ,, अजिल्द १२.०० सजिल्द १५.००

६. **वृद्धशिक्षा-शास्त्रम्**—(संस्कृत) जगदीशाचार्य। अजिल्द २५.०० सजिल्द ३०.००

७. **हमारी वर्णमाला**—(हिन्दी) जगदीशाचार्य ५.००

८. **माहेश्वर-व्याकरणम्**—जगदीशाचार्य (छात्रों के लिये) ३०.००

९. **अष्टाध्यायी-महापरिष्कारः**—(मूलपाठ) विस्तृत विवरण सहित, जगदीशाचार्य। (विद्वानों व पुस्तकालय हेतु)। ५१.००

१०. **काशिका-महापरिष्कारः**—जगदीशाचार्य। प्रथमखण्ड ७०.००

११. **निघण्टु-निर्वचनम्**—देवराजयज्वाकृत निघण्टु-व्याख्या। सम्पादक—डॉ० सुद्युम्नाचार्य। संशोधक—विजयपाल विद्यावारिधि। १५०.००

१२. **निरुक्त-श्लोकवार्त्तिकम्**—केरलदेशीय नीलकण्ठ गार्ग्य विरचित। एकमात्र मलयालम लिपि में ताडपत्र पर लिखित दुर्लभ प्रति के आधार पर मुद्रित। आरम्भ में उपोद्घातरूप में निरुक्त-शास्त्र विषयक संक्षिप्त ऐतिह्य दिया गया है (संस्कृत) सम्पादक—डा० विजयपाल विद्यावारिधि। उत्तम कागज, शुद्ध छपाई तथा सुन्दर जिल्द सहित। १५०.००

१३. **निरुक्त-समुच्चय**—आचार्य वररुचि विरचित (संस्कृत)। इसमें चार कल्पों में १०० मन्त्रों की नैरुक्तप्रक्रियानुसार व्याख्या की गई है। सम्पादक—युधिष्ठिर मीमांसक। ३०.००

१४. **अष्टाध्यायी**—(मूल) शुद्ध संस्करण। १०.००

१५. अष्टाध्यायी-भाष्य—(संस्कृत-हिन्दी)—श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु कृत। प्रथम भाग—८०.०० द्वितीय भाग ५०.०० तृतीय भाग ७०.००

१६. काशिका—वामनजयादित्य-रचित प्रामाणिक अष्टाध्यायी व्याख्या। नवीन संशोधित शुद्धतम संस्करण। सम्पादक—डा० विजयपाल विद्यावारिधि। साधारण सं० ८०.००, पुस्तकालय सं० ९५.००

१७. धातुपाठ—धात्वादिसूची सहित, सुन्दर शुद्ध संस्करण। ८.००

१८. क्षीरतरङ्गिणी—क्षीरस्वामी कृत। पाणिनीय-धातुपाठ की सबसे प्राचीन एवं प्रामाणिक व्याख्या। सजिल्द ८०.००

१९. धातुप्रदीप—मैत्रेयरक्षित विरचित पाणिनीय धातुपाठ की व्याख्या। सजिल्द ६०.००

२०. वामनीयं लिङ्गानुशासनम्—स्वोपज्ञव्याख्यासहितम्। १५.००

२१. संस्कृत पठन-पाठन की अनुभूत सरलतम विधि—लेखक—पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु। प्रथम भाग ३०.००, द्वितीय भाग ५०.००

२२. The Tested Easiest Method of Learning and Teaching Sanskrit (First Book)—यह पुस्तक श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु कृत 'संस्कृत पठन-पाठन की अनुभूत सरलतम विधि' भाग एक का अंग्रेजी अनुवाद है। अंग्रेजी भाषा के माध्यम से पाणिनीय व्याकरण में प्रवेश करने वालों के लिये यह अधिकारिक पुस्तक है। कागज और छपाई सुन्दर। सजिल्द ५०-००

२३. महाभाष्य—हिन्दी व्याख्या (द्वितीय अध्याय पर्यन्त) व्याख्याकार—पं० युधिष्ठिर मीमांसक। प्रथम भाग-प्रथम खण्ड ६५-००, द्वितीय खण्ड ६०-०० द्वितीय भाग ७५-०० तृतीय भाग ७५-००

२४. उणादिकोष—पञ्चपादी उणादिसूत्रों की ऋषि दयानन्द सरस्वती कृत व्याख्या तथा पं० युधिष्ठिर मीमांसक कृत टिप्पणियों एवं १२ सूचियों सहित। २५.००

२५. दशपाद्युणादिवृत्ति संग्रह—प्रथम भाग में अतिप्राचीन माणिक्य देव विरचित वृत्ति है। इस पर व्याकरणादि शास्त्रों से सम्बद्ध शतशः टिप्पणियाँ तथा अन्त में सूत्र, प्रत्यय तथा शब्दसूची दी है। सम्पादक—पं० युधिष्ठिर मीमांसक, चन्द्रदत्त शर्मा। ६०.००

२६. दशपाद्युणादिवृत्ति संग्रह—द्वितीय भाग में दो अज्ञातनामा वृत्तिकारों की वृत्तियाँ तथा विट्ठलार्यकृत वृत्ति दी गई है। सम्पादक—श्री चन्द्रदत्त शर्मा। ६०.००

२७. दैवम् पुरुषकारवार्त्तिकोपेतम्—लीलाशुकमुनि कृत—इसमें पाणिनीय धातुपाठ में जो धातु अनेक गणों में पढ़ी गई हैं, उन पर विचार किया गया है। १५.००

२८. भागवृत्तिसंकलनम्—अष्टाध्यायी की प्राचीन अनुपलब्धवृत्ति के ग्रन्थान्तरों में उद्धृत २०० उद्धरणों का संकलन किया गया है। काशिका के अनन्तर यही वृत्ति प्रामाणिक मानी गई है। २०.००

२९. काशकृत्स्न-व्याकरणम्—पाणिनि से प्राचीन काशकृत्स्न व्याकरण के उपलब्ध १४३ सूत्रों की संस्कृत में विस्तृत व्याख्या। सम्पादक एवं व्याख्याता—पं० युधिष्ठिर मीमांसक। २०.००

३०. शब्दरूपावली—बिना रटे शब्द रूपों का ज्ञान कराने वाली। लेखक—युधिष्ठिर मीमांसक। ८.००

३१. गणरत्नावली—(संस्कृत) यज्ञेश्वरभट्टकृत पाणिनीय गणपाठ की व्याख्या। सम्पादक—चन्द्रदत्त शर्मा। ७५.००

३२. संस्कृत-धातुकोश—पाणिनीय धातुओं का हिन्दी में अर्थ निर्देश। सम्पादक—युधिष्ठिर मीमांसक। २०.००

३३. अष्टाध्यायीशुक्लयजुःप्रातिशाख्ययोर्मतविमर्शः—डा० विजयपाल विरचित पी० एच० डी० का महत्त्वपूर्ण शोध-प्रबन्ध (संस्कृत)। सुन्दर छपाई, उत्तम कागज, बढ़िया जिल्द सहित। ५०.००

३४. महेश्वर-प्राप्त अष्टाध्यायी सूत्रक्रम—लेखक—जगदीशाचार्य। ३०.००

३५. पिङ्गलनागछन्दोविचिति-भाष्यम्—यादवप्रकाश द्वारा विरचित भाष्य। इसकी प्रमुख विशेषता है कि इसमें छन्दों के जो उदाहरण दिये हैं वे अश्लीलता के दोष से रहित हैं। अतः गुरुकुलों के ब्रह्मचारियों के लिए यह पुस्तक परम उपयोगी है। ५०.००

३६. ध्यानयोग-प्रकाश—स्वामी दयानन्द सरस्वती के योग विद्या के शिष्य स्वामी लक्ष्मणानन्द कृत। ३०.००

पुस्तक प्राप्ति स्थान—

रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़, (सोनीपत-हरियाणा)

रामलाल कपूर एण्ड सन्स, २५६६, नई सड़क दिल्ली